Contribution of Jainas to Sanskrit and Prakrit Literature

Dr. K. R. Chandra Commemoration Volume

Editors
Vasantkumar Bhatt / Jitendra Shah / Dinanath Sharma

Shreshthi Kasturbhai Lalbhai Smarak Nidhi

Contribution of Jainas to Sanskrit and Prakrit Literature

Dr. K. R. Chandra Commemoration Volume

SHRESHTHI KASTURBHAI LALBHAI
COMMEMORATION RESEARCH - ARTICLES SERIES
VOLUME 7

General Editor
Jitendra B. Shah

Contribution of Jainas to Sanskrit and Prakrit Literature

Dr. K. R. Chandra Commemoration Volume

Editors
Vasantkumar Bhatt
Jitendra B. Shah
Dinanath Sharma

Shreshthi Kasturbhai Lalbhai Smarak Nidhi
C/o. Sharadaben Chimanbhai Educational Research Centre
303, Balleshwar Square,
Opp. Iscon Mandir, Sarkhej-Gandhinagar Highway,
Ahmedabad-380 015 (Gujarat State) INDIA

Contribution of Jainas to Sanskrit and Prakrit Literature

Dr. K. R. Chandra Commemoration Volume

Vasantkumar Bhatt

Jitendra B. Shah

Dinanath Sharma

Published by

J. B. Shah

Shreshthi Kasturbhai Lalbhai Smarak Nidhi

C/o. Sharadaben Chimanbhai Educational Research Centre

303, Balleshwar Square,

Opp. Iscon Mandir, Sarkhej-Gandhinagar Highway,

Ahmedabad-380 015 (Gujarat State) INDIA

Phone : 079-26860280

First Edition : 2008

Copies : 300

Price : Rs. 600/-

Preface

The idea of publishing the Felicitation volume for Dr. K. R. Chandra came into our mind in March 1998. We had a number of problems like dearth of resources, men power etc. to meet the needs of the mission. But the sublime personality and scholarship in Prakrit of Dr. K. R. Chandra inspired us to prepare this volume. It was natural for him to be such a great scholar for, he was ably boosted by his teacher Prof. Shri Hiralal Jain. His academic career started from the Nagpur Mahavidyalaya as a lecturer. But soon he was invited by Pt. Dalsukhbhai Malvania in the L. D. Instt. of Indology as a research officer. When the Gujarat University introduced Prakrit and Pali department in the School of Languages, he joined it as the head.

Despite doing Ph. D. on Critical Study of Paumacariyam of Vimalasuri, a challenging job, he brought about a revolution in the field of editing Jain canonical texts. He noticed that the language spoken at the time of Lord Mahavir and Lord Buddha cannot appear to be later than the languages of Tripitakas and Ashokan inscriptions. Pali, the language of Bauddha Tripitakas, is contemporary to Ardhamagadhi and anterior to the Ashokan inscriptions. But if we observe the Ardhamagadhi texts edited so far, they do not seem to be as old as the Pali and the language of Ashokan inscriptions.

Dr. Chandra noticed the deviation of the Ardhamagadhi from its original form. He prepared cards of all words of the Acharanga, Ashokan inscriptions, Isibhasiyaim, Sutrakritanga and other treatises of the same age. He, then, compared the words of Ardhamagadhi with others. He counted the percentage of droppings of medial non-aspirate consonants of all these and found that the dropping was more than 60% in the Ardhamagadhi texts and almost nil in other texts. Apart from this, he found other changes which led him to editing the texts again from linguistic point of view. While doing so, he consulted many scholars of India and abroad. Everybody recognised his endeavour and supported him normally.

As we know that the Prakrit languages are known for changes in their vowels, consonants and suffixes. These make them different from Sanskrit. The more they show dropping of medial non-aspirate consonants, the posterior age, they show. This was the key point Dr. Chandra caught and made it the basis of his study of the Ardhamagadhi. Fortunately, there are many variant readings mentioned under footnotes of the published Agamas, which are retaining their

medial non-aspirate consonants. They are more archaic from this point of view. Dr. Chandra picked up some such forms and selected for his edition. Some other forms like infinitive, absolutive, past tense, present participles etc. were also made subject of his study.

These were the abilities that Dr. Chandra deserved a felicitation volume. It was on the verge of completion but all of a sudden his heart failed and he passed away. So this volume is now converted to Commemoration volume. We are extremely aggrieved with this event, but such events are beyond the reach of human being.

The articles of this volume are mainly oriented to the contribution of Jainas to Sanskrit literature, for Jainas have written a good deal of literature covering various subjects.

In preparing this volume many agencies and personalities have been instrumental, without whose help it could not have been possible for us to prepare this volume. We express our gratitude to all those scholars who have contributed their scholarly articles. We are thankful to Shri Chandmalji Shah, Surat who donated Rs. 5001/-. Shri S. L. Jain, Ahmedabad, Shri Rajendra Kumar, Chennai, Shri Babulal, Chennai, Shri C. B. Kothari, Chennai, Shri Kamal Modi, Shri Ramanlal, Chennai, Shri Pravin Kumar, Chennai, Shri C. R. Jain, Chennai, Shri Ramesh Bhandari, Chennai, Shri Champalal Jain, Chennai deserve our vote of thanks who donated Rs. 2000/- each in this expedition. Our friends Prof. Kanajibhai Patel, Shri Arjun Singh, Dr. Jitendra B. Shah, Smt. Vyas, Datta, Smt. Hetal Pandya, Dr. Jagruti Pandya, Smt. Sangita P. Desai, Dr. Parul Mankad, Dr. Geeta Mehta, Bharati Shelat contributed Rs. 500/- each. Smt. Aruna Lattha, Dr. Priti Mehta and Dr. Shobhana Shah contributed Rs. 251/-, 201/- and 100/- respectively. We, on behalf of the felicitation committee express our gratitude to them all.

Vasant Bhatt
Dinanath Sharma

□□□

Contribution of Jainas to Sanskrit and Prakrit Literature

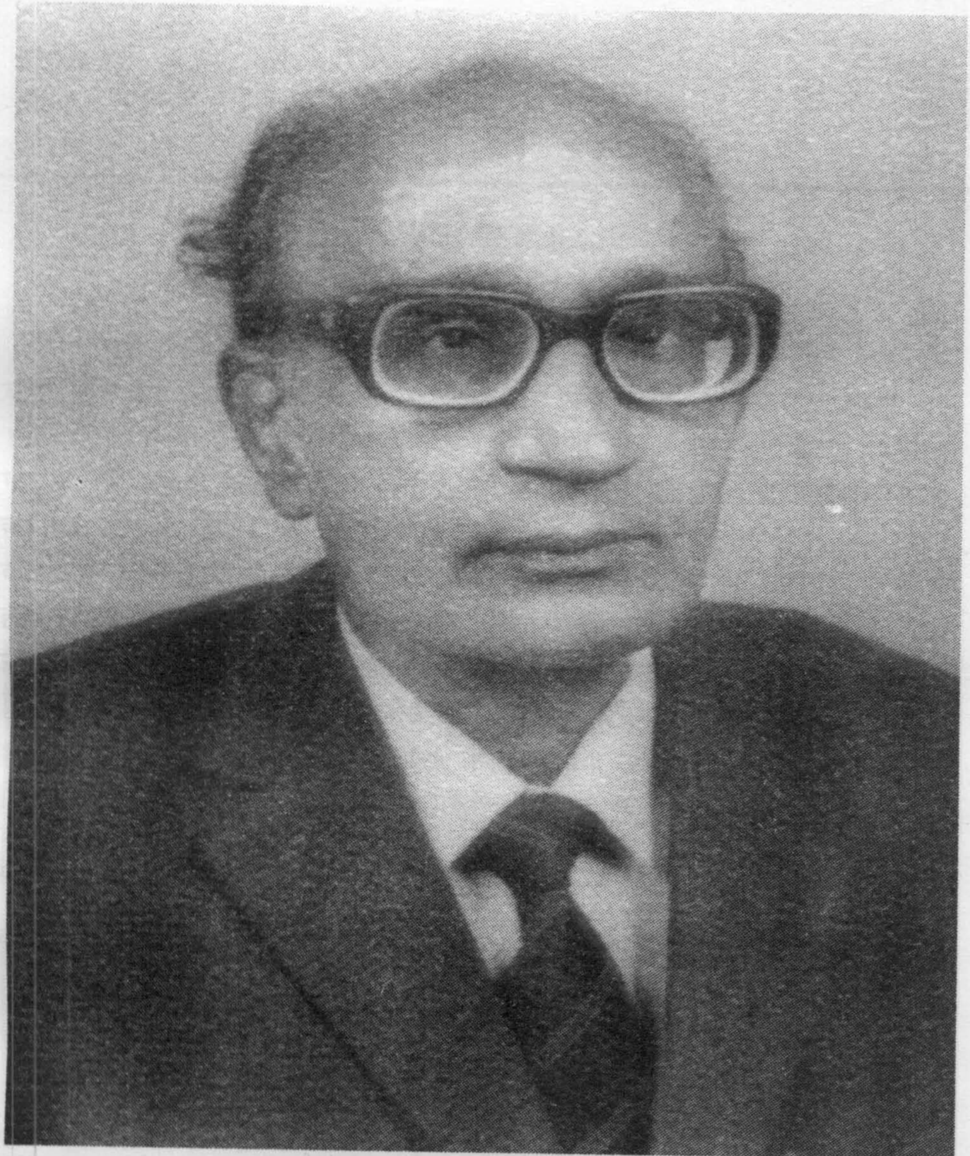
K. R. Chandra Memorial – Volume

List of Articles

(English – Section)

(हिन्दी – विभाग)

□□□



Prof. K.R. Chandra
(1931 - 2002)

श्रद्धाञ्जलि

डॉ० के० आर० चन्द्रा के परिचय में जब हम आये हमें जैन धर्म की बहुत सी बातें जानने को मिलीं। उनसे यह पता चला कि प्राकृत भाषा का भारतीय भाषाओं में क्या महत्त्व है। उनकी प्रेरणा से प्राकृत जैन विद्या विकास फउन्ड की रचना की गयी ताकि प्राकृत भाषा की अधिक से अधिक सेवा की जा सके। मीटिंग के दौरान आप से प्राकृत भाषा और जैन धर्म और दर्शन की अनेक बातें जानने मिली इसके लिए हम उनके हृदय से आभारी हैं। वे हमारे बीच नहीं हैं, उनकी कमी हमको हमेशा महसूस होती रहेगी। उन्होंने जिस ज्ञान का बीज बोया है और वह वृक्ष के रूप में आज जो दिखायी पड़ रहा है, ऐसे ही सुरक्षित बना रहे और अधिक से अधिक फलताफूलता रहे इसी शुभकामना के साथ हम यह कामना करते हैं कि डॉ० चन्द्रा की आत्मा को चिरशान्ति मिले, हम पुनः उन्हें श्रद्धाञ्जलि अर्पित करते हैं।

बख्तावरमल बालर — **नेमिचन्द बागरेचा**

वंशराज भंसाली — **नारायण चंद महेता**

सुरेन्द्र मोदी

ट्रस्टीगण

प्राकृत जैनविद्याविकासफंड

डॉ० के० आर० [ऋषभ] चन्द्र की संक्षिप्त जीवनी और उनकी विद्याकीय प्रगति

विश्व एक ऐसा रंगमंच है, जहाँ प्रत्येक व्यक्ति के जीवन के अभिनय का पराक्षेप हुआ करता है। शेष रह जाते हैं—जीवन के खट्टे-मीठे संस्मरण। मृत्यु एक जीवन का अन्त है, तो दूसरे का आदि बिन्दु। इसमें घटित अनेक घटनायें तो सामान्य हुआ करती हैं, लेकिन कुछ व्यक्तिओं की कार्यशैली और जीवनादर्श ऐसे होते हैं कि वे युगों तक याद किये जाते हैं। ऐसे व्यक्तियों में एक थे डॉ० के० आर० चन्द्र। परिवर्तन प्रकृति का नियम है। मानव जीवन में इसकी परिणति जरा-वृद्धावस्था और मृत्यु की क्रमबद्ध व्यवस्था के अधीन सहज एवं स्वाभाविक रूप से होती है। यद्यपि जन्म लेनेवाले की मृत्यु स्वाभाविक है, किन्तु डॉ० के० आर० चन्द्राजी का निधन सबको व्यथित कर गया। आज वे हमारे बीच नहीं है, लेकिन उनके द्वारा किये गये कार्य और उनके जीवनादर्श हमारे समक्ष उनके सूक्ष्म शरीर के रूप में विद्यमान हैं। विद्या के क्षेत्र में उनके द्वारा की गयी सेवाओं को निश्चित ही युगों तक याद किया जायेगा।

गुणग्राह्यता तथा सत्यान्वेषी गहन साहित्योपासना इन दोनों दृष्टियों से डॉ० के० आर० चन्द्रा का जीवन एक आदर्श विद्यापुरुष का जीवन रहा है। सर्वांगीण अध्ययन एवं संशोधनात्मक विद्योपासना के प्रति निष्ठा का एक अनूठा आदर्श उन्होंने उपस्थित किया है।

राजस्थान में जन्मे, पर प्रथम कार्यक्षेत्र बना चेन्नाई (मद्रास, तामिलनाडु)। नागपुर (विदर्भ) एवं मुजफ्फरपुर (बिहार) में जैनविद्या का अध्ययन किया और कर्मभूमि बनी अहमदाबाद (गुजरात)। इस प्रकार विविध प्रदेशों में प्रवासी रहे डॉ० चन्द्रा विविध प्राकृत भाषाओं के संशोधक बनें यह कोई आश्चर्य की बात नहीं है। उनके नाम पर भी मद्रासी प्रभाव पड़ा है। उनका मूल नाम रिखबचंद (ऋषभचन्द्र) कस्तुरचंदजी जैन था उससे हुआ के० ऋषभचन्द्र जैन और बाद में हुआ डॉ० के० आर० चन्द्र, यह है उनका गतिशील अखिल भारतीय परिचय।

राजस्थान के सिरोही जिले की शिवगंज तहसील में पालडी नाम के गाँव में श्रेष्ठी श्री कस्तुरचंदजी पन्नाजी जैन के गृह में २८ जून १९३१ को डॉ० चन्द्रा का जन्म हुआ। बचपन का नाम था रिखबचंद जैन। जब वे चार वर्ष के थे तभी उनकी पूज्य माताजी का देहान्त हो गया। एक बड़ा भाई सेसमल था वह भी बचपन में ही चल बसा। ऐसी अवस्था में ऋषभचन्द्र का लालन-पालन पिताजी के हाथ से उनकी एक मात्र संतान के रूप में हुआ।

गाँव की ही शाला में प्राथमिक शिक्षण प्राप्त करके कक्षा ८ तक शिवगंज की सरकारी माध्यमिक शाला में और हाईस्कूल का अध्ययन सिरोही की कॉल्विन हाईस्कूल में किया और अजमेर बोर्ड से मेट्रिक की परीक्षा १९४७ में पास की। इन्टरमीडिएट (कक्षा ११ और १२) की परीक्षा प्राईवेट अध्ययन कर अजमेर बोर्ड से १९४९ में पास की। बी० ए० का अध्ययन महाराणा भूपाल कॉलेज, उदयपुर में किया और राजस्थान विश्वविद्यालय से बी. ए. की उपाधि प्राप्त की।

इसके पश्चात् उनके जीवन में एक नया मोड़ आया । बी० ए० करने के बाद वे मद्रास गये और वहाँ पर लॉ कॉलेज में भर्ती हुए । उस समय उनके ही गोत्र के अनुभवी और वृद्ध भ्राता श्री ऋषभदासजी प्राग्वाट् जो खमीजी के नाम से प्रख्यात थे और अत्यंत धार्मिक वृत्ति के थे उनके साथ रहे । उनके साथ रहने के कारण उनके पास जैन धर्म का जो विपुल साहित्य था उसका निरीक्षण-परीक्षण करने से उनके हृदय में एक प्रबल भावना का उदय हुआ कि जैन धर्म के मूल ग्रंथों का अध्ययन करना चाहिए और वह भी व्यवस्थित रूप में । इस कारण से उन्होंने लॉ कॉलेज का त्याग कर दिया । फिर जैन साहित्य के अध्ययन के लिए वयोवृद्ध भ्राता ऋषभदासजी ने नागपुर के जैन विद्या के प्रख्यात विद्वान् डॉ० हीरालालजी जैन का संपर्क किया । उनकी नेक सलाह के अनुसार पहले एक वर्ष तक मद्रास में ही पंडित जी के पास संस्कृत का अध्ययन किया और अपनी ओर से प्राकृत और पालि भाषा का भी प्रारंभिक अध्ययन करते रहे । तत्पश्चात् नागपुर की मॉरिस कॉलेज में डॉ० हीरालालजी के विद्यार्थी के रूप में एम० ए० का अध्ययन करके ई० सन् १९५४ में नागपुर विश्वविद्यालय के प्रथम दर्जे में एम० ए० की उपाधि प्राप्त की ।

पुनः मद्रास आकर अध्यापन का कार्य किया और वहाँ रहते हुए १९५५ और १९५६ में क्रमशः राजस्थान विश्वविद्यालय से संस्कृत और हिन्दी भाषा में बी० ए० की परीक्षा पुनः पास की । तत्पश्चात् मुजफ्फरपुर (बिहार) में नव-स्थापित "प्राकृत, जैन, अहिंसा शोधपीठ" में १९५७ में पीएच० डी० के अध्ययन के लिए भर्ती हुए । उस संस्था के प्रथम निदेशक डॉ० हीरालालजी जैन के ही मार्गदर्शन में प्राचीनतम जैन रामकथा ग्रंथ यानी विमलसूरि के 'पउमचरियं' नामक प्राकृत ग्रंथ (महाकाव्य) का संशोधनात्मक, तुलनात्मक एवं सांस्कृतिक अध्ययन करके १९६२ में अपना महानिबन्ध प्रस्तुत किया तथा १९६३ में बिहार विश्वविद्यालय से उन्होंने डॉक्टरेट की उपाधि प्राप्त की ।

पुनः उनके जीवन में एक नया मोड आया जो उन्हें वर्तमान पद तक पहुँचाने में सहायक बना । रीडर तक पहुँचे वे अपनी विद्या-साधना और पुरुषार्थ के आभारी है । ई० सन् १९५९ में अहमदाबाद में पूज्य आगम प्रभाकर मुनि श्री पुण्यविजयजी की प्रेरणा से और शेठ श्री कस्तुरभाई लालभाई के आर्थिक सहयोग से "श्री लालभाई दलपतभाई भारतीय संस्कृति विद्यामंदिर" की स्थापना की गई थी और उसके प्रथम निदेशक पं० श्री दलसुखभाई मालवणिया ने उनको एक संशोधन अधिकारी के रूप में आमंत्रित किया और डॉक्टरेट का परिणाम आने के पूर्व ही सन् १९६२ में इस संस्था में संलग्न होकर सबसे पहले "प्राकृत प्रोपर नेम्स डिक्शनरी" के दो भागों का डॉ० मोहनलाल मेहता के साथ सृजन किया जो अपने आप में एक विशिष्ट ग्रन्थ है ।

उसके पश्चात् सन् १९६९ में गुजरात विश्वविद्यालय के 'भाषा साहित्य भवन' में प्राकृत भाषा का एक नया विभाग प्रारंभ हुआ और वे उसमें प्राकृत के व्याख्याता के रूप में जुड़ गये । वहाँ पर २२ वर्ष तक सेवा अर्पित करके १९९१ में रीडर के रूप में और प्राकृत-पालि विभाग के अध्यक्ष के रूप में सेवा-निवृत्त हुए । इस विभाग के विकास में उनका महत्त्वपूर्ण योगदान

रहा । प्राकृत भाषा के अध्ययन को प्रोत्साहित करने के लिए उन्होंने इस विभाग में एक वर्ष का पोस्ट ग्रेज्युएट प्राकृत सर्टिफिकेट कोर्स और एक वर्ष का गौण (प्राकृत को मुख्य प्राकृत विषय बनाकर पुन:) प्राकृत में एम० ए० का अभ्यासक्रम प्रारंभ करवाया ।

अध्यापन के कार्य के साथ साथ उन्होंने संशोधन की प्रवृत्ति भी चालू रखी और आज तक ४० कॉन्फरेंस और सेमिनार में भाग लेकर संशोधन-पत्र प्रस्तुत किये । उन्होंने दो बार स्वयं गुजरात विश्वविद्यालय में (सेमिनार) विद्वत्-संगोष्ठी का आयोजन किया । १९७३ में 'प्राकृत भाषा' पर और १९८६ में 'जैन आगम-साहित्य' पर । १९९७ में अन्य संस्थाओं के सहयोग से अपनी संस्था 'प्राकृत जैन विद्या विकास फंड' के द्वारा पू० आचार्य श्री सूर्योदयसूरीश्वरजी और उनके शिष्य आचार्य श्री विजयशीलचन्द्रसूरिजी की निश्रा में 'जिनागमों की मूल भाषा पर विद्वत् संगोष्ठी का आयोजन किया । उनके हिन्दी, अंग्रेजी और गुजराती में १०० से अधिक शोध-पत्र विविध शोध-पत्रिकाओं में प्रकाशित हो चुके हैं और लगभग २० ग्रंथ प्रकाशित हुए हैं । सन् १९९१ में पूना युनिवर्सिटी के संस्कृत और प्राकृत विभाग में प्राकृत भाषा विषयक चार व्याख्यान दिये थे और १९९४ में मद्रास विश्वविद्यालय के जैन-विद्या में "जैन-दर्शन और धर्म" पर दो व्याख्यान दिये । इसके अतिरिक्त जैन विश्वभारती (लाडनूं) में कुछ दिनों के लिए प्राकृत का अध्यापन कार्य भी किया और दिल्ली में 'भोगीलाल लहेरचंदर इंस्टिट्यूट ऑफ इंडोलोजी' में ग्रीष्मावकाश में चलाये जानेवाले प्राकृत के वर्गों में भी दो-तीन बार अध्यापन का कार्य किया । एक बार सौराष्ट्र विश्व-विद्यालय में भी 'प्राकृत साहित्य' पर व्याख्यान दिये ।

वे गुजरात विश्वविद्यालय के प्राकृत-पालि बोर्ड ऑफ स्टडीज के वर्षों अध्यक्ष रहे । नागपुर एवं मो० सु० उदयपुर विश्वविद्यालय के प्राकृत बोर्ड के सदस्य भी रह चुके हैं । 'अखिल भारतीय प्राच्य विद्या सभा' के १९७९ के शांतिनिकेतन के अधिवेशन में "प्राकृत और जैन विद्या" विभाग में श्रेष्ठ शोधपत्र के लिए उनको "मुनिश्री पुण्यविजयजी पुरस्कार" प्राप्त हुआ । "अखिल भारतीय प्राकृत सभा" के बैंगलोर में प्रथम राष्ट्रीय संमेलन में १९९० में उनका पुरस्कार सहित सम्मान किया गया और १९९६ में भावनगर में "कलिकाल सर्वज्ञ श्री हेमचन्द्राचार्य नवम जन्म शताब्दी स्मृति संस्कार शिक्षण निधि" अहमदाबाद की तरफ से सम्मानित करके "हेमचन्द्राचार्य सुवर्णपदक" प्रदान कर उन्हें पुरस्कृत किया गया । १९९७ में थराद (पालनपुर) में अखिल भारतीय श्री राजेन्द्रसूरि त्रिस्तुतिक जैन नवयुवक परिषद के वार्षिक संमेलन में राष्ट्रसंत श्रीमद् जयन्तसेनसूरीश्वरजी की निश्रा में सम्मानित करके उन्हें पुरस्कृत किया गया ।

डॉ० चन्द्रा का संशोधन के क्षेत्र में अति महत्त्वपूर्ण प्रदान जैन आगमों की 'मूल अर्धमागधी' भाषा संबंधी है । अनेक वर्षों पर्यन्त सूक्ष्म एवं गहन अध्ययन करके उन्होंने श्वेताम्बर जैन आगमों की मूल भाषा (खास करके प्राचीनतम आगमों की मूल भाषा) यानी मूल अर्धमागधी के स्वरूप के बारे में जबरदस्त ऊहापोह किया है और उसका स्वरूप कैसा होना चाहिए इस मुद्दे पर अनेक लेख प्रकाशित किये । उस प्रकार की भाषा के मॉडल पर उनका 'आचारांग' के प्रथम श्रुत-स्कंध के प्रथम अध्ययन का संपादन जैन साहित्य और संशोधन के क्षेत्र में

सीमाचिह्न के रूप में चिरस्मरणीय रहेगा ।

अध्यापन और संशोधन के कार्य के साथ साथ 'प्राकृत और जैन विद्या' के विकास के लिए उन्होंने १९७९ में "प्राकृत जैन विद्या विकास फंड" की स्थापना की जिसके वे मानद मंत्री थे । इस संस्था द्वारा १४ ग्रंथ प्रकाशित किये गये हैं, उनमें प्राकृत कोश, प्राकृत व्याकरण, जैन आगम, जैन धर्म-दर्शन, प्राचीन जैन गुजराती साहित्य आदि विविध विषयों का समावेश होता है जिनका शैक्षणिक दृष्टि से बहुत महत्त्व है । प्राकृत भाषा-साहित्य में प्रवेश करने के इच्छुक विद्यार्थियों के लिए उनकी कक्षा के अनुरूप प्रमाणभूत शैक्षणिक सामग्री की ये ग्रंथ पूर्ति करते हैं ।

विद्या-प्रिय अध्यापक और कर्मठ संशोधक डॉ० के० आर० चन्द्रा का पारिवारिक जीवन भी अत्यंत सुखी है । सुशील सेवाभावी, तपस्वी एवं धार्मिक प्रवृत्तिमय जीवन-साथी उनकी पत्नी उर्मिलाबहिन के साथ ई० स० १९५५ से उनके दीर्घकालीन दाम्पत्य जीवन के फलस्वरूप उनको दो पुत्र और एक पुत्री हैं ।

१. उनका ज्येष्ठ पुत्र नरेन्द्रकुमार जनरल मेडिसीन में एम० डी० है और अहमदाबाद में ही अपना स्वतंत्र मेडिकल नर्सिंग होम चलाता है ।

२. छोटा पुत्र प्रवीणकुमार, पेथोलोजी में एम० डी० है और अपनी स्वतंत्र लेबोरेटरी अहमदाबाद में ही चलाता है ।

३. उनकी सबसे छोटी संतान पुत्री हीनाकुमारी है जो एम० कॉम० है और उसका विवाह मुंबई के एक परिवार में श्री संभ्रान्त पुखराजजी पोरवाल के इन्जिनियर पुत्र तुषार पोरवाल के साथ हुआ है ।

रमणिक शाह
पूर्व अध्यक्ष, प्राकृत पालि विभाग
भाषासाहित्य भवन, अहमदाबाद

□□□

एक सत्यनिष्ठ मित्र डॉ० के० आर० चन्द्र

"प्राकृत और जैन विद्या" के क्षेत्र में कार्य करनेवाले अल्प संख्यक विद्वानों में डॉ० के० आर० चन्द्रा का नाम सुविख्यात है । उनकी प्राकृत भाषा और साहित्य की सूझ-बूझ और जीवनभर निष्ठापूर्वक विद्याकार्य में रत रहने के कारण इन्हें जैन विद्या के क्षेत्र में एक विशिष्ट स्थान प्राप्त हुआ था ।

डॉ० चंद्रा कर्मयोगी थे । साहित्य मंदिर के पुजारी थे । प्रतिपल अपनी साहित्य-साधना में संलग्न रहते थे, कहीं भी रहें, कहीं भी जायें उनकी शोध-वृत्ति और जिज्ञासा प्रतिपल सजग रहती थी । श्री चंद्राजी की एक विशेषता यह थी कि वे नई पीढी के युवा लेखकों को प्रोत्साहित करते थे । अपने संपर्क में आनेवाले शिक्षितजनों बुद्धिजीवियों के लिए भी प्रेरणा और प्रोत्साहन के अक्षय स्रोत थे । वे एक व्यक्ति नहीं थे वरन् साहित्यिक गतिविधियों के एक विशाल केन्द्र अथवा संस्था का रूप धारण कर चुके थे । उनकी ज्ञानोपासना आत्मसाधना और दूसरों को दी जानेवाली प्रेरणा मानो त्रिवेणी के रूप में प्रवाहित थी और इस दृष्टि से पवित्र एवं आदरणीय भी थे ।

जो सत्य लगा उसे कहने में उन्हें कहीं संकोच अथवा भय नहीं था । खुले रूप में उसे कहना और लिखना वे अपना धर्म मानते थे । इसमें किसी को प्रिय-अप्रिय लगे तो इसकी परवाह नहीं थी । सात्त्विकता और सहजता इनके व्यक्तित्व के दो महत्त्वपूर्ण गुण थे । कहीं कोई दिखावा, प्रदर्शन और बड़प्पन नहीं था । स्वभाव से सरल, मिलनसार और नम्र । एक सामान्य मनुष्य की भाँति सहज और स्वाभाविक रूप में छोटे-बड़े समारोहों से लेकर दैनिक कार्यक्रम में उपस्थित रहते थे । श्री चन्द्रासाहब का व्यक्तित्व और कृतित्व अत्यधिक गरिमामय था । वे बहुमुखी प्रतिभा के धनी थे और वे विचारों की दृष्टि से हिमालय से भी अधिक उन्नत थे और सागर से भी अधिक गंभीर थे । वे चिंतक थे, संशोधक थे ।

डॉ० चन्द्राजी की सफलता में उनके निर्मल जीवन एवं सौम्य व्यक्तित्व का पूरा सहयोग था । उनका कभी किसी से कोई विरोध नहीं होता था । विषम परिस्थिति में भी वे सहज और प्रसन्नचित्त, रहते थे । ऐसे सौम्य सरस्वतीपुत्र को वंदन कर कौन अपने को गौरवान्वित न समझेगा ।

भगवतीसिंह
पूर्वरीडर, अंग्रेजी विभाग
भाषासाहित्यभवन,
गुजरात युनिवर्सिटी, अहमदाबाद

□□□

કલ્યાણમિત્ર શ્રી કે. ઋષભચંદ્રજી

જન્મ રાજસ્થાનમાં, કાર્યક્ષેત્ર મદ્રાસ જૈન વિદ્યાનું અધ્યયન નાગપુર અને મુજફ્ફરપુર અને જેમની કર્મભૂમિ અમદાવાદ એવા શ્રી રિખબચંદ-ઋષભચંદ્ર કસ્તુરચંદજી જૈન મદ્રાસમાં રહ્યા હોવાને કારણે કે. આર ચંદ્રા સાહેબ તરીકે નામના પામ્યા છે.

પ્રાકૃત અને જૈન વિદ્યાના ક્ષેત્રમાં કાર્ય કરનાર આ સદીમાં જે થોડાક વિદ્વાનો થઈ ગયા તેમાં ડૉ. કે. આર ચંદ્રાનું નામ જાણીતું છે.

પ્રાકૃત અને જૈન સાહિત્ય-સંશોધન ક્ષેત્રે ડૉ. ચંદ્રાનું બહુ મોટું પ્રદાન છે. તેમણે ૨૫થી વધુ ગ્રંથો અને આગમો અને આગમ સાહિત્ય વિશે હિન્દી અને અંગ્રેજીમાં ૨૦૦થી વધુ સંશોધન લેખો આપ્યા છે. તેમણે વિદ્યાવ્યાસંગ માટે પોતાનું સમગ્ર જીવન સમર્પિત કરી દીધું હતું.

દૃઢ મનોબળ, ખંત, સૂઝ અને અભ્યાસથી તેમણે પ્રાકૃત ભાષા પર અસાધારણ પ્રભુત્વ મેળવી લીધું હતું.

સંશોધન-લેખનમાં ચીવટ અને ચોકસાઈ એટલી બધી કે તેમના વિધાનની વિરુદ્ધ કંઈ પણ કહેતાં પહેલાં ખૂબ વિચાર કરવો પડે. નિરાધાર કશું જ લખવું નહીં એ એમની પ્રકૃત્તિ હતી.

ચંદ્રા સાહેબ અને હું લગભગ સમવયસ્ક. તેમનો જન્મ ૨૮ જૂન ૧૯૩૧ અને મારો જન્મ ૩૧ જુલાઈ ૧૯૩૨, પણ એક વડીલ બંધુનો મને તેમનો સ્નેહ મળ્યો છે.

ચંદ્રા સાહેબનો પરિચય મને તેઓ ૧૯૬૨માં એલ. ડી. ઇન્સ્ટિટ્યૂટ ઑફ ઇન્ડોલોજીમાં રિસર્ચ ઑફિસર તરીકે જોડાયા ત્યારથી થયો. ત્યારપછી તો અમારો પરિચય ગાઢ થતો ગયો ત્યારથી મને તેમના ઉદારદિલ અને સ્નેહસભર સ્વભાવનો અનેક વાર પરિચય થયો છે. હું પાટણની શેઠ એમ. એન. સાયન્સ અને શ્રીમતી પી. કે. કોરાવાળા આર્ટ્સ કૉલેજમાં પ્રાકૃત વિભાગના અધ્યક્ષ તરીકે ૧૯૬૩માં જોડાયો. તેમણે પીએચ. ડી. કરવા મને ખૂબ પ્રોત્સાહન આપ્યું. પાટણ કૉલેજમાં પ્રાકૃતના અધ્યયન માટે સુવિધા ઉપલબ્ધ કરાવવા માટે અને પ્રાકૃતને અન્ય વિષયો સાથે પ્રતિષ્ઠાનું સ્થાન મળે તે માટે મેં જે પ્રયત્નો કરેલા તે જોઈ ખૂબ ખુશ થયેલા, અને મને ખૂબ મદદ કરેલી.

બહુ ઓછી યુનિવર્સિટીઓમાં સ્વતંત્ર પ્રાકૃત-પાલિ વિભાગને સ્થાન મળ્યું છે. ગુજરાત યુનિ.માં પ્રાકૃત-પાલિ વિભાગ વિકાસમાં વિશેષ પ્રયત્નોથી પોસ્ટગ્રેજ્યુએટ પ્રાકૃત સર્ટિફીકેટ કોર્સ અને એક વર્ષનો ગૌણ પ્રાકૃતનો મુખ્ય પ્રાકૃત સાથે એમ. એ.નો અભ્યાસક્રમનો પ્રારંભ થયો.

પ્રાકૃત અને જૈન વિદ્યાના વિકાસ માટે તેમણે ૧૯૭૯માં પ્રાકૃત જૈન વિદ્યા વિકાસફંડની રચના કરી પ્રાકૃત ટેક્સ્ટ સોસાયટીમાં સક્રિય રસ લીધો.

મારા ઉત્કર્ષમાં તેમણે ખૂબ આનંદ થતો. કૉલેજમાં આચાર્ય તરીકે મારી નિયુક્તિ થાય તેમાં તેમણે સક્રિય રસ લીધેલો. આચાર્યની પસંદગી માટેના ઇન્ટરવ્યૂ યુનિવર્સિટીના ભાષા-

સાહિત્ય ભવનમાં ગોઠવવામાં આવેલા. કૉલેજ મેનેજમેન્ટ મને આચાર્ય તરીકે નીમવા માગતી હતી. એટલે હું નિશ્ચિત હતો. ઇન્ટરવ્યૂ માટે નોર્થ ગુજરાત ઍજ્યુકેશનના સેક્રેટરી મુ.શ્રી ભાઈચંદભાઈ અને હું એક જ વાહનમાં અમદાવાદ આવવા નીકળેલા. ચંદ્રા સાહેબને આ માહિતી હતી. આમ તો સીધાસાદા અને યુનિવર્સિટીના રાજકારણથી બિલકુલ નિર્લેપ. પણ મારા ઇન્ટરવ્યૂ અંગે તેમને ચિંતા. યુનિવર્સિટી સ્તરે અન્ય એક ઉમેદવારની પસંદગી થાય તેવા જોરદાર પ્રયત્નો થયા. ચંદ્રાસાહેબને આની ખબર પડતાં તેમને ભારે ચિંતા થઈ. મને સમયસર જાણ કરવા લગભગ એક કલાક સુધી ભાષા ભવનના ગેટ પાસે ઊભા રહ્યા. યનિવર્સિટીના રાજકારણે ભજવેલા ભાગને કારણે પસંદગી સમિતિમાં આચાર્યશ્રીની પસંદગી અંગે વિવાદ તો થયો પણ અંતે મારી નિમણૂક થઈ. ચંદ્રાસાહેબને મુશ્રી ભાઈચંદભાઈ આ જાણીને સતેજ થઈ ગયા અને કદાચ તેમણે મનોમન નિર્ણય લઈ લીધો હશે જેથી તેમના અંગે પસંદગી સમિતિમાં વિવાદ થવા છતાં તેમના આગ્રહને કારણે આચાર્ય તરીકે મારી જ પસંદગી થઈ. આમ કૉલેજના આચાર્ય તરીકેની મારી નિમણૂકમાં ડૉ. ચંદ્રાસાહેબનો આડકતરો સહયોગ રહ્યો.

તેમના સંશોધન ક્ષેત્રે આપેલા યોગદાનનું ઉચિત સન્માન થયું છે એનો સંતોષ લઈ શકાય. અનેક પુરસ્કારો અને સુવર્ણચંદ્રકોથી તેઓ સન્માનિત થયા છે.

તેમના સંશોધન અને વિદ્યાકીય પ્રવૃત્તિમાં તેમના સુશીલ, સેવાભાવી તપસ્વી અને ધાર્મિક પ્રવૃત્તિમય જીવનસાથી ઉર્મિલા બેનનો ઉષ્માભર્યો સક્રિય સહયોગ રહ્યો.

કૌટુમ્બિક જવાબદારી અદા કરવામાં પણ તેઓએ તેમનાં ત્રણે સંતાનોને ઉચ્ચ કેળવણી આપી સામાજિક ફરજ અદા કરી છે. બન્ને દીકરાઓ ડૉ. નરેન્દ્રકુમાર અને ડૉ. પ્રવીણકુમાર એમ. ડી. ની ઉપાધિ ધરાવે છે. એમ. કોમ. થયેલ દીકરી હીનાકુમારીનાં સુખી પરિવારમાં લગ્ન થયેલાં છે.

પં. બેચરદાસજીના વિશેષ પ્રયત્નોથી તે સમયના યુ. જી. સી.ના ચેરમેન ડૉ. ડી. એસ. કોઠારી મારફતે ગુજરાત યુનિ.માં પ્રાકૃત વિભાગ ૧૯૬૯માં શરૂ થયેલો. વ્યાખ્યાતાની જગ્યા માટે હું અને ડૉ. ચંદ્રા ઉમેદવારો હતા. ડૉ. ચંદ્રાની પસંદગી થઈ ત્યારે મનમાં થોડુંક દુઃખ થયેલું પણ તેમની વિદ્યાનો પરિચય થતાં મને સમજાયું કે તેમની નિમણૂક ન્યાયોચિત હતી.

કાનજીભાઈ પટેલ
પૂર્વઆચાર્ય,
એમ. એન. સાયંસ અને પી. કે. કોટાવાળા
આટર્સ કૉલેજ, પાટણ (ઉ. ગુ.)

□□□

A Teacher in Real Sense

It was perhaps the month of September, 1994, when I saw Dr. K. R. Chandra in the Prakrit class in M. A. Part - I. As I and some other students had offered Prakrit as subsidiary with main Sanskrit very late. Dr. Chandra engaged extra lectures for two months to enable us to cope with the rest of students. It was his very style that in a very short period I could understand the language whose name, I did not know a month before and consequently he assigned me the correction work of a Prakrit Hindi Kosh which he was preparing for students by concising the Paiyasaddamahannavo. He started the editing of Ardhamagadhi agama text in order to restore the original form of Ardhamagadhi language. He asked me to prepare the word index cards to analyse the phonetical and morphological forms of the words. To compare these words with contemporary literature like Pali and Ashokan inscriptions, I had to prepare the cards of Suttanipata and Ashokan inscriptions also.

These words enriched and strengthened my knowledge and conception of Middle Indo Aryan languages. A boy from poor family was taken care of like anything whenever difficult circumstances arose. Whatever I am now, it is due to his dedicated effort to make me so. He wanted me to be conversant in all Prakrits and Jainology. I do not know how far I have been successful to his expectations, but I will try my best to be so in future and will walk on the path, he has paved for editing the Agama texts. I shall feel thankful for myself if I will be able to return even 1% of his efforts, he has rendered to build my life.

In the end I pray God to give eternal peace to the soul of Prof. K. R. Chandra, my revered Guru.

Dinanath Sharma
Reader, Prakrit Pali Deptt.
School of Languages
Gujarat University, Ahmedabad.

□□□

K. R. Chandra's Contributions

Books

1. Literary Evaluation of Paumacariyam, Jain Cultural Research Society; Varanasi, 1966.
2. A Critical Study of Paumacariyam of Vimalasūri [Part. I, Comparative Study of the Rāma Story and other Stories, Part II, Literary and Cultural Study], Research Inst. of Prakrit, Jainology and Ahimsā, Vaishali, 1970.
3. Prakrit Proper Names Dictionary, Vol. I, (Co-Editor), L. D. Institute of Indology, Ahmedabad, 1970.
4. Prakrit Proper Names Dictionary, Vol. II, (Co-Editor), L. D. Institute of Indology, Ahmedabad, 1972.
5. Bhagwān Mahavir : Prophet of Tolerance, Jain Mission Society, Madras, 1975.
6. Proceedings of the Seminar on Prakrit Studies [1973], L. D. Inst. of Indology, 1978.
7. Restoration of the Original Language of Ardhamāgadhī Canonical Texts, Prakrit Jain vidya Vikas Fund, 1994.
8. Jain Philosophy and Religion, PJVV Fund, 1996.
9. In Search of the Original Aradhamagadhi [English Tr. of the original Hindi work.], 2001.

Research Papers and Articles

1.	The Harappa Culture As Revealed Through Surface Explorations in the Central Tapti Basin	**Journal of the Oriental Institute** December 1970
2.	Notes on Some Words from Ācārāṅga	Journal of the Oriental Institute March 1971
3.	Place of Prakrit in Sanskrit Dramas	Vidya January 1971
4.	Importance of the Study of Prakrit in View of its Occurrence in Sanskrit Dramas	**Seminar,** October 1971
5.	The So-called Sanskrit Drama	**Sambodhi,** July 1972
6.	Some Unnoted (New) Prakrit Forms From The Vasudevahiṇḍī	AIOC November 1976
7.	A Search in the Vasudevahindi for some Prakrit Forms	1976
8.	Apabhraṁśa Forms in the Vasudevahiṇḍī	**Sambodhi** 1975-1976

9.	Some Prakrit Forms from the Vasudevahiṇḍī Not available in Pischel's Prakrit Grammar Under Jain Mahārāṣṭrī	Seminar 1978
10.	Early Trace and Origin of the Absolutive Participle -	**Vidya,** August 1978
11.	Some Unnoted (New) Pronominal Forms From The Vasudevahiṇḍī	**Vidya** August, 1979
12.	Some Pronominal and Nominal Prakrit Forms From the Vasudevahiṇḍī	**Vidya** August, 1979
13.	Study of Prakrits in Classical Dramas Their Stages in Some Early Dramas	**Vidya** August, 1980
14.	A Study of Some Prakrit Forms From The Vasudevahiṇḍī	**Vidya** January 1981
15.	Which is Earlier : Paumacariyaṁ or Vasudevahiṇḍī	**Vidya** January/August 1983
16.	Unusual Nominal Forms with Prakrit Suffixes in the Oldest Pali Literature	Delhi, 1989
17.	Editing of Ancient Ardhamāgadhī Texts in View of the Text of Viśeṣāvaśyaka-Bhāṣya	**Nirgrantha** - Vol. 1, 1994
18.	In Search of the Original Form of Ardhamāgadhī	**Sambodhi** 2000
19.	Comparative Study of the Languages of the Ācārāṅga and the Isibhāsiyāiṁ both edited by Prof. Schubring	**Anusandhan** 2000
20.	Retention of Medical Consonants in the Grammar of Ardhamāgadhī by Hermann Jacobi	**Anusandhan** 2001
21.	A Critical Study of Ardhamāgadhī With Special Reference to Jacobi's & Schubring's Editions of the Ācārāṅgasūtra and to Pischel's Comparative Grammar of the Prākṛit Languages	**Vasantagauravam**
22.	Was Kundakundācārya the Author or Compiler of the Barasa Aṇuvekkha ?	**Vidyopaasanaa**

□□□

डॉ. के. आर. चन्द्रा का हिन्दी भाषा में साहित्यिक योगदान

साहित्यिक रचनाएँ

१. मुनिचंद-कहाणयं, मूलकथा, गुजराती अनुवाद, तुलनात्मक एवं आलोचनात्मक अध्ययन, प्रथम संस्करण, जयभारत प्रकाशन, १९७३, द्वितीय संस्करण, १९७७

२. अभयक्खाणं, मूलकथा, गुजराती अनुवाद, तुलनात्मक एवं आलोचनात्मक अध्ययन, सरस्वती प्रकाशन, अहमदाबाद, १९७५

३. भारतीय भाषाओं के विकास और साहित्य की समृद्धि में श्रमणों का महत्त्वपूर्ण योगदान, प्राकृत जैन विद्या विकास फंड, अहमदाबाद, १९७९

४. प्राकृत भाषाओं का तुलनात्मक व्याकरण एवं उनमें प्राप्त प्राक्-संस्कृत तत्त्व, प्राकृत विद्यामंडल, अहमदाबाद, १९८२

५. प्राकृत-हिन्दीकोश [पाइयसद्दमहण्णवो का किञ्चित् परिवर्तितरूप], प्राकृत जैन विद्या विकास फंड, अहमदाबाद, १९८७

६-८ सह-संपादक : गुजरात राज्य स्कूल टेक्स्ट बुक बोर्ड, अहमदाबाद

६. प्राकृत गद्य-पद्य-संग्रह, कक्षा, ११, १९७६

७. पालि गद्य-पद्य-संग्रह, कक्षा, ११, १९७६

८. प्राकृत गद्य-पद्य-संग्रह, कक्षा, १२, १९७७

९. नम्मयासुंदरी कहा, हिन्दी अनुवाद के साथ [सह-अनुवादक] प्राकृत जैन विद्या विकास फंड, १९८९

१०. प्राचीन अर्धमागधी की खोज में, प्राकृत जैन विद्या विकास फंड, १९९१-९२

११. जैन आगम साहित्य [सेमिनार ऑन जैन केनोनिकल लिटरेचर] (१९८६)
प्राकृत जैन विद्या विकास फंड, १९९२

१२. परंपरागत प्राकृत व्याकरण की समीक्षा और अर्धमागधी, प्राकृत जैन विद्या विकास फंड, अहमदाबाद, १९९५

१३. आचारांग, प्रथम श्रुतस्कंध, प्रथम अध्ययन का भाषिक दृष्टि से पुनः संपादन, प्राकृत जैन विद्या विकास फंड, अहमदाबाद, १९९७

१४. इसिभासियाइं का अशेष प्राकृत-संस्कृत शब्दानुक्रमणिका २०००

१५. प्रवचनसार की अशेष प्राकृत-संस्कृत शब्दानुक्रमणिका २००१

१६. प्राकृत भाषाओं का तुलनात्मक व्याकरण [एवं अर्धमागधी], द्वितीय संस्करण २००१

१७. जिनागमों की मूल भाषा

लेखों की सूचि

१.	राक्षस : एक मानव वंश	**श्रमण**, नवम्बर-दिसम्बर १९६६
२.	विमलसूरि और रविषेण का काल-निर्णय	**परिषद्-पत्रिका** जुलाई १९६७
३.	शृंगारमञ्जरी की शब्दावली	**जैन पुराण साहित्य**, १९६८
४.	प्राकृत-दशवैकालिकसूत्र में हिन्दी शब्द-गवेषणा	**परिषद्-पत्रिका** जान्यु. १९६९
५.	भगवान् महावीर के जन्म-स्थल के विविध उल्लेख	**विश्वभारती** पत्रिका, १९७०
६.	कुवलयमाला की मुख्य कथा और अवान्तर कथाएँ	**श्रमण**, जुलाई १९७५
७.	पालि से अन्य प्राकृतों की तरफ	**विद्या** ओगस्ट, १९७८
८.	वैदिक युग की भाषा में प्राकृत-सदृश भाषाकीय तत्त्वों की उपलब्धि	**विद्या**, ओगस्ट १९८१
९.	आचारांग के प्रथम श्रुतस्कंध में स्वीकृत कुछ पाठों की समीक्षा	**विद्या**, ओगस्ट, १९८२
१०.	भारत की प्राचीन भाषाओं में फारसी-शब्द	ओगस्ट, १९८६
११.	**आचारागं की भाषा की प्राचीनता की पुनर्स्थापित करने की आवश्यकता**	१९८६
१२.	अर्धमागधी भाषा और आचार्य श्री हेमचन्द्र का प्राकृत व्याकरण	**संबोधि**, १९८९
१३.	प्राकृत व्याकरण (वररुचि बनाम हेमचन्द्र अन्धानुकरण या विशिष्ट प्रदान)	**हैम-वाड्मय-विमर्श**, १९९०
१४.	**आचारांग एवं कल्पसूत्र में वर्णित महावीर चरित्रों का विश्लेषण एवं उनकी पूर्वापरता का प्रश्न**	**जैन विद्या के आयाम**, १९९१
१५.	**भरतमुनि द्वारा प्राकृत को संस्कृत के साथ प्रदत्त सम्मान और गौरवपूर्ण स्थान**	**श्रमण**, मार्च, १९९१
१६.	जिनागमों का सम्पादन (हमारा दृष्टिकोण)	**तुलसी प्रज्ञा**, १९९३
१७.	अर्धमागधी भाषा में सम्बोधन का एक विस्मृत शब्द-प्रयोग 'आउसन्ते'	**श्रमण**, १९९५
१८.	पं. श्री बेचरभाई दोशी का प्राकृत व्याकरण शास्त्र को महत्त्वपूर्ण प्रदान	**विद्यापीठ**, सप्टेम्बर, १९९५

१९.	Place of ardhamāgadhi and Śauraseni Languages of Jain Canonical works in the Evolution of MIA. Languages.	**जिनागमों की मूल भाषा**- अप्रैल, १९९७
२०.	शुब्रिंग महोदय द्वारा सम्पादित आचाराङ्ग और इसिभासियाइं की भाषा की तुलना	**श्रमण**, जनवरी-जून-२०००
२१.	वररुचि और हेमचन्द्राचार्य के प्राकृत व्याकरणों की श्रीमती नीति डोल्ची द्वारा की गयी आलोचना का मूल्यांकन	
२२.	'प्रवचनसार' में छन्द की दृष्टि से पाठों का संशोधन	
२३.	वसुदेवहिंडी के क्रिया रूप	
२४.	पाइय-सद्द-महण्णवो में अनुपलध वसुदेवहिण्डी की शब्दावली (२)	
२५.	जैन पुराण साहित्य	
२६.	प्राचीन आगम-ग्रन्थों का सम्पादन	
२७.	आचाराङ्ग के प्रथम श्रुतस्कन्ध में स्वीकृत कुछ पाठो की समीक्षा	**पं. बेचरदास दोसी कोसे. वोल्यु.**
२८.	जैन धर्म का प्रसार	**जैन धर्म का प्रसार**
२९.	भगवान् महावीर मात्र कर्मवादी या पुरुषार्थवादी भी ?	
३०.	'षट्प्राभृत' के रचनाकार और उसका रचनाकाल	
३१.	आचारांग में भगवान् महावीर के मौलिक उपदेश	**सम्यक् विकास**,

□□□

The Jain Scripture and Community : The Scholarly Legacy of Kendall W. Folkert

• Paul Dundas

Note : The following short essay is an emended version of a section of a review article which was originally published under the title "Recent Research in Jainism" in *Religious Studies Review* 23, 1993 in tandem with a complementary piece by John E. Cort entitled "Recent Fieldwork Studies on the Contemporary Jains." It is to be hoped that this account of the researches of Kendall Folkert, who loved both Gujarat and its Jain community greatly, will commend itself to the attention of the distinguished dedicatee of this congratulatory volume.

When Kendall Folkert was killed at the age of 43 along with the promising young postgraduate anthropologist Thomas Zwicker in a crash on the outskirts of Ahmedabad in October, 1985, he was the only scholar in the English-speaking world that time carrying out advanced scholarly research into both the Jain community in India and its scriptural and intellectual tradition.

Over the course of the century or so subsequent to Western scholars having identified it to their satisfaction as an independent religious path with ancient origins, Jainism was largely the subject of library-based investigation only and, with one or two notable exceptions such as Norman Brown and R. Williams, its main interpreters were continental European philologists. The most prolific of British Sanskritists, A. B. Keith, who produced studies of virtually every significant aspect of classical Indian culture, steadfastly ignored Jainism, and on the one occasion when he had to confront its literature in the course of producing a catalogue of manuscript holdings in the India Office Library, flaws in his knowledge of the subject were apparent (Schubring 452-3).

For virtually all of the western scholars who interested themselves in

Jainism, the realities of Jain life and culture as experienced by contemporary followers of the religion in India were of only marginal concern and inaccurate text-derived generalisations, in which Jainism was portrayed as a kind of colder version of Hinduism or a Buddhism "turned strange," flourished largely without qualification. Folkert's research at the time of his death into the various layers within the *Pratikramaṇa Sūtra*, the Jain confessional formula, and its contemporary ritual significance for the community which used it was thus highly innovative. Unfortunately, after the completion of his Harvard dissertation, Folkert published very little during his lifetime and, with the exception of two short introductory surveys of Jainism contained in handbooks of world religions and two chapters in edited collections (reprinted in the volume to be considered), his ideas were largely delivered in the form of conference papers, while various of his projects remained only in draft.

On the basis of this surviving material, Folkert's friend and colleague John E. Cort has constructed a volume whose title *Scripture and Community* (henceforth SAC) reflects its late author's most abiding academic interests. There may be some who would question the advisability, indeed the very morality, of publishing a scholar's Nachlass, especially when, as with SAC, it involves the reproduction of such apparent ephemera as conference addresses and even grant applications. However, a reading of the book shows that Cort's editorial decisions (which include some discrete bibliography updating) are triumphantly vindicated in that he has succeeded in presenting Folkert's work as an intellectually consistent totality and, as such, a major contribution to the study of one of the world's oldest religious traditions.

It must be emphasised immediately that Folkert did not consider himself to be a Jainologist as narrowly conceived. Rather, Jainism formed the empirical basis for his wider reflections upon religion, while the insights derived from the discipline of religious studies served to inform his general understanding of Jainism, most markedly freeing him from the necessity of taking an exclusively text-oriented approach. Cort's insistence in his introduction on the "profoundly radical thrust" of Folkert's scholarship (SAC : xv) may at first sight smack of special pleading, but there can be no doubt that in several areas, particularly his approach to the category of scripture, he was clearly ahead of his time.

In order to enable Folkert's ideas about the nature and function of sacred literature to be appreciated to the full, Cort elects to reprint as chapter

5 of SAC a longer version of a paper, originally delivered in 1976, which appeared posthumously in a groundbreaking volume on scripture edited by Miriam Levering, prefacing it with two chapters discussing scripture as a phenomenological category and the structure of the Jain scriptural "canon" respectively and then following it with an account, distilled from various grant applications, of the role of scripture within the Jain community. This section of the book should be pondered upon by all engaged in the study and teaching of religious traditions. At a time when the Protestant Bible provided a virtually unchallenged academic model in the west for the study of sacred texts, one which has by means disappeared today, Folkert drew attention to the dangers inherent in privileging scripture as being solely what is written in a book, calling on students of religion to display greater sympathy to the actual status of scriptural texts within each particular religious tradition and, in the specific context of Jainism, demonstrating how the notion of fixed canonicity was largely created by western scholars in the last century at the expense of many alternative Jain enumerations of scriptural texts. Folkert's direct field experience enabled him to see that the real significance of scripture for Jains hardly ever lies in the reading of so-called "canonical" writings but rather in the community's ritual use of or contact with an extremely small number of texts, particularly the *Pratikramaṇa Sūtra*, which provides a kind of manual for periodical religious behaviour throughout the year, an insight which he felt to be of no small relevance when considering other sacred book-oriented traditions.

Folkert formulates his general views on scripture in terms of what he styles, perhaps slightly clumsily, "Canon 1" and "Canon 2", the former being sacred text which is vectored to its audience, generally through ritual activity, while the latter is sacred text which itself constitutes a vector of ritual authority and symbol (SAC : 69-70). The potency of this model is displayed in particularly compelling fashion by reference to the various ways in which the Bible is mediated to different Christian congregations (SAC : 73-6). For those familiar with Graham's seminal work on the orality of scripture, *Beyond the Written Word*, the full impact of Folkert's views might conceivably be slightly blunted, but they should note not only that Graham provides a foreword to SAC but that Folkert is a co-dedicatee of Graham's book, the acknowledgements to which make clear the long cross-fertilisation of ideas between the two scholars. Folkert's ideas here now see to be in the process of being assimilated into the

general discipline of Religious Studies and subjected to serious critical scrutiny (Smith).

The remainder of the first section of SAC is comprised of Folkert's reflections upon the history of the Jain tradition and the various institutional elements which have served to structure and maintain it. Chapter seven, which was published posthumously in 1989, is a study of the Victorian interpretation of the ancient religious site of Mathurā in north-west India. Here Folkert starts by considering how nineteenth century western scholarship quickly formed the conclusion that the depiction within ancient writings of a world of ascetic renunciation exclusively defined the parameters of the Jain religion. He goes on to demonstrate the manner in which the concomitant academic preoccupation with the antiquity of the stūpa, or funeral memorial, at Mathurā (initially seen as vital corroborative evidence for the antiquity of the textual tradition which was the main Victorian scholarly concern) led to an almost wilfull inability to grasp the clear import of the evidence of epigraphy and archaeology that there had existed at an early date a sizeable Jain lay community deeply preoccupied with cultic and devotional religiosity. Here Folkert can be said to have in part anticipated in the sphere of Jain studies the now massively influential work of Schopen on the scholarly representation of early Buddhism. In parenthesis, it might be admitted that the question of the function of the stūpa within Jainism is still somewhat uncertain and Folkert never really addresses it. In this context, Granoff (1992) offers an original interpretation of Jain worship of the dead which can complement Folkert's work on Mathurā.

Chapter eight of SAC, which derives from Folkert's Harvard dissertation, is a helpful discussion of the term *darśana* and a demonstration of how in Jainism it can mean both "system" and "faith" (but cf. Zydenbos : 16 who demurs at this latter rendering). Of particular value for an understanding of the development of Jain intellectual history, often portrayed as relatively static, is Folkert's pinpointing of a dynamic involving "a radical shift away from an analytical approach dominated by karma to one that sought to begin with a set of categories and means of valid knowledge (*pramāṇa*)" (SAC : 134). The intellectual duality running through Jainism, in which the claims of uniqueness and separateness for the teachings of Mahāvīra and the other *tīrthaṅkaras* (whose focal role is emphasised briefly in chapter nine) are balanced by an increasing willingness to systematise and conduct arguments in the idiom of an encompassing, largely Hindu world, is an important theme in Folkert's

interpretation of the religion, one which is pursued in part 2 of SAC.

Chapters ten to twelve of SAC focus upon the role of the subsect (*gaccha*) and the monk in the formation of Śvetāmbara Jain history and society and the often complex manner in which the lay and ascetic communities and the ideals bound up with them interact, especially during the period of the monastic rain-retreat. Here it might be said that Folkert's remarks now seem slightly sketchy in the light of research which has been published in recent years (sse Cort's companion piece to this essay, referred to at the beginning of this essay). Part one of SAC concludes with a splendidly evocative set of fieldnnotes and photographic illustrations relating to Folkert's observations of the celebration of the festival of Paryuṣan in two northern Gujarati villages. This chapter, most helpfully annotated by Cort, is surely worth its weight in gold from the pedagogical point of view to any introductory course on Jainism.

Part two of SAC, amounting to almost 200 pages, is called from Folkert's dissertation on Jain modes of representing non-Jain intellectual positions. At one level, this could be read as a straightforward exercise in technical Indology in which an analysis is given of the 363 doctrines, originally adumbrated in the ancient scripture the *Sūtrakṛtāṅgasūtra*, to which medieval Jaina doxographers claimed all religio-philosophical positions could be reduced (cf. Bollée). However, Folkert is interested in more than simple delineation of structures, although his expertise in unravelling often intricate connections is certainly impressive, and he identifies the 363 doctrines as "not only an account of the differences between Jains and non-Jains, but also as an attempt to deal with the fact of such differences" (SAC : 229). He commendably eschews the simplicities inherent in terms such as "orthodox" and "heterodox", submitting as an alternative the possibility that "the growing influence [in medieval Jainism] of the 363-account reflect[s] a process whereby the Jains no longer viewed other schools merely as positions to be refuted...." (SAC : 216 and 245). Instead, and as part of the process of confronting their own evolving sense of identity, the Jains were led, so Folkert argues, to consider the reasons why such differences existed in the first place and the manner in which they were linked to them.

One of the main casualties of Folkert's investigations into Jain attitudes to non-Jains is what has come to be known as "intellectual *ahiṁsā*." This is the often repeated claim(see e.g. Jain) that the Jains extended the principle of non-

violence towards all creatures to include a tolerant attitude to all intellectual view, enshrining this in a perspectivist system of seven possible standpoints (*nayavāda*) and concomitant relativist linguistic judgements about entities this analysed (*syādvāda*) which taken together is generally and famously styled the "doctrine of many points" (*anekāntavāda*) and has been characterised by one eminent scholar as "the central philosophy of Jainism" (Matilal; for a formalist interpretation, see Van Den Bossche). As Folkert shows, Jain perspectivism is for the doxographers essentially an analytical technique for exposing the reductionism of opposing viewpoints that should not be subjected to any ethicising gloss reflecting modern ecumenical trends (SAC : 224-6; cf. Dundas 1992 and Johnson). It has been argued recently that the concept of religious tolerance, which plays a particularly important part in much twentieth century South Asian religious self-perception and scholarship, in actuality derives from the western discourse about modernity which took place in the context of the increasing marginalisation of religious institutions throughout Europe from the seventeenth century and was subsequently applied in colonial taxonomies to passive and therefore tolerant Hindus and Jains as opposed to what were caricatured as "fanatical" Moslems (Van Der Veer : 66-7). There were in fact significant non-polemical strands in classical Indian intellectual debate, the great philosopher of language Bhartṛhari being particularly noteworthy in this respect (Houben), but it is probably a universal feature of all religious traditions, including Jainism, that they adopt as part of their strategy of self definition some sort of polemical stance towards rival groups, which paradoxically can often take the form of claiming a superior brand of "tolerance." Indeed, as Griffiths has argued, interreligious debate cannot take place unless the participants adopt a strong apologetic stance.

It is almost inevitable, given the extent of Jain literary sources, that Folkert may sometimes seem somewhat restricted in his range of references. It is possible, for example, that he might have had to modify his views about Jain attitudes to non-Jains after a fuller consideration of the vigorous intra-Jain, anti-Hindu and anti-Moslem polemics of the late medieval period (cf. Jaini : 352-74 and Dundas 1999 and forthcoming) and he never really conveys the extent to which many of the doxographers he discusses were describing what were effectively "straw men" opponents simply as an attempt to confirm the validity and continuity of the ancient scriptural tradition which had originally described them, rather than in order genuinely to make statements about the

nature of identity. The intensity of the complex pressures, at times involving both attraction and repulsion, to which the Jains were subjected within the pluralistic socio-religious world of medieval India can much better be gauged from the rich Sanskrit, Prakrit and Old Gujarati narrative sources which show a keen awareness of the difficulties of identity experienced by a minority community (Granoff 1994). In addition, despite his occasional reference to Digambara sources (e.g. SAC : 49-52 and 317-27) and a passing account of the Sthānakvāsī sect (SAC : 179-81), the Jainism presented in SAC is very much that of the numerically dominant Śvetāmbara image worshippers amongst whom Folkert conducted his fieldwork, so that there is little sense given to the reader of the religion's internal variety.

Nevertheless, one's main reactions to SAC are admiration of its author's perspicacity in identifying and analysing so many areas of significance in a subject which was at the time not clearly delineated and a certain melancholy that he did not live to carry out his research agenda to the finish. Nobody, however, could say after reading this marvellously stimulating book that Kendall Folkert's promise was unfulfilled. All involved in the study of Jainism are urged to read and reflect upon it.

References :

Bollée, W. B.

1977 *Studien zum Sūyagaḍa Teil 1 : Die Jainas und die anderen Weltanschauungen vor der Zeitwende*. Wiesbaden : Franz Steiner.

Dundas, Paul

1992 *The Jains*. London and New York : Routledge.

1999 "Jain Perceptions of Islam in the Early Modern Period." *Indo-Iranian Journal* 42.

Forthcoming "*Sudharman's Offspring : History, Scripture and Authority in a Medieval Jain Sectarian Tradition.*

Folkert, Kendall W.

1993 *Scripture and Community : Collected Essays on the Jains.* Edited by John E. Cort. Atlanta : Scholars Press.

Graham, William A.

1987 *Beyond the Written Word : oral aspects of scripture in the history of religion*. Cambridge : Cambridge Univeristy Press.

Granoff, Phyllis.

1992 "Pilgrimage, Death and Dying in Medieval Jainism." *Bulletin d'Études Indiennes* 10.

1994 "Being in the Minority : Medieval Jain Reactions to Other Religious Groups." In N. N. Bhattacharya (ed.), *Jainism and Prakrit in Ancient and Medieval : Essays for Prof. Jagdish Jain.* New Delhi : Manohar.

Griffiths, Paul J.

1991 *An Apology for Apologetics. A Study in the Logic of Interreligious Dialogue.* Maryknoll : Orbis Books.

Houben, Jan E. M.

1994 "Bhartṛhari's familiarity with Jainism. "*Annals of the Bhandarkar Oriental Research Institute* 75.

Jain, I. C.

1999 "Syādvāda an Intellectual Ahiṁsā." In Sagarmal Jain and Shriprakash Pandey (ed.), *Multi-Dimensional Application of Anekāntavāda*. Varanasi and Ahmedabad : Pārśvanātha Vidyāpīṭha and Navin Institute of Self-

development.

Jaini, Padmanabh S.

2000 *Collected Papers on Jaina Studies*. Delhi : Motilal Banarsidass.

Johnson, W. J.

1995 "The Religious Function of Jaina Philosophy : *Anekāntavāda* Reconsidered." *Religion* 25.

Levering, Miriam (ed.)

1989 *Rethinking Scripture*. Albany : State University of New York Press.

Matilal, Bimal Krishna

1981 *The Central Philosophy of Jainism (Anekānta-Vāda)*. Ahmedabad : L. D. Institute of Indology.

Schopen, Gregory

1991 "Archaeology and Protestant Presuppositions in the Study of Indian Buddhism." *History of Religions* 31.

Schubring, Walther

1977 *Kleine Schriften*. Wiesbaden : Franz Steiner.

J. Z. Smith

1988 "Canons, Catalogues and Classics." In A. van der Kooij and K. van der Toorn (ed.), *Canonization and Decanonization*, Brill : Leiden/Boston/Köln.

Van Den Bossche, Frank

1993 "Jain Relativism : An Attempt at Understanding." In rudy Smet and Kenji Watanabe (ed.), *Jain Studies in Honour of Jozef Deleu*. Tokyo : Hon-No-Tomosha.

Van Der Veer, Peter

1994 *Religious Nationalism : Hindus and Muslims in India*. Berkeley : University of California Press.

Zydenbos, Robert J.

1983 *Mokṣa in Jainism, According to Umāsvāti*. Wiesbaden : Franz Steiner.

□□□

Fixing Up Of Some Vairants From Kālidāsa

Tapasvi Nandi

The object of this small paper is to draw attention of all learned scholars towards a very important missing link in the field of text-criticism of the works of Kālidāsa.

In our humble opinion the efforts in the direction of Kālidāsa-text-Criticism seem to be incomplete and even the so-called critical editions of Kālidāsa's works such as those by the Sahitya Akademi, New Delhi are sadly wanting in certain respects.

The point is that a careful editor of a given work should utilize and weigh all the available research tools, and every ms. should be handled as something sacred. This has not happened in the task of editing the works of Kālidāsa. We know that in their works, ālaṁkārikas draw upon freely from Kālidāsa to illustrate this point or that. From Vāmana, down to Viśvanātha onwards they seek inspiration from Kālidāsa. These alaṁkāra works had ary number of brilliant commentaries and the Vāgdevatāvatāra Mammaṭa is said to have claimed a commentary from every house-*gṛhe-gṛhe*. We have seen that these commentators are in the habit of discussing a particular variant with a terse remark such as '*ayaṁ sādhupāṭhaḥ ayaṁ apapāṭhaḥ,*' etc. The works of Kālidāsa have also been commented upon by many beyond Mallīnātha. We have in our mss. library at the L. D. Institute of Indology, quite a number of interesting commentaries on Raghuvaṁśa, Meghadūta, and Kumārasambhava[1], by Jaina and non-Jaina writers of high calibre. All these are worked out only with any number of variants, but even the numbering of verses, their sequence and total, also vary. And all these evidences cannot be dismissed lightly. They have to be taken note of and weighed properly, no matter what date they belong to, for surely each one represents a tradition much older, of its own. These traditions were preserved probably in very old mss. that are lost to us now. And works on alaṁkāra proper, dating back from 8th cen. A. D.,

cannot by dismissed lightly. Thus Vāmana, Ānandavardhana, Bhoja, Mammaṭa and Hemacandra to me, are greater authorities than any of the present day editors, no matter their high reputation and position. We know how ācārya Hemacandra's Kāvyānuśāsana with its priceless Viveka, has been a source of great inspiration in critically editing portions of the Abhinava-bhāratī for scholars such as Gnoli and Kulkarni. So, the importance of these alaṁkāra-works is beyond dispute in this stupendous task of editing the works of Kālidāsa. Any intelligent and sincere editor, of course, will have to weigh all evidences critically.

We may note that Hemacandra (H. C.) has quoted 46 verses from Kumārasambhava (Kumāra.), 31 from Raghuvaṁśa (Raghu.), and eight each from the Abhijñāna-Śākuntalam (Abh. Śā), Vikramorvaśīyam (Vikrama), and Meghadūta (Megha). He has not quoted either from the Mālavikāgnimitra (Māl.) or Ṛtusaṁhāra (Ṛtu.). Perhaps nobody has quoted from the work mentioned last. Bhoja has as many as 95 illustrations only from the Abh. Śā., and we have yet to count the total number of verses quoted by Bhoja from other works of Kālidāsa. Mammaṭa has 11 from Kumāra., 6 from Raghu., 9 from Vikrama., 2 from Abh. Śā., and 1 from Megha., making a total of 29 verses.

To illustrate, we propose to concentrate on just five verses from Abh. Śā. only. They are :

(1) का स्विदवगुण्ठनवती०

(2) गाहन्तां महिषा०

(3) ग्रीवाभङ्गाभिरामं०

(4) चलापाङ्गां दृष्टिं०

and (5) अस्मान् साधु विचिन्त्य०

The method will be first to note available variants in the printed editions of the works of Vāmana, Ānanda, Bhoja, Mammaṭa and Hemacandra, along with their commentators, if any, and then also to note the variants as found in some important editions of the Abh. Śā. We have given a full list of all these editions of these works in Appendix A. The verses cited as illustrations occur in the works of authors mentioned against them, such as

(1) कास्विदवगुण्ठवती०	is read by Vāmana and Bhoja;
(2) गाहन्तां महिषा०	is read by Vāmana, Bhoja, Mammaṭa and Hemacandra

(3) ग्रीवाभङ्गाभिरामं० is read by Mammata and Hemacandra,

(4) चलापाङ्गां दृष्टिं० is read by Ānandvardhan, Bhoja and Hemacandra,

and (5) अस्मान् साधु विचिन्त्य० is read by Bhoja and Hemacandra.

while considering Mammaṭa, we will try to look in for a special remark, if any, by any of his commentators. We will also consider the variants presented in the selected editions of the Abh. Śā. Our observations are noted as below; wherein we will mention, not the whole verses, but only the portion containing possible variants :

(1) का स्विदवगुण्ठनवती०

Vāmana, under 3.2.6. reads as : कास्विद् ....नातिपरिस्फुटलावण्या ।
मध्ये...किसलयमिव पाण्डुपत्राणाम् ॥

Bhoja reads it twice, i.e. once each on p. 326 and p. 748.

At both the places, we have का स्वित्०
नातिपरिस्फुटशरीरलावण्या

But on p. 784, the second half of the verse reads as : किसलयमिव **भाति** पाण्डुपत्राणाम् । It is surprising that in one and the same edition at two places two variants are seen and not taken note of by the editor.

Different editions of the Abhi. Śā. show the following variants :

B. (p. 80; verse V. 14) - कास्वित्०
० शरीरलावण्या...
० किसलयमिव पाण्डु० etc.

J & R. (p. 163; verse V. 13) - का स्वित्०
० शरीरलावण्या...
० किसलयमिव पाण्डु० etc.

These variants are also supported by Rāghava Bhatta (p. 163)

U. (p. 198; verse verse V. 13) - का स्वित्०
० शरीरलावण्या...
० किसलयमिव पाण्डु०....

G. (p. 109; verse V. 13) -का स्वित्०
० शरीरलावण्या...
० किसलयमिव पाण्डु० ...

Re (p. 500; V. 13) - का स्वित्०

॰ शरीरलावण्या...

॰ किसलयमिव पाण्डु॰...

SR. (p. 480; V. 12) - केयमवगुण्ठन॰

॰ शरीरलावण्या...

॰ किसलयमिव पाण्डु॰ .....

The verse is read differently as V. 12, 13, 14 by different editors. The variant viz. 'केयमवगुण्ठन॰' is seen only in SR., while किसलयमिव भाति पाण्डुपत्राणाम् is read at one place in Bhoja, and only Vāmana omits 'शरीर' and has नातिपरिस्फुटलावण्या (Visvesvara's edn.). The NS. edition of Vāmana's work does not read this illustration but has a ft. note. on p. 38 viz. ख पुस्तके, 'केयमवगुण्ठनवती' इत्यादि शाकुन्तलपञ्चमाङ्कस्थं पद्यं कोष्टकान्तर्लिखितमस्ति This favours the reading केयं॰ as seen in SR only.

(2) गाहन्तां महिषा॰...etc.

Vāmana reads this verse under 1.2.11, p. 22 in Viśveśvara's edn., and p. 4, N. S. edn. It is interesting to note that these two editions present different variants.

Viśveśvara's edn. has विस्रब्धं कुरुतां वराहवितति....etc.

and विश्रान्तिं लभतां ... etc.

The N. S. edn. has - विस्रब्धैः क्रियतां वराहपतिभिः.... etc.

and विश्रान्तिं लभतां ... etc.

Bhoja (p. 341) has विस्रब्धैः क्रियतां वराहततिभिः,

and विश्रामं लभतां....

and on p. 64, Bhoja reads : विस्रब्धैः ..... ॰ततिभिः

but विश्रान्तिं लभतां॰ etc.

Once again two different variants in Bhoja have gone un-noticed by the editor.

K. P. Some. (p. 148) has, विश्रब्धैः ...वराहपतिभिः with 'विश्रब्धं' suggested a variant in ft. note;

and विश्रामं लभतां ... etc. with विश्रान्तिं लभतां suggested in the ft. note.

The editor Prof. R. C. Parikh has also given in the ft. note other variants such as ' अभ्यस्यताम् ' for 'रोमन्थमभ्यस्यतु' and वराहततिभिः for पतिभिः. Someśvara has no special observation here.

K. P. Allahabad edn. with *Bālā* etc. (p. 263) has- विश्रब्धैः ....वराहपतिभिः and विश्रान्तिं लभतां० .... etc.

The *Bālā*. (p. 264) observes—विश्रब्धैः ... वराहपतिभिः etc. then supporting the above variants. It also supports 'विश्रान्तिं लभताम् '

The *Sā. Bo.* seems to support 'विश्रब्धैः' (p. 264)

K. P. Mā (p. 153 has 'विस्रब्धैः...वराहपतिभिः' and विश्रामं लभतां ... etc.

Māṇikyacandra has no special observation.

K. P. Pra & U. (p. 322) has - 'विश्रब्धैः...वराहपतिभिः' and विश्वस्तैः' is given in the ft. note. We have also नि (वि ?) श्रब्धं क्रियतां वराहपतिभिः etc. in the ft. note. May be नि is a mis-print.

Pradīpa has no special comments while *Udyota* who has विभक्तिविपरिणामेन सर्वत्र योज्यम् | seems to favour the variant 'विश्वस्तैः'

K. P. Vio (p. 226) has विसब्धैः क्रियतां वराहपतिभिः ... and विश्रान्ति लभतां... etc.

Śrīdhara has nothing special to offer.

K. P. Sā. Cu. & Sam Pra. (p. 86) has, 'विस्रब्धैः...वराहपतिभिः' and has a ft. note, viz. विस्रब्धं क्रियतां इति मूलको पाठः । Again, it has विश्रान्तिं लभतां० etc. *Sa. Cu.* (p. 86) seems support विस्रब्धैः क्रियताम् etc. while the *Sam. Pra.* does not refer to any variant.

K. P. Sudhāo (p. 407) has विस्रब्धैः वराहपतिभिः and विश्रामं लभतां०... etc.

The *Sudhasagara* has no special reference to any variant.

K. P. Sa. Di. (p. 81) has 'विश्रब्धैः....वराहपतिभिः... and विश्रान्ति लभतां० etc.

The *Sāradīpikā* supports 'विश्रब्धैः वराहपतिभिः and also विश्रान्ति लभतां० etc.

K. P. Jha (P. 373) has 'विस्रब्धंः....वराहपतिभिः... and विश्रान्ति लभतां etc.

Jhalkikar observes (p. 373) 'विश्रब्धैः क्रियतां वराहपतिभिः इति पाठं etc. and then 'विश्रब्धा रचयन्तु सूकरवराः.....' etc., he observes 'विश्वस्ताः इत्यपि पाठः ।'

K. P. Vis. (p. 324) has 'विश्रब्धैः...वराहपतिभिः... and विश्रान्ति लभतां etc.

K. P. Re. (p. 79) has 'विस्रब्धैः....वराहपतिभिः and विश्रान्ति लभतां.... etc.

Thus various editions of the K. P. along with their commentators have variants such as विश्रब्धैः, विस्रब्धैः; विश्वश्तः, and विस्रब्धं कुरुताम् and then वराहपतिभिः or ततिभिः and also वराहविततिः (as in Vāmana. Hindi edn.) and विश्रान्ति लभतां or विश्रामं लभतां as the case may be.

Kāvyānuśāsana of Hemacandra (H. C.) (p. 288) reads this as verse no.

448 in the viveka. It supports विस्रब्धैः... and वराहपतिभिः and विश्रान्ति etc.

We will now consider the Abh. Śā. editions.

B. (p. 31) has विश्रब्धं क्रियताम् वराहपतिभिः

and विश्रामं लभताम्० etc.

J. & R. (p. 65) has विश्रब्धं क्रियताम् वराहपतिभिः

and विश्रामं लभताम्० etc.

Rāghava supports वराहपतिभिः and विश्रब्धं and also विश्रामं लभताम्

U. (p. 68) has विश्रब्धं:.....ततिभिः

and विश्रामं लभताम्०....

G. (p. 37) has विश्रब्धं क्रियताम् वराहततिभिः

with ०पतिभिः noted in the ft. note

and also विश्रामं लभताम्० etc.

SR. (p. 210) has विश्रब्धं क्रियताम् वराहततिभिः

and विश्रामं लभताम्० etc.

Re. (p. 450) has विस्रब्धं......०पतिभिः

and विश्रामं.... etc.

He takes note of 'विस्रब्धैः' below. It may be noted that all these editions give the same number i. e. 11.6 to this verse. Hemacandra has विस्रब्धैः and पतिभिः and विश्रान्ति लभताम्० Normally his readings are more acceptable.

(3) ग्रीवाभङ्गाभिरामं० etc.

This is read by Mammaṭa and Hemacandra.

K. P. Some. (p. 53) has दत्तदृष्टिः

and शष्पैरर्धावलीढैः

and पश्योदग्रप्लुतत्वात्

The editor Prof. Parikh has also noted the variants viz. बद्धदृष्टिः, दर्भैः and प्लुतित्वात्०

Someśvara has no special observation in this respect.

K. P. Allahabad edn. (p. 89) has बद्धदृष्टिः' दर्भैः and ०प्लुतत्वात्

The *Bālā* supports 'दत्तदृष्टिः'

K. P. Mā. (p. 57) has 'दत्तदृष्टिः' दर्भैः and ०प्लुतत्वात्

Māṇikyacandra offers no special remark.

K. P. Pra. and *U.* (p. 117) shows दत्तदृष्टिः दर्भैः and ०प्लुतत्वात्

Udyota observes - अनु पश्चात्पतति गच्छति स्यन्दने रथे ग्रीवावक्रीभावेनाभिरामं यथा स्यात्तथा मुहुः वारंवारं बद्धदृष्टिः दत्तदृष्टिः । perhaps

'बद्धदृष्टिः' is also recognised.

K. P. Vi. (p. 84) has बद्धदृष्टिः दर्भैः and ०प्लुतत्वात्

Śrīdhara has no special observations for any variant.

K. P. Sā. Cu. and Sam. Pra. (p. 134) has **बद्धदृष्टिः दर्भैः** and ०प्लुतत्वात्

No special remark is passed by the commentators.

K. P. Sudhā (p. 148) has बद्धदृष्टिः दर्भैः and ०प्लुतत्वात्

Sudhāsāgara observes : विच्छेदात् बद्धदृष्टिः दत्तदृष्टिः etc.

K. P. Sa. Di. (p. 14) has बद्धदृष्टिः दर्भैः and ०प्लुतत्वात्

Guṇaratna (p. 147) prefers 'दत्तदृष्टिः' perhaps following the *Bālā*.

K. P. Jha. (p. 109) has बद्धदृष्टिः दर्भैः and ०प्लुतत्वात्

Jhalkikar observes : मुहुः वारंवारं बद्धदृष्टिः दत्तदृष्टिः etc. obviously under the influence of Udyota. Jhalkikar also seems to clearly support 'दर्भैः'

K. P. Vis. (p. 132) has बद्धदृष्टिः दर्भैः and ०प्लुतत्वात्

K. P. Re. (p. 79) has बद्धदृष्टिः दर्भैः and ०प्लुतत्वात्

Kāvyānuśāsana of H. C. (p. 118) has दत्तदृष्टिः शष्पैः and ०प्लुतत्वात्

Abh. Śā. *B.* (p. 7) has दत्तदृष्टिः शष्पैः and ०प्लुतत्वात्

J. & R. (p. 16) has बद्धदृष्टिः दर्भैः and ०प्लुतत्वात्

U. (p. 10) has दत्तदृष्टिः दर्भैः and ०प्लुतत्वात्

G. (p. 5) has बद्धदृष्टिः दर्भैः and ०प्लुतत्वात्

'दत्तदृष्टिः' is noted in the ft. note.

SR. (p. 180) has दत्तदृष्टिः दर्भैः and ०प्लुतत्वात्

Re. (p. 430) has - बद्धदृष्टिः दर्भैः and ०प्लुतत्वात्

Dr. Rewaprasad takes note of 'दत्तदृष्टिः' in the foot note.

All these editions agree in reading this verse as I. 7.

(4) चलापाङ्गां दृष्टिं० etc.

This is ready by Ānandavardhana, Bhoja and Hemacandra.

Dhv. I. 1. (p. 62, edn. K. Krishnamoorthy) - has कर्णान्तिकचरः and वयं तत्त्वान्वेषान्मधुकरहतास्त्वं खलु कृती ।

Bhoja (p. 793) has कर्णान्तिकचरः and वयं....खलु कृती ।

HC. (p. 3) has कर्णान्तिकगतः and .....त्वं च सुकृती ।

Again, in the ft. note 'तु' is suggested in place of 'च' as a variant. The viveka (p. 37) reads : कथमिव न सुकृती भवान्

Abhi. Śā. *B.* (p. 15, Verse I, 20) has कर्णान्तिकचरः and वयं....त्वं खलु कृती ।

J & R. (p. 34, Verse I. 20) has कर्णान्तिकचरः and त्वं खलु कृती ।

Rāghava supports the above; i.e. ०चरः, and त्वं खलु कृती ।

U. (p. 32, Verse I. 22) has कर्णान्तिकरः and त्वं खलु कृती ।

G. (p. 16; Verse I. 23) has कर्णान्तिकचरः and त्वं खलु कृती ।

SR. (p. 128, Verse I. 20) has कर्णान्तिकचरः and त्वं खलु कृती ।

Re. (p. 437, verse I. 20) reads - कर्णान्तिकचरः and त्वं खलु कृती ।

He mentions चलापाङ्गां दृष्टिं in the ft. note.

This verse is read as I. 22 by U, and I. 23 by G. While others read it as I. 20. Only HC. offers other variants.

(5) अस्मान् साधु० is read in Bhoja and HC.

Bhoja (p. 590) offers the following variants

viz. प्रेमप्रवृत्ति and reads भाग्यायत्तमतः परं न खलु तद्वाच्यं वधूबन्धुभिः

HC. (p. 136) has प्रेमप्रवृत्ति and भाग्याधीनमतः परं न खलु तत्स्त्रीबन्धुभिर्याच्यते ।

The Abh. Śā. editions read as below :

B. (p. 71, verse IV. 18) has स्नेहप्रवृत्ति and भाग्यायत्तमतः परं न खलु तद्वाच्यं वधूबन्धुभिः

J & R (p. 142, verse IV. 16) has स्नेहप्रवृत्ति and भाग्यायत्तः...वधूबन्धुभिः same as in B.

U. (p. 166, verse IV 19) has स्नेहप्रवृत्ति and भाग्यायत्तं०...वधूबन्धुभिः ।

G. (p. 95, Verse IV. 17) has स्नेहप्रवृत्ति and भाग्यायत्तं...वधूबन्धुभिः ।

SR. (p. 433, Verse IV. 18) has स्नेहप्रवृत्ति and भाग्यायत्तं...वधूबन्धुभिः ।

Re. (p. 490, Verse VI. 17) reads स्नेहप्रवृत्ति and भाग्यायत्तं...वधूबन्धुभिः ।

But Dr. Rewaprasad has a ft. note on सामान्य० He observes 'सा मान्यप्रति० इत्यपि च्छेदः । ततश्च शकुन्तलाबहुमानसूचनमप्यत्र ।

And for भाग्यायत्तं etc. he has a ft. note where he reads दैवाधीनमतः परं न खलु तत्स्त्रीबन्धुभिर्याच्यते ।

This verse has been read as IV-16, 17, 18 and 19 by different editors. HC's प्रेमप्रवृत्ति does not find favour with any, nor his भाग्याधीनं nor स्त्रीबन्धुभिर्याच्यते । which is mentioned in a ft. note by Dr. Rewaprasad, who also offers 'दैवाधीनं' in the ft. note.

An intensive examination of only five verses from Abh. Śā. shows how different editors have selected their variants without any rhyme or rhythm and one and the same verse is shown in a different order by them. We have also seen how writers on alaṁkāra and their commentators have cited these verses from Kālidāsa and how they differ in giving different variants.

Our sole purpose is to bring home only one point viz. that the task of text-editing in case of the works of Kālidāsa is stupendous and attains staggering proportions when we consult the alaṁkāra works, which represent much older traditions. All these have to be taken into account before fixing up any variant and not a single ms. should be taken as useless. The task is truly a 'Mahābhārata' task. Preparing text-critical editions of the works of Kālidāsa requires as much inspiration, insight application and perspiration as in case of the Mahābhārata or the Rāmāyana. Perhaps, the L. D. Institute of Indology, with co-operation from scholars all over the world is in a mood to take up this challenge.

Annotations

1. Total number of mss. on different works are as below :

   22 on Meghadūta.

   35 on Raghuvaṁśa.

   & 40 on Kumārasambhava.

APPENDIX : A

2. The following editions of different works have been utilized by us. The abbreviations are mentioned along with,

1. Kāvyālaṁkāra-sūtra-vṛtti—Vāmana,
N. S. Edn., Bombay 1889 and Hindi Edn. Visvesvara Atmaram & Sons, Delhi, 1954.

2. Dhvanyāloka of Ānandavardhana (Dhv.)
Edn. K. Krishnamoorthy
Karnatak Uni., Dharwar, '74
and also, with लोचन edn. Vidyabhavan, Sanskrit grantha mala, no. 97, Choukhamba Vidyabhavan, Varanasi-1955.

3. Śṛngāraprakāśa of Mahārāja Bhoja Vol. I-IV.
(Śr. Pra.) Edn. Josyer, Mysore (Edns. '55, '63, '69 &).

4. *Kāvyaprakāśa* (K. P.) with saṁketa of Rucaka (middle of the 12th cent. A. D.), the Bālacittānurañjanī (Bālā.) of Narahari Saraswatītīrtha (8241 A.D.), Prabhā of Vidyānātha Tatsat (1864 A. D.). Pradīpa of Govind Thakkura (Pr.) (15th Cent. A. D.), and Udyota of Nāgeśa Bhaṭṭa (Nagojee Bhaṭṭa) (first half of the 18th Cent. A. D.), Edited by Prof. S. S. Sukthankar, Bombay. 1911.

5. Kāvyaprakāśa with Māṇikyacandra's Saṅketa
(K. P. Mā.) (1159-60 A. D.) Edn. Poona, 1921.

6. Kāvyaprakāśa with Someśvara's Saṅketa (K. P. Some.)
(1150-1160 A. D.) Edn. Jodhpur, '59.

7. Kāvyaprakāśa (Allahabad Edn.) with the bālā. of Narahari, the Sārabodhini (Sā. Bo.) of Sri Vatsalañchana Bhattācārya (14th-16th Cent. A. D.), and Darpaṇa by Viśvanātha (14th Cent. A. D.) : Edn. Allahabad, Ganganath Jha Kendriya Sanskrit Vidyapeeth, '76.

8. Kāvyaprakāśa with Viveka of Śrīdhara (1405 A. D.)
(K. P. Vi.) Edn. Calcutta, 1961.

9. Kāvyaprakāśa with Sāhityacūḍāmaṇi (Sā. Cū.) of Bhaṭṭa Gopāla (15th Cent. A. D.), and Cakravartin (beginning of the 14th Cent. A. D.), Trivendrum, 1930.

10. Kāvyaprakāśa with Pradīpa and Udyota (K. P. Pra. & u.)
Edn. Poona, 1911.

11. Kāvyaprakāśa with Sudhāsāgara of Bhīmasena Dīkṣita (K. P. Sudhā) (1723 A. D.), Varanasi, Edn. 1927.
12. Kāvyaprakāśa with Bālabodhinī by Vamanacarya Jhalkikar (K. P. Jha), B. O. R. I. Poona, 1921.
13. Kāvyaprakāśa with Guṇaratna's Sāradīpikā, (K. P. Sā. Dī.), edn. Gujarat University, Ahmedabad, Vol. I. '76 and Vol. II, 1984 edited by the author of this paper.
14. Kāvyaprakāśa - edn. Prof. Rewaprasad Dwivedi, (K. P. Rea.) B.H.U. '81.
15. Kāvyaprakāśa, Hindi Edn. Vishveshvara Pandit (K. P. Vis.) Varanasi, 1960.
16. Kāvyānuśāsana of Hemacandra (HC.) Second revised edn. by Prof. R. C. Parikh and Dr. V. M. Kulkarni; Pub. Sri Mahavir Jain Vidyalaya, Bombay, 1974.
17. Abhijñānaśākuntala (Abh. Śā.) of Kālidāsa, Text. edited by Prof. S. K. Belvelkar (B.) B.O.R.I., Poona, Sahitya Akademi, New Delhi, First Edn. 1965.
18. Kālidāsa's Abhi. Śā. with Rāghava Bhaṭṭa's Comm. Edited by K. M. Joglekar (J & R) edn. Bombay 1913.
19. Mahākavi Kālidāsa Viracita Śākuntala, Prof. Umashankar Joshi (U.) Edn. Gurjar Granth Ratna Karyalaya, Ahmedabad, Edn. 1955.
20. The Abh. Śā. of Kālidāsa with Intro. etc. by Prof. A. B. Gajendragadkar (G.) edn. Surat, 1950.
21. Kālidāsa's Abh. Śā with original Sanskrit Comm. etc. by Saradaranjan Ray, (S. R.) 12th Edn., Calcutta, 1924.
22. Kālidāsa Granthāvali, edited by Prof. Rewaprasad Dwivedi (Re.)—B.H.U., Varanasi, 1976.

□ □ □

The Rare Manuscript of Jhāru Paṇḍita's Commentary on the Kumārasambhavam of Kālidāsa

M. L. Wadekar

Introductory :

The Oriental Institute of Baroda is one of the greatest Indological Institutes of India. It was conceived (in 1893) and established (in 1927) by the fore-sighted Maharaja Sayajirao Gaekwad of Baroda. It has a valuable treasure of more than 27000 Mss., which incorporate the scholarly original works or commentaries on some works, on diverse subjects written in different scripts. Many mss. of the collection are quite rare and works they incorporate are mostly little-known. The Oriental Institute has so far published in the famous Gaekwad's Oriental Series more than 178 original works, based on such rare and valuable Mss. Still there are numerous works on different subjects, which are lying hidden in the form of Mss. in the Institute. Some of them are singular codices of certain works (*codex unicum*), the other copies of which are very difficult to be obtained elsewhere. In this paper, an attempt is made to introduce to the world of scholars, a rare and valuable Ms. of the commentary of a Jain scholar Jhāru on the famous *Mahākāvya*, the *Kumārasambhavam* of Kālidāsa. The work has still remained unedited and unpublished and the Ms. also has been unnoticed, being available perhaps only in the Oriental Institute.

The Rarity of the Commentary and its Ms. :

The *New Catalogus Catalogorum*[1], has recorded more than sixty four commentaries on the *Kumārasambhavam of Kālidāsa*, only few of them have been published. No mention of Jhāru's commentary on the *Kumārasambhavam* is found there. Similarly, among the thirty-eight commentaries, mentioned by Krishnamachariar[2], the Jhārupaṇḍita's commentart is not noticed. The commentary *Pañjikā* of Vallabhadeva is edited and published by Prof. Gautam

Patel[3]. He refers to other four published commentaries on the *Kumārasambhavam*[4] . K. G. Ambika[5] refers to six Sanskrit commentaries from Kerala and gives details about two unpublished Keralite commentaries in one article, published Shri Venkateshwar University Oriental Journal. Unfortunately, the Ms. of Jhāru Paṇḍita's commentary has not received any attention of scholars writing about the *Kumārasambhavam.*

About the Manuscript :

The manuscript of the commentary of Jhāru Paṇḍita on the *Kumārasambhavam* is available in Oriental Institute of Baroda, bearing Acc. No. 2099 i.e. a very early collection of the Institute, during Sir Sayajirao Maharaja (III)'s Royal regime. It is on an old countrymade brownish paper, with total sixty folios, written in *pṛṣṭhamātrā* on both sides of folio in *Devanāgarī* script. The size of the Ms. is 11 cms. x 26 cms. There are about 17 lines to a page and about 60 letters in a line. The *granthasaṅkhyā* or extent of the ms. is about 2400. On the last page, it is noted that this is a copy of Muni Kuśalavijaya, who was disciple of Pt. Śāntivijaya Gaṇi[6]. The scribe begins the ms. with *Om Namo Vītarāgāya,* which indicates Jain origin. The middle portion of each page has artistic design, made by keeping blank space. This is also a Jain peculiarity. The *supra* and *infra* margins are of equal measure. The *Recto* and *verso* margins are also of equal meansures, with four lines drawn on each side. The ms. is written by single scribe in a good hand writing. No date is found anywhere in the ms., but the ms. seems to be old of about 14th or 15th century A. D. from the paper and style of writing. There are many *lacunae* in the manuscript. Moreover the ms. is very very corrupt. These facts indicate ignorance of the scribe regarding the Sanskrit language. From the colophons of the cantos, the name of commentator Jhārupaṇḍita and the name of commentary *Yaśodharanandinī* are known. The title *Yaśodharanandinī* also indicates Jain influence and most probably the commentator Jhārupaṇḍita may be a Jain scholar. The beginning of the ms. is as follows :—

॥द०॥ ॐ नमो वीतरागाय । अस्त्युत्त० ॥ हिमालयो नाम हिमालय इति प्रसिद्धो नगाधिराजो भूभृतां नाथोऽस्ति अद्यापि वर्तते । यद्यद्यापि वर्तते तर्हिं कुत्र वर्तत इत्याशङ्कायामाह । उत्तरस्यां दिशीति ।

The colophon to the first *sarga* is in the following form —

इति झारुपंडितविरचितायां कुमारसंभवटीकायां । यशोधरनंदिन्यां प्रथमः सर्गः ॥छा॥

The concluding portion of the ms. is as follows —

इति श्रीझारुपंडितविरचितायां कुमारसंभवटीकायामष्टमः सर्गः समाप्तः । शुभमस्तु लेखकपाठकयोः ।।छ।। श्री ।।

The ms. contains the commentary only on one to eight *sargas* on the *Kumārasambhavam* and it is complete. The commentator seems to have commented only on eight *sargas* of the *Kumārasambhavam*. Moreover, the text of the verses, commented is not fully presented but only the *lemma* or the *pratīka* only of the verses, commented is mentioned.

The Commentary and Commentator :

It will not be out of place here to give some preliminary details about the commentator and the commentary which would enhance the importance of the rare ms. As with other scholars, no personal / biographical information is available about the commentator. As mentioned previously, from the title of the commentary namely, '*Yaśodharanandinī*,' it may be presumed that he was a Jain scholar. He has referred to Vallabhadeva at some places in his commentary, which indicates his posterity to Vallabhadeva (first quarter of tenth century as mentioned by Prof. Gautam Patel[7]). The work of studying and copying down the ms. is in progress. So far, besides Vallabhadeva, the following authors and works are found referred to by the commentator.

Authors : *Paṇini, Amara, Daṇḍī, Durga, Medinīkāra*. Works - *Rāmāyaṇa, Nirukta, Bhagavadgītā, Harivaṁśa, Mālatīmādhava, Bhāgavata, Mādhavanidāna, Viśva* or *Viśvalocana, Kaṇṭhābharaṇa*. Among these, the mention of the *Kaṇṭhābharaṇa* (1100 A. D.) and of *Medanīkāra* (1200-1275 A. D.) are important for determining his date, which set his upper limit to 13th century A. D.

The scholarship of the commentator is evident from the various sources quoted and referred to by him. He often gives grammatical explanations, quoting Paṇini. He explains the metres and figures of speech. Daṇḍin's *Kāvyādarśa* is frequently quoted for explaining figures of speech. In the first verse, the commentator reads "*Vigāhya*" as against "*Vagāhya*" read by Mallinātha. The verses from the *Harivaṁśa* are quoted for explaining the mythology in the second verse—"*Pruthūpadiṣṭām duduhur dharitrīm*." The commentator gives a romantic explanation of the thickness of breasts of the vergin Pārvatī—*stanyarāhityāt kāṭhinyam*.

Concluding Remarks —

The work of studying, copying down and editing the commentary is still

in progress. The researcher has simply tried to bring to the notice of scholars this rare manuscript of the little-known commentary of Jhārupaṇḍita, available in the Oriental Institute of Baroda.

Annotations :

1. Raghavan, V. : *New Catalogus Catalogorum*, Uni. of Madras, Madras, Vol. IV, 1968, pp. 211-220.
2. Krishnamachariar, M. : *History of Classical Sanskrit Literature*, Motilal Banarasidas, Delhi, 1970, page. 118.
3. Patel Gautam V. (ed.) *Kumārasambhavam of Kālidāsa* (with the commentary of Vallabhadeva), Ahmedabad, 1986.
4. *Ibid.* page 26 : (1) *Prakāśikā* - Aruṇagirinātha (2) *Vivaraṇa* - Nārāyaṇa (3) *Śiśuhitaiṣiṇī* - Caritravardhana (4) Sañjīvanī-Mallinātha
5. Ambika K. G. : "Two Unknown Keralite Commentaries on *Kumārasambhavam of Kālidāsa*," *Shri Venkateshvara University Oriental Journal*, Vol. XL, 1997, part 1 & 2 pp. 107-113.
6. Ms. Oriental Institute No. 2099 folio 60 : — पंडित श्रीशांतिविजयगणि-शिष्यमुनिकुशलविजयस्य प्रतिरेषा ।
7. *Op. Cit.* page 18.

□□□

Proselytism of Jaina Shrines in post-medieval Karnataka

Hampa Nagarajaiah

In the fitness of facts it would be appropriate to start this paper with four statements :

"As elsewhere, South India also witnessed an active build up of Jaina institutions in the early medieval period. The Jainas were widespread and almost every village had a considerable Jaina population as is attested by the ruins and other extant remains" [Ghosh, A. (ed.) : An Encyclopaedia of Indian Archaeology : 1989 : 301]

"Inspite of the profusion of Jaina monuments, there is definite evidence to show that certain Jaina establishments suffered at the hands of the Śaivaites and Vaiṣṇavites. The Sonabhaṇḍar caves at Rājgir were requisitioned by the votaries of Viṣṇu in the eighth century and the Jaina monastery at Paharpur was converted into a Buddhist *Vihāra* by Dharmapāla" [*ibid*, p. 163]

"The Liṅgāyats were particularly hostile towards the Jains, and wherever they could, they appropriated their temples as well as those of the orthodox Hindus." [Henry Cousens : The Chālukyan Architecture : 1926 : 13]

"It is interesting to note how Jaina images are being honoured unwittingly by the followers of the other creeds to this day. In the village Kalkuṇi, a few miles from Sirsi, I found a fragment of the Jaina image of a Tīrthankara with the triple umbrella being adored as Guru Mūrti by an orthodox family of Brāhmaṇas." [Desai, P. B. : JSI : 1957 : 133 f.n. no. 1]

Some of the Jaina sanctuaries and cloisters are requisitioned by the followers of other religion. Similarly many of the Jinaśāsana deities are erroneously recognised as non-jaina gods and goddesses. As long as the ancient architectural remains are preserved and worshipped by whatever name and form, it does not matter !

In the olden days, when the king was all in all, any shift in his faith meant a mass conversion of his kith and kin and other faithful followers. In recent years also, similar instances of exodus of a large group from one faith to another in the footprints of their leader are not lacking. When the great leader Dr. B. R. Ambedkar embraced Buddhism, lakhs of Dalits and Pariahs imitated their master.

While editing the inscriptions in original form and language, concerned editors have added in English a note in brief on the subject matter of the epigraph. Before doing so, the methodology followed is to record the name of the place where the inscription was found. It may be inside outside slab fixed into the wall of the temple, on the pedestal or back side of the image etc. A slab or pillar of Jaina inscription may be found inside/outside a non-Jaina place of worship. Since such details provide some clue to the incidents that might have occured before either shifting the inscription or renovating the same old Jaina temple with required alteration to suit the taste of those who have appropriated the shrine.

It is anybody's guess to assess the situation and other similar circumstances under which the present day non-Jaina places of worship still possess the Jaina relics. One can hardly expect the non-Jaina devotees to gather Jaina inscriptions or edifies from some distant places and preserve them in non-Jaina places of worship. Further, it is curious to note that some of the Jaina epigraphs are found on the slab used for the ceiling/wall/pillar/gopuram/ compound/tank/reservoir of non-Jaina structure. A Jaina epigraph of 10th cent. C.E. being used for the steps on the bank of the river, ironically registers the death by *sanyasana* of Māriabbe, spouse of Māramayya and mother of Aṣṭopavāsirṣi, Būtayya and Attayya [EC. III (R) No. 211 C. 10th cent. Tāyūr (Mysore Dt, Nanjangūḍ Tk) P. 300]

One can not but surmise, on the basis of available data and such other relevant contextual evidence, that most of these, if not all of these temples are either converted or restructured into non-Jaina holy places of worship. In the process, inspite of careful remodelling of Jaina temples into non-Jaina temples, somehow Jaina relics and vestiges are retained to speak of conversion of Jaina churches.

Without taking any hasty decision in the matter I have tried to maintain objectivity, to restrain from passing unwarranted remarks.

I have made only a sample survey at random. But a thorough, systematic and meticulous study, without any malice towards any faith, and research would yield more conclusive and authentic evidence on this topic. A dispassionate and unbiased study would help the students of history, religion and socio-culture to reconstruct the position of religions in the early history of Karnataka.

Conversion of Jaina sanctuaries and Buddhist Vihāras into Hindu shrines was a common affair in Andradeśa. A good number of Buddhist stūpas were converted into Hindu places of worship at Cēbrōlu, Bidāpur and Bezvāḍa. It is said that Ādi-Śaṅkarācārya and his followers demolished Buddhist and Jaina holy centres, including monasteries, sanctuaries and libraries, systematically and ruthlessly at various places including the region of Nāgārjuna Koṇḍa.

In Karnātaka also similar incidents occured, particularly after C.E. 1184. [SII. XV. No. 56, C. E. 1184, Tāḷikōṭe (Bijapur Dt, Muddebihāḷ Tk.)]. Till then except for rare and stray incidents, people of all castes and creed, sects and sub-sects happily lived together. But after 1184, Ādayya, Virupayya, Goggarasa and their followers took cudgel against Jaina saints, temples and the residences of its followers to the extent of brutally killing them. This has been widely and graphically recorded in the inscriptions, sculpture and literary works. Some *kāvyas* have clearly mentioned even the numerical figures of Jaina temples that the followers of their faith were successful in destroying 800 and 700, totally 1500 Jaina temples. Conceeding the element of exaggeration in such statements made by over enthusiastic author it is certain that a huge number of Jaina temples were demolished in religious clashes.

When a group of fanatics armed with lethal weapons attacked them, majority of the fear stricken Jains took to mass conversion. Lakhs of Jains in Karnataka inevitably embraced Vīraśaivism. This enmasse exodus of Jains to Vīraśaivism happened from the last decade of twelfth century onwards and in the 13th and 14th centuries. Regarding the dilapidated Jaina shrines in the process, something had to be done. When hundreds of *basadis* were uncared for, lying vacant non-Jains preferred to appropriate those still in good condition. Therefore, they requisitioned Jaina temples wherever was convenient, by retaining the whole building and structure as it was, but by replacing the Jaina idols with the figures of their faith. After removing the Jaina images either they were immersed in the nearby tank, reservoir or well, or placed outside the

temple or village or used for some others purpose. Henry Cousens has observed this fact in this book on "The Chālukyan Architecture [1926 : p. 13] : "The Lingāyats were particularly hostile towards the Jains, and wherever they could, they appropriated their temples as well as those of the orthodox hindus."

Rāmagiri-Rāmatīrtham flowered into an influential centre of Nirgrantha faith and learning under the patronage of Viṣṇuvardhana-IV (C. E. 771-806). The Rāṣṭrakūta king Govinda-III (C. E. 793-814) had once retired to the banks of the Tuṅgabhadrā and fixed his camp at the Rāmēśvara-Tīrtha when Viṣṇuvardhana-IV and his successor Vijayāditya-II (C. E. 808) of Vēngi were ruling. Prince Amoghavarṣa-I was then a tiny tot of six years old. Trikālayogin Siddhāntadeva muni, an ācārya of Desigaṇa, preceptor of the king stayed here to observe austerities. Ugrāditya, a celebrated Jaina pontiff and author of *Kalyāṇa kāraka*, a treatise on medicine, completed his work at the same Rāmagiri Jaina monastery. At present the place is in the custody of non-Jains.

The modern Rāmalingeśvara temple at Kuḍitini and Mailāralingēśvara temple at Bāgaḷi, both in Bellary District. Ānjanēya temple at Basavana Bagēvāḍi (Bijapur Dt) were basically Jaina sanctuaries. The Ānjaneya (Hanumān) temple at B-Bagēvāḍi still possess all the early traits of Jaina *mandir*. Image of Jina in the Lalātabimba-tutelary figure and images of Yakṣa-Yakṣī, Jaina deities are preserved as indisputable proofs. Hoḷagundi (Bellary Dt, Haḍagali Tk) Mallinātha shrine of C. E. 1167 has become Sōmanātha temple, but epigraphs and sculptural details speak of its Jaina origin. Śiragēri (Bellary Dt., Śiraguppa Tk) Pārśva temple has been converted into Vīrabhadra temple. But, the tutelary deity remains to be a Jina. On the Vimāna of all the three sides of garbha-gṛha, Jina Pārśva in Kāyotsarga figure prominently.

A Jaina inscription (C. 12th cent.) found on the pillar in the southern *gōpura* of the famous Vīranārāyaṇa svāmi temple at Gadag, a district headquarters states that Mahadēva, a follower of Jaina faith and a *mahā-pradhāna*, chief-minister of Ekkalabhūpāla of the town Uddhare (Udri in Shimoga Dt) renovated the Jinālaya. Mahādēva a worthy chief minister of the stature of the well-reputed early Jaina ministers like Nimbasāmanta, Gaṅgapayya *pradhāna* and Rēcaṇa-daṇḍēśa. Jina-Pārśva image, seated in *paryaṅkāsana*, and some other Jaina edifice are found in the compound of the above temple. Prof. M. H. Haridas, a research scholar, has rightly observed that up to the end of 12th cent. a Jaina temple existed at this place.

Siddheśvara temple at Kurugoḍ (Bellary Dt) to the west of the village and east of the Sangameśvara temple, facing south was originally a Jaina shrine in granite, founded in C. 12th cent. during the rule of the Sindas of Kurugoḍ. Dr. C. S. Patil has recorded all the architectural details of the temple and says that the Jina figure on the projecting *lalāta* block has been chiselled out; however the triple umbrella is preserved [Temples of Raichur and Bellary Districts : 1992 : 163].

At Hoḷenarasīpura (Hassan Dt.), door-frame in the Śrīvaiṣṇava temple of Srī Rāmānujācārya contains a Jaina record. At Aṅkanāthapura also a door-frame in the Aṅkanatheśvara temple contains a Jaina charter. At Hosur (Gadag Dt), a slab containing a Jaina inscriptions dated C. E. 1028, is fixed to the ceiling of a Śaiva temple. At a Jaina church of the same Hosūr and a Jaina monastery of Yāpanīya sangha monks are converted into Viraśaiva temples.

A Jinālaya near the bus-stand at Hāveri, a district headquarters; has been converted into Virabhadra temple. A record of about 13th cent. found on the beam states that Mādarasa had the foot prints of a deity in this Jina mandira. Padmabbarasi, consort of Būtuga, a Gaṅga King, commissioned a triple Jaina temple at Naregal in C. E. 950. But one portion of it is converted into Nārāyaṇa temple and another portion has become a Sōmēśvara temple. A beautiful Jaina shrine commissioned by Bankeya at Koṇṇūr (Dharwar Dt) in C. E. 860 during the time of Amoghavarṣa has been converted into Parameśvara temple. This Jaina temple had once enjoyed *Cakravarti-datti*, endowment of the emperor.

At Tēṅgaḷi (Gulbarga Dt) a Jinālaya founded by Yāpanīya monks has been changed into Pāṇḍuranga *devālaya*. Once a huge Jaina shrine situated outside proper jevargi (Gulbarga Dt.) has been appropriated by others and has been adapted into god Hanumān temple. But, it still bears the Jaina vestiges of Rāṣṭrakūṭa period, with the tutelary figure of Jina being intact.

At Baṅkūr, which was a nerve center of Jainism, there were more than three Jaina houses of worship and a cloister of monks. One of these *caityālayas* has been recognised as Rāmeśvaradēvālaya. It is fairly a big sanctuary consisting of a separate subsidiary shrine for goddess Padmāvatidēvī, preserved even to this day, loosing its original features. There is a small shrine above the main sanctuary with steps leading to it. A side entrance to the temple bears Jina *bimba* at centre of door-frame. Door-frame of the *sanctum* of *mūla-nayaka*, the

presiding deity, also the figure of seated Jina at the centre.

In the Gulbarga District, apart from the above Jinālayas at Baṅkūr, Jevargi and Tēṅgaḷi, in a number of small and big townships Jaina places of worship have been remodelled into non-jaina cathedrals. Of the three known Jaina houses of prayer at Sulepeṭe, one is modified into Vīrabhadra *dēvara guḍi* and another is altered into Śambhu-lingēṣvara *guḍi*. Vīrabhadrēśvara chapel was a triple Jinālaya which has still preserved a figure of Jaina Śrutadevi, Dharaṇa-Padmāvati in the form of Nāga-Naginī, similar to the type found at Harasūr Jinālaya. At Nāgāvi (K) a Jaina *basadi* has been deviated into a Guṇḍerāya or Baṅgārada *guḍi*. Jaina cathedral dedicated to Jina Pārśva, at Nelōgi (Nelavagi) in the Hūgāra lane has been transformed into Īśvara *devālaya.*

One of the extraordinary feature of such transition is the deviation of a Jaina chapel at Harijanavāḍa in the outskirts of Pēṭ-Śirūr in the same Gulbarga district. One of the Jaina churches of the Rāṣṭrakūṭa period, a Nēminātha *basadi* shrine of 22nd Tīrthaṅkaṛa, exalted teacher propagator of Jaina faith and builder of the ford, has been now appropriated by the Harijans of the place. The basic plan of this tenth century Jinālaya is simple and consists of three components namely a square *garbhagṛha, sanctum, sanctorum*, adjoined by an *ardhamanṭapa* and a sabhāmaṇḍapa (*navaraṅga*). Five ornate jambs of the *gūḍhamaṇḍapa* door-frame are intact but the decorative details are not clearly visible since it is slightly worn out and covered with coating of colour painting. Gajalaksmi is found tutelary figure at the centre as an auspicious figure. But up above the tutelary figure is found the Jina figure in bas relief.

The image of Nēminātha, the presiding god of the temple, seated in *paryaṅkāsana* is placed on the floor. The seated figure is capped with triple umbrella, and middle portion of the left arm is chipped off. Though other minute details of the sculpture are blurred because of the deep blue painting, the two cauri-bearers are visible. On the back of seated Jina is shown a pillow like cushion and standing lions on either side, above it composite fantastic animal with its mouth wide open, and above it are the *cāmaradharas.*

An image of goddess Ambikādevī alias Kūṣmāṇḍinī-dēvī is placed to the right side wall of the intermediate compartment between the shrine-cell and *sabhāmaṇḍapa*. Ambikādevi, female elemental spirit and acolytic divinity attending upon Jina Nēminātha, in early posture with one leg flexed and placed on the seat and the other gracefully folded from the seat, resulting in

ardhapadmāsana or *lalitāsana bhangi*. Of the two hands, front portion of right hand is broken, left hand has covered the back of her son sitting on her lap. A portion of his neck is also broken. Ambika's hair style is in the typical Rāṣṭrakūṭa period. The four columns in the middle hall are moderately ornamented, but their formal components and decoration betray typical Rāṣṭrakūṭa style. Local devotees worship Nēmināthа in the name of god Buddha and the Jinālaya is called as a Buddhālaya or the temple dedicated to Lord Buddha.

Inscription on a slab built into the front wall of Basavaṇṇa temple at Sōmāpura (Dharwar Dt, Nargund Tk), of the reign of Bhuvanaika-malladeva Someśvara-I, dated C. E. 1074, states that when *mahāmaṇḍaleśvara* Mārasimha, the Śilāhāra chief was governing Kūṇḍi-3000 and Miriñje-3000 (Miraj) region, a grant of land for a feeding house for Jaina ācāryas and a Jaina *basadi* was made in the presence of the Mahājanas of Mekkegēri in Naragunda Tk.

J. F. Fleet has recorded some instances of conversion of Jaina monuments : "Inscription number V is from a stone slab let into wall of an old Jain temple, now, as in the case with almost all the Jain temples of these parts, converted into a Linga shrine - at Kalhoḷi, the ancient Kalpoḷe, in the Gōkāk Tālukā of the Belgaum District."

Analogous to this, a slab set up in the Sōmēśvara *guḍi* at Nadiharḷahaḷḷi (Dharwar Dt, Ranebennur Tk), contains a Jaina inscription of historical importance, dt. A. D. 1168. It registers a grant of land made by Arasigāvuṇḍi and Nāga-gāvuṇḍa, a country sheriff, to the Ṛṣabha Jinālaya, constructed by them, and the gift was made for feeding the Jaina monks and nuns.

Alike the above instances, an inscription at Jakkali village (Gadag Dt, Rōṇ Tk) on a stone leaning against the front wall of Kalamēśvara *guḍi*, though is badly damaged, refers to the rule of the Cālukya king Vikramāditya-VI. It registers a gift of land to a Jaina church in the year C. E. 1117, the details of which are completely lost.

Aṇṇigeri, a *rājadhāni* of Beḷvola country (Dharwar Dt, Navalgund Tk) was a venerable stronghold of Jaina faith. Abbaṇabbe, mother of Pampa (C. E. 941) hills from this hoary Jaina pilgrim seat. One of the epigraphs of Aṇṇigeri engraved on a pillar set up in front of the Banaśankarī temple, dated Circa 751 C. E., speaks of the erection of a Jaina shrine by Kaliyamma, the headman of Jebuḷageri, an extension of Aṇṇigeri [BKI.I-i. No. 5] A kin to this, another

epigraph on a slab set up in front of the Purvada Virappa temple, contains an allusion to a group of *pañcabaśadi*, five Jaina temples and another Jaina temple named Permāḍi [Arsie 1928-29, App-E. No. 207. C. E. 1184]. Evidently, the two temples where these two lithic records are found, were Jaina temples in the early period upto the 13th cent. C. E. and conversion has taken place only after 14th cent.

En passant, by the way, a few facts regarding the historical significance of this place and its surroundings, as gathered from inscriptions of this area, deserve to be contemplated. Aṇṇigeri, Puligeṛe, Muḷgund and Gadag of this tract were places of consequences not to be overlooked in the context of Nirgrantha influence upto the 13th cent. the above mentioned places were cardinal centres of Jaina faith, and continuously under the administration of Jaina rulers. Epigraphical and architectural discoveries of the past six decades have revealed the existence of a large number of Jaina edifice in this track of above 60 kms. Brahmaśiva (C. 1175 C. E.) is the first and earliest poet to refer to the conversion of temples and proselytism. He has mentioned above the appropriation of Jaina houses of worship at Kolhapur and Puligeṛe. Dēvacandra (18th-19th Cent.) also reflects identical statements in his work Rājāvaḷ kāthāsāra and has provided data on the destruction of some Jaina temples.

Dēvacandra has recorded that Biṭṭideva, the Hoysaḷa king, changed his name to Viṣṇuvardhana under the influence of Rāmānujācārya and converted Jaina house holders and places of worship into Viṣṇu faith, including Celuvarāyasvāmi temple at Mēlukoṭe (Mandya Dt), originally a Jaina shrine. Dēvacandra does not mince matters and states that Śankarācārya uprooted the Jaina idol of Jaina temple at Śriṅgēri and installed an idol of Sarasvati. Historians have also corroborated the statement with evidences and a Jaina temple exists to this day by the side of the Śāradambā temple which is also converted to a larger extent.

A huge *mānastambha* before the Śāradāmbā shrine, bereaved of all Jaina traces, also provides the clue substantiating the statement of Dēvacandra.

Dēvacandra cites two more such examples : One, the image of Mallinātha Tīrthaṅkara being replaced by Śivalinga on the Beṭṭadapurhill (Mysore Dt) and christened as god Malleśvara, two, a Jaina temple being converted into a Vīraśaiva place of worship at Talkāḍ (Mysore Dt). In chapter ten, Dēvacandra gives an account of the Muslim king of Delhi, who converted

Jaina shrines into Muslim mosques. Dēvacandra cites particular incident of the Jaina caves at Candradroṇahill being requisitioned by the *fakirs*.

Another Jaina author, Candrasāgara Varṇi alias Brahmaṇāṅka, a contemporary of Devacandra, is also vociferous and highly vocal above this fact.

Rameśvara temples of Harakere and Taṭṭēkere near Shimoga have undergone a lot of changes after their conversion. Rāmēsvara temple at Harakere was a *paṭṭa-Jinālaya*, Jaina shrine of the palace, of Maṇḍali-Thousand rulers during 11th cent. Mahā-maṇḍaleśa Bhujabala Ganga Permmāḍi Barmmadēva, his crown-consort, four sons and a grand son, all the seven dignitories made grants of land (specified), in the year C. E. 1065. At the near by Taṭṭakere village is a small shrine called Ramēśvara guḍi. But, originally a Jaina temple existed at that place, founded by Nokkayya, a minister. A Jaina temple by name Gaṅga-Jinālaya, built in 11th cent. at Purulēgrāma (Shimoga Dt and Tk) has been converted into Vira-Somēśvara temple. Another inscription, on the pedestal of the Linga, contains information above Jaina *basadi* and of Nēmicandra-bhaṭṭarakadeva, chief preceptor of the basadi.

Two inscriptions (Arie 1962-63, No. B-762-763, 'Intro,' p. 35, parah-4) engraved respectively on the right and left niches in the maṇḍapa of the Mahadeva temple at Goraṭa (Bidar Dt) refer to the images of the Jaina deities which were dedicated by the disciples of Tribhuvanasēna Siddhāntadeva and Munisuvrata Siddhāntadeva. It is obvious that the present Mahadēva temple was formerly a Jaina basadi and the Jaina images on the door-jamb support this. Of the two preceptors noted above, it is probably to the former's death that epigraph number 767, also from the same place, refers. The date of the latter record is C. E. 1130.

Śrī Raṅgasvāmi shrine at Honnūru (Mysore Dt, Periyāpaṭṇa Tk) was a Jinālaya with the *mūlanāyaka* Jina bearing the *nāma*, lines on the forehead, after was appropriated by the Vaiṣṇavas. Jina Pārśva basadi at Hatṇa (Mandya Dt, Nāgamaṅgala Tk) has become Śrī Vīrabhadrasvāmi sanctuary. The image of Arhat Pārśva set up on the pedestal has been replaced with the idol of god Vīrabhadra.

Mahāpradhāna Malla, Bāca and his son Pāyiseṭṭi constructed Anantanātha Tīrthaṅkara basadi at Kalkēri (Bijāpur Dt, Sindagi Tk) around circa 12th cent. C. E. Later in the year C. E. 1244, at the request of Kamalasēna muni, a Jaina pontiff, the *seṭṭiguttas*, the *Mummuridaṇḍas* and the 200 *Mahā-*

janas of the same Kaḷkēri village donated a land and a vacant site to perpetuate the daily *pūja* in the Jaina temple. This inscription is now found in the Vīraśaiva temple called Mallayyana *gudi*, 'temple of Mallayya.'

The donation was made to the above Jaina place of worship during the reign of Yādava olim Sēuṇa king Singhaṇa [SII. Vol. XX. No. 202. C. E. 1244). Either the Jaina temple has been converted into a Hindu temple or the inscription slab must have been shifted, brought and kept in the corridor. If the latter is the case, why did the Jaina epigraph was accommodated in the visa-vis a non-Jaina house of worship is a question worth pondering.

Similar instances are not lacking. A stone set up near the temple of Iśvara at Hirē-singanagutti (Bijapur Dt, Hungund Tk) mentions in unmistakable terms that the famous Jaina friar, Bālacandradeva of the Dēsiga-gaṇa Pustaka-gaccha flourished during the reign of Tribhuvanamalla Vikramāditya-VI (1076-1126) the Cālukya emperor. On the basis of internal and external evidences available, the date of this inscription can be fixed as C. E. 1080 [SII. XI-ii. No. 109. pp. 262-63].

The top portion of the slab bearing an epigraph [EC. IX (R) No. 106. C. E. 1136], which had been built into the roof of the Sōmanāyaki shrine, is broken and lost. It refers to the reign of Hoysaḷa king Viṣṇuvardhana. It records *mahā-pradhāna* Immaḍi-daṇḍanāyaka Biṭṭimayya alias Viṣṇu-daṇḍanāyaka's genealogy. He was the son of Ciṇṇarāja and Candare, and grand-son of Udayāditya and Sāntiyakka. The king looked after him like his own son, celebrated his thread ceremony, got him married to the daughter of his commander-in-chief, and bestowed upon him the office of *sarvādhi-kāri*, Biṭṭiyama, a devout Jaina by faith, commissioned a Jaina pagoda at Dōrasamudra, the capital, and for the worship and offerings in which a gift of a village was made to him. Biṭṭiyamma made it over to his preceptor Śrīpāla Traividyadēva whose pontifical genealogy is also recounted.

During the rule of Hoysaḷa Vīraballāḷa alias Ballāḷa-II, his subordinate Yeṛeyaṇa made a grant of land to the Koḍehāḷa basadi, on November 16 of 1175. This inscription is found in Kōdaṇḍarāma temple at Kyātanahaḷḷi (Mandya Dt, Pāṇḍavapura Tk) [Vide EC. Vol. VI (R) Pandavapura 15 C. E. 1175. p. 113]. A pillar fixed to the north outer wall of lord Cennakēśava temple at Mūḍahaḷḷi, a village in Nanjangūḍ taluk (Mysore Dt) bears a Jaina inscription of circa 12th cent. [EC. Vol. III (R) Nj. 200. p. 293].

An inscription on a broken slab lying near the Āñjanēyasvāmi chapel in kuruvatti (Bellary Dt, Harapanahaḷḷi Tk) opens with a Jaina invocatory verse. Mahāmaṇḍalēśvara Śaṅkaradēva, a Duke under Vikramāditya-VI, the Cālukya sovereign, made over gift of land to Jaina sanctuary. Hanumantadēvara *guḍi* at Guṇḍa-karjagi (Bijapur Dt, Muddebihāḷ Tk) contains a charter recording the names of Jaina deities of Aparājitadēvi, Kubēra etc. [SII. XV. No. 591. C. 12th cent.] Poysaḷa Jinālaya, a Jaina shrine of royal status, has been appropriated as Mādhava temple at Muttatti (Hassan Dt.) Vāsudeva temple at Gorūr (Hassan Dt) and Āñjanēyaguḍi at Kumbhenahaḷḷi were Jaina houses of worship.

An aged Melguḍi Jaina sanctuary in Haḷḷūr, dated C. 880 C. E., of the Rāṣṭrakūṭa period, now enshrines a Śivaliṅga and Nandi : 'A fragment of the original stele bearing a Jina is lying inside the hall. The images of Pārśvanātha on the facade of the gūḍhamaṇḍapa have been deliberately mutilated; this may have been during the Vīraśaiva uprising when many Jaina temples in northern Karnāṭaka were forcibly converted into Śaivite temples' [Soundara Rajan, K. V.: EITA (eds), Meister and Dhaky, M. A.: 1986 : 147]

At Mukkaḍihaḷḷi (Cāmarājanagara Dt) a hoary Jaina place of worship has been converted into a Māriguḍi, abode of a village deity, with the images of Kūṣmāṇḍini and Padmāvati intact. A fragmentary record containing an eulogy of Nayakīrti Siddhānta Cakravarti, a Jaina ascetic of C. 12th cent. is found engraved on a pillar before the Māriguḍi at Bāḷe-Attikuppe [Mandya Dt, Pandavapura Tk : EC. VI (R) No. 245. P. 320]. A dilapidated archaic temple dedicated to Tīrthaṅkara at Doḍḍagadda-Vaḷḷi (Hassan Dt) has been requisitioned as a Śivālaya. The modern Vīrabhadra dēvālaya at Hire-Aṇaji was once Neminātha Basadi. A venerable Jaina house of god at Iṅgaḷagi (Gulbarga Dt/Citāpur Tk) founded by Jākaladēvi, queen consort of Vikramāditya-VI, the Cālukya monarch, in C.E. 1095, continues to exist except that the image of Jina in the *sanctum* has been very conveniently replaced by Śivalinga.

A Jaina shrine commissioned in C. 5th cent. C. E., perhaps the oldest of Jaina temples built of stone, at Yelavaṭṭi (Shimoga Dt) has been converted into a Śivālaya, but curiously the aged temple has been well preserved. Mallikārjuna Śivālaya at Soudatti, Śivālaya at Hūli, Bhavāniśankara temple at Hubli, Haṇumantana guḍi at Muttige, Canna-Basavaṇṇa temple at Cikka-Māgaḍi, Śivālaya at Udri and Erēhaḷḷi (Davanagere Dt, Honnali Tk) were all originally Jaina temples. Varāhasvāmi temple at Yeḷaṅdur (Mysore Dt) was a Jina Pārśva

basadi.

Hassan District has to its credit a good number of Jaina shrines being converted into non-Jaina houses of God. In Hassan proper, Virūpākṣa temple was basically a Jaina chapel. This place of worship, inspite of many alterations, has the seal of Jina images. At Haḷēbīḍu, capital of the Hoysaḷas, Beṇṇeguḍḍa Bhūtēśvara temple has still retained its original traits of Jaina stamp. At Puṣpagiri, a village near Haḷēbīḍu, Virabhadra temple on the small hillock called Puṣpagiri, and the Mallikārjuna temple in the heart of the same village, were both converted jinālayas.

Parallel examples are very many, with another above 38 temples of Jaina faith being appropriated by the non-Jaina sects. Analogous conditions prevail in the neighbouring states of Andradēśa, Tamilnāḍu, Kerala and Mahārāṣṭra.

Annotations :

1. Most of the Jaina shrines are converted into Āñjaneya alias Hanumanta *dēvaru* temples.
2. Numerically, after Āñjaneya temples, number of conversion to Vīrabhadrasvāmi and Rāmesvara temples are more.
3. Even though the tutelary figure of Jina, either seated or standing in *Kāyōtsarga* posture, is erased in many temples, yet it is preserved in some shrines.
4. Original monuments of Jaina edifice are somehow preserved along with the replaced ones, in some places. Such Jaina vestiges contain the images of Jina and *Jinaśāsana* deities, either mutilated or intact, and lithic records.
5. Annihilation of Jaina temples cannot always by attributed to the act of hostile sects. Because, an element of natural devastation has to be considered.
6. Apropriation of Jaina temples does not always mean an act of vengeance. Giving margin for such nemesis, we should consider a very large number of unprotected Jaina chapels, lying vacant for centuries. Hence, those who were willing to save the old architectural remains volunteered to requisition the holy places of worship of their choice. Hence, appropriation of holy places cannot be generalised as an act of retribution.

□□□

Yajña-Upavīta According to Jainism

S. A. Shirguppi

Introduction

Yajña-upavīta according to Jainism is the most sacred one and is of the three jewels namely the right belief, the right knowledge and the right conduct, which together constitute the path of liberation (**सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः**). It is again of the nature of the speech of the Jinas and is a mark of the pious Soul. It is the main limb or the body of the house-holder's religion and is the seed of the religion of the Jinas. It is an ideal lamp of the path of liberation and is the root-form of the right deeds such as giving gifts or donations (दान) and worship etc. such yajña-upavīta is the most sacred one and is also called as Brahmasūtra (ब्रह्मसूत्र) which is worn by the house-holder. Essentially and carefully it is kept at the high place of the body (उच्चस्थान), while performing the activities like answering the calls of the nature (मलसूत्रविसर्जनादि), vomiting (वमन) and the sexual intercourse (मैथुन) etc.

Concept :

In one of the Sanskrit stanzas found in दानशासन it is said :

देवपूजा गुरोः सेवा दातिः स्वाध्यायसंयमौ ।
दयैतानि सुकर्माणि गृहिणाम् सूत्रधारिणाम् ॥

The meaning thereby, 'In case of a house-holder, who wears a sacrificial thread has the following right deeds, namely, the worship of the Gods, service of the preceptor (saints), giving gifts or donations, study of the scriptures, self-control and compassion towards living beings etc.

The house-holder who wears a sacrificial thread has to recite the following incantation (मंत्र) while wearing yajña-upavīta. The Sanskrit incantation is as follows :

ॐ -ह्रीं सम्यग्दर्शनज्ञान-चारित्रेभ्यो नमः ।
यज्ञोपवीतसंधारणं करोमि ॥

The meaning of the above incantations is, 'I salute right belief, right knowledge and right conduct and wear the sacrificial thread.'

A reference to yajña-upavīta is found in *Jainendra Siddhānta Kośa* Part III by Jinendra Varni. The very first reference in it is given to *Mahāpurāna* of Bhagwat Jinasenācārya Chapter 38 Verse 112.

The verse runs thus :

उरोलिङ्गमथास्य स्याद् ग्रथितं सप्तभिर्गुणैः ।
यज्ञोपवीतकं सप्तपरमस्थानसूचकम् ॥

The meaning thereby -

The symbol of his chest is the sacred thread (यज्ञोपवीत) with seven threads, and it is indicative of seven supreme abodes."

Secondly we get a reference in *Mahāpurāṇa* (महापुराण) Chapter 39 verse - 95 as :

यज्ञोपवीतस्य स्याद् द्रव्यं त्रिगुणात्मकम् ।
सूत्रमौपासिकं तु स्याद् भावारूढैस्त्रिभिर्गुणैः ॥

The meaning of the above stanza is "The three threads which form यज्ञोपवीत of a Jaina house-holder is called as his द्रव्यसूत्र and the यज्ञोपवीत which is formed of the three threads in the form of the right faith (सम्यग्दर्शन) the right knowledge (सम्यग्ज्ञान), and the right conduct (सम्यग्चारित्र) which arise in the heart of a house-holder is called as his भावसूत्र. This can be viewed from निश्चयनय and व्यवहारनय.

Thirdly we get a reference to महापुराण Chapter 41 verse 31 as -

एकाद्येकादशान्तानि दत्तान्येभ्यो मया विभो ।
व्रतचिह्नानि सूत्राणि गुणभूमिविभागतः ॥

The meaning thereby -

"This is addressed by the emperor Bharata (भरत) to Lord Vṛsabha (वृषभ) as "Oh ! Master, I have given to the house-holders, as per the division of "प्रतिम" which form the nature of the monk of the vows from one to eleven sacred threads (सूत्र)."

Who can wear यज्ञोपवीत ?

About this we get a reference in महापुराण Chapter 40 verses from 167 to 172 which run thus :

तत्तु स्यादसिकृत्या च मष्या कृष्या वणिज्जया ।
यथास्वं वर्तमानानां सद्दृष्टीनां द्विजन्मनाम् ॥१६७॥

कृतिश्चेद् कारणाद् यस्य कुलं संप्राप्तदूषणम् ।
सोऽपि राजादिसंमत्या शोधयेत् स्वं सदा कुलम् ॥१६८॥

तदस्योपनयार्हत्वं पुत्र-पौत्रादिसंततौ ।
न निषिध्यं हि दीक्षार्हे कुले चेदस्य पूर्वजाः ॥१६९॥

अदीक्षार्ह कुले जाता विद्याशिल्पोपजीविनः ।
एतेषामुपनीत्यादि संस्कारो नाभिसंमतः ॥१७०॥

तेषां स्यादुचितं लिङ्गं स्वयोग्यव्रतधारिणाम् ।
एकशाख्यधारित्वं संन्यासमरणावधि ॥१७१॥

स्यान्निरामिषभोजित्वं कुलस्त्रीसेवनव्रतम् ।
अनारम्भवधोत्सर्गाद्यमश्यापेयवर्जनम् ॥१७२॥

The meaning thereby—

He who according to his fitness, lives on trade, agriculture, writing, sword etc. such Brahmanas (द्विज) possessed of right faith, can wear sacrificial thread. The man, whose family is spoiled, such a person, when purifies his family after getting the permission of the king and the society etc. and if, in his case his ancestors, would have been born in a family which is fit for accepting monk-hood, then in case of his sons, and grandsons etc. there is no denial of wearing sacrificial thread. He who is born in a family which is not fit for accepting monkhood and lives on dancing, singing etc. and on sculputre in case of such a person there is no permission of wearing sacrificial thread, and in case of such persons if they according to their fitness accept vows, this can be a mark of their fitness that they should wear a Dhoti till संन्यासमरण. The persons who wear sacrificial thread should eat meatless food, they should enjoy their own wives, they should adopt अनारम्भम् killing or हिंसा and should abandon the things which are not fit to be eaten and not fit to be drunk (अभक्ष and अपेय).

We have again a reference in *Mahāpurāna*, Chapter 38 verse 22 as

गुणभूमिकृताद् भेदात् क्लृप्तयज्ञोपवीतिनाम् ।
संस्कारः क्रियते तेषां अव्रताश्च बहिष्कृताः ॥२२॥

The meaning thereby—As per the division of प्रतिमऽ those who have worn the sacred thread such all of them were facilitated by Bharata. The remaining अव्रतिऽ were made to go out.

We have a reference to उपनीतिक्रिया in saṁskāra chapter 2 verse 2 as 'the boy right from his birth, in the 8th year he can wear the sacred thread.'

The Brāhmanas who are spoiled in their conduct, their sacred thread is said to be the sinful sacred thread. This can be seen in the Sanskrit stanza in *Mahāpurāṇa* chapter 29 verse 118 as :—

पापसूत्रानुगा यूयं न द्विजा सूत्रकण्टकाः ।
सन्मार्गकण्टकास्तीक्ष्णाः केवलं मलदूषिताः ॥११८॥

The meaning of above stanza will be, 'You people, wearing sacred thread in your neck, you become the severe nail in the right path. Those who walk according to the sinful form of thread, you are simply spoiled with dirt and that you are Brāhmaṇas.

This can be given the reference of *Mahāpurāṇa* as :

पापसूत्रधरा धूर्ताः प्राणिमारणतत्पराः ।
वत्स्र्यद्युगे प्रवत्स्यांन्ति सन्मार्गपरिपन्थिनः ॥५३॥

Just telling the (meaning of the वृषभ) of the dream of King Bharata the foretelling of Lord वृषभ is as follows :

Those who side with the sin or those who wear the sacred threads as if the mark of the sin, those who are always, busy with killing animals those prudent Brāhmaṇas, they will become opponents in future of the right path.

The persons, who are born in the right families, should wear sacred thread (संस्कार Chapter 2).

Reference-Books

1. *Jainendra Siddhānta Kośa*-Part III by Jinendra Varni.
2. *Mahāpurāṇa of Jinasenācārya.*
3. Saṁskāra (संस्कार)
4. *The history of Caste System* (वर्णव्यवस्था)
5. *Trivarṇacarcā of Somadeva.*

□□□

Jain Yoga—Stages of Spiritual Development : Guṇasthāna

Mukul Raj Mehta

Jainism believes that soul is inherently pure. But, due to karmic matters, its purity is tainted since the karma is responsible for its imperfection and the spiritual progress is determined by the extent of removal of karmic particles. Guṇa means the life-force or essence of soul, equanimity, conduct, virility, etc. and Sthāna means the higher and lower stages of the purity. Guṇasthāna is the stages known as 'states of virtue'. The virtue does not mean an ordinary moral quality but it stands for the nature of soul i. e. knowledge, belief and conduct[1].

Guṇasthāna is a logical order of decreasing sinfulness and increasing purity[2]. According to Jainism, the soul has potentiality or inherent capacity to come out of the saṃsāra and to attain emancipation. This capacity or tendency causes detachment with the worldly pain and pleasure and tries to elevate the self. This urge which comes out from within the soul is known as *yathāpravṛttakaraṇa*[3]. *Yathāpravṛttakaraṇa consists in Apūrvakaraṇa and* Anivṛttakaraṇa. Apūrvakaraṇa implies the destruction of the duration (sthitighāta), destruction of intensity (rasaghāta), reduction of duration of karma (Guṇaśreṇi) and reduction of intensity of karma (Guṇasaṃkramaṇa). While Anivṛttakarṇa implies the destruction of passions and vision deluding karman[4].

In samavāyāṅga Sūtra[5], we observe the 14 Jivasthānas according to the purity (annihilation of karma) :

1. Mithyādṛṣṭi (Perversity of Attitude)

This first stage is characterised by the presence of wrong belief. The self accepts and treats the wrong belief as a right belief under a false impression. Abhavyas (not capable of liberation) live eternally in this guṇasthāna while bhavya (capable of liberation) remains in this guṇasthāna due to certain untrue

belief which will vanish by the influence of right vision. A self in this guṇasthāna, due to perversity of attitude, do not relish the truth just as a man suffering from fever has no taste for sugarcane[6]. From this stage, the soul directly may attain the 4th stage i.e. Saṃyagdṛṣṭi.

2. Sāsvādana Saṃyagdṛṣṭi (Taste of right vision)

It is a halting and a transitory stage in which one may get the vision of truth simultaneously. It is likely to fall back on falsehood due to the excitement of passions.

3. Saṃyag-mithyādṛṣṭi (mixed attitude)

It is a mixture of true and false faith due to Saṃyagmithyādṛṣṭi. On account of intensity of Kaṣāyas, one is not capable of practising the self-control. It is like a mixing of curd and tracles[7]. The fundamental characteristic of this stage is indifference which lasts only during the period less than forty eight minutes (muhūrta).

4. Avirata Saṃyagdṛṣṭi (Right Belief Abstinence)

To this stage belong those beings who possess right belief and have knowledge of truth and falsity but on account of the realisation of the apratyākhyānāvaraṇa kaṣāyas are not capable of practising the self discipline, three kinds of thought activity may be noted in this stage :

i. Upaśama saṃyaktva is attained by the Upaśama, subsidence of five or seven kinds of deluding karmas.

ii. Kṣāyika Saṃyaktva is attained by the destruction of the seven prakṛtis.

iii. Kṣayopaśama saṃyaktva is attained by the destruction and subsidence of sixth and the continuous operation of the seventh, i.e. Saṃyak-prakṛti-mithyātva, right belief clouded occasionally by the slightest wrong belief. The minimum duration is less than a muhūrta and maximum duration is thirty three sāgaropamas.

5. Deśavirata (Partial renunciation)

Partial self-discipline or partial right conduct is adopted by the aspirant due to influence of passions. The duration is in the minimum less than a muhūrtha and in the maximum somewhat less than a 'Pūrvakoṭi.'

6. Sarvavirata or (Pramattasaṃyakta) (Self-control with spiritual inertia)

One has tendency to complete vows but there is lurking of pramāda. Due

to this spiritual inertia, the ascetic is under the influence of evil tendency and passions[8]. This state lasts in the minimum one samaya and in the maximum less than a muhūrta. If the antarmuhūrta, however has passed without any incident, he goes into the seventh stage. If he has ascended no series, he comes back to sixth stage and operation begins anew. This wavering between the sixth and seventh guṇasthāna lasts in the maximum somewhat less than a 'pūrvakoṭi.' If the upaśama or kṣapaka series is ascended, such a wavering does not take place. A saint or an ascetic in this stage possesses all the twenty-eight essential primary qualities (mūla-guṇas).

7. Apramattavirata (Self-control without negligence)

The being belonging to this guṇasthāna attains complete self-discipline by observing complete Vrata without negligence (pramāda). It lasts one samaya till antarmuhūrta. From here, there are two Śreṇis, or ways of ascent :

i. Upaśama śreṇi in which the right - conduct deluding karma subsides;

ii Kṣapaka śreṇi in which it is being destroyed. This latter is the necessary way to Mokṣa, liberation.

8. Nivṛtti Bādara Sāmparāya (Initiation to Higher Life)

Apūrvakaraṇa is practised in this stage whereby the pride is completely destroyed but there is existence of greed and deceit. A self, who is on the upaśama śreṇi, remains on this stage in the minimum one saṃaya and in the maximum an antarmuhūrta; the one who is on the Kṣapaka śreṇi altogether antarmuhūrta. The aspirant practises as the beginner of the first Śukla Dhyāna[9].

9. Anivṛtti Bādara Sāmparāya : (Incessant Pursuit of Higher Spiritual Life)

An aspirant, on the upaśama or kṣapaka śreṇi, performs anivṛttikaraṇa[10]. Whereby all lustful desire, veda and passions greed are destroyed. The duration is in the minimum one saṃaya and maximum antarmuhūrta.

10. Sukṣma Sāmparāya

In this state all the passions except subtle greed[11] are annihilated[12]. It lasts one samaya till antarmuhūrta. This is also the stage of śukla-dhyāna.

11. Upaśāntamoha

All passions are suppressed. It lasts in the minimum one samaya and in

maximum till antarmuhūrta. It is a critical stage for the aspirants. After ending this stage, the self falls from the upaśama śreṇi (due to passion subtle greed) and sinks into one of the lower stages. A saint may fall down from here, but if strong enough, he can resume his ascent from the Kṣapaka mode of ascent.

12. Kṣīṇa-moha (destruction of passions)

All passions including subtle greed are annihilated. The intoxicating energies (mohanīya karma) are fully removed. He remains antaramuhūrta on this stage and by next stage namely Sayogikevali, one is omnipotent. In the last samaya of tenth guṇasthāna, sūkṣma samparāya, when an aspirant is able to annihilate the greed, such aspirant, who is in kṣapaka Śreni, attains 12th Guṇasthāna, kṣīṇamoha or kṣīṇa kaṣāyam vītarāga chhadmastha. The aspirant concentrates on the second śukla dhyāna.

13. Sayogi Kevalī (omniscient in embodied condition)

The four Ghātī Karmas, namely Jñānāvaraṇīya, Darśanāvaraṇīya, Mohanīya and Antarāya Karmas are completely annihilated. Here in this stage, the struggle for perfection is ended whereby an aspirant no more remains as a struggling (with attachment and aversions) aspirant but becomes an omnipotent with body, the Divinity. This state of virtue is Arihant or Tīrthaṅkara or Kevalin, wherein only the yogic activities are remaining. That is, in this stage the omniscient is possessed of four aghātī karmas, namely Vedanīya, Āyuṣya, Nāma and Gotra Karmas. The omniscient in this stage, is endowed with Infinite Knowledge (Ananta Jñāna); Infinite Vision or Intuition (Ananta Darśana), Infinite Bliss (Ananta Sukha) and Infinite Power (Ananta Vīrya). Zimmer compares the attitude of the kevalins in this stage to the functions of a lamp 'Lighting the phenomenal expersonality solely for the maintenance of the body, not for the pursuit of any gratification of sense or any goal[13].'

This stage can be compared to the stage of 'jīvan mukta' of other Indian philosophical system[14]. This state of virtue lasts in the minimum antarmuhūrta, in the maximum somewhat less than a 'pūrvakoṭi.'

14. Ayogī Kevalī : (Omniscient without the operation of Mana-Vacana-Kāya-Yoga)

This last and the highest state of virtue, wherein the natural exhaustion of aghātī karmas lead to Siddhahood, lasts for antarmuhūrta. It lasts only for

such a short time as is taken by uttering five letters a, i, u, r, lṛ, and leads to complete liberation[15]. Soul (Appā) attains siddhahood (paramappā). This state of virtue is the Divinity where in all the karmas are annihilated. Zimmer observes that in this state, the individuality, the masks, the formal personal features are distilled away like drops of the rain that descends from the clear sky, tasteless and emasculate[16]. It is the individual effort (the personal endeavour) that constitutes the path to the Divinity. Soul perfectly shines with Perfect Knowledge (Ananta Jñāna), Perfect Perception or Intuition (Ananta Darśana), Perfect Conduct (Ananta Cāritra), Infinite Power (Ananta Vīrya), Undisturbability (Akhaṇḍa), Extreme Fineness (Sūkṣma), Interpenetrability (Abādha) and is neither heavy nor light (Agurulaghu). Thus, pure soul is Paramātma, Divine being.

Paramātma (Divine Being)

Paramātma is the highest, supreme being, otherwise called as Parameṣṭhin. A Parameṣṭhin is one who is established in the supreme station[17]. A question may arise in the mind that what is the difference between Parmeṣṭhins and Other Jīvas ? Pt. Sukhalal answers "The difference lies in the presence or absence of the spiritual development. Those who have attained to spiritual development and have acquired scatheless prowess of the soul are Parameṣṭhins. The jīvas, tardy in their process of the soul, are different from them[18]."

The Parameṣṭhin is the holy, supreme personality. There are five parameṣṭhins[19] viz., Arihanta (Omniscient with body), Siddha (omniscient without body), Ācārya (preceptor-leader) Upādhyāya (preacher) and Sādhu (sage). The Pañca Parameṣṭhins are supreme Divinities[20]. Arihanta and Siddha are Omipotent, Omniscient, are supreme Divine while Ācārya Upādhyāya and Sādhu are ascetic sages who are themselves striving to reach the end of their journey in Siddhahood or Supreme Divinity. The three padas viz., Ācārya, Upādhyāya and Sādhu are the individual persons having certain ethical excellences and spiritual attainment. Among the Holy Pentad (Pañcaparameṣṭhins), the last three viz., spiritual leader, scriptural preacher and mendicant sage have been accorded an extra ordinary position of holiness and religious authority.

To express the faith and adore the ideal of ultimate transcendent Holiness, as conceived in Jainism, is to recite and meditate on the famous and

sacred formula of five-fold obeisance "Pañca-namaskāra-stuti[21]." The five-fold obeisance[22] :

namo arihantāṇaṁ / namo siddhāṇaṁ /
namo āyariyāṇaṁ / namo uvajjhāyaṇaṁ /
namo loe savvasāhūṇaṁ /

Prof. Padmanabh S. Jaini translates the aforesaid obeisance[23].

I bow before the worthy ones (Arhats)—the Jina;

I bow before the perfected beings (Siddhas) those who have attained mokṣa;

I bow before the (mendicant) leaders (ācāryas) of the jaina order;

I bow before the (mendicant) perceptors (upādhyāyas);

I bow before all (the Jaina) mendicants (sādhus) in the world;

This five-fold obeisance, destroys all the sin and is the most prominent of all the best auspicious (maṅgala) things[24]. This is also considered as an integral part of the five-fold Parameṣṭhi-namaskāra-mantra.

The pañca namaskāra mantra invocation for the sake of protection against danger is very much employed[25]. The five-fold obeisance constitutes the sacred hymn (stotra), the litanical formulae of frequent silent repetition (Japa), the auspicious theme of meditation (mantra), the symbol of spiritual blessings (maṅgala) having sanctity and authority of the revealed world[26]. The question is often raised that in Pañca Namaskāra the first to be invoked are Arhats and not the Siddhas who are superior to the former in their spiritual state. Pt. Sukhlal observes, 'the two (Arhat and Siddha) are the orders of attaining to an object. One is Pūrvānupūrvī and other Paścānupūrvī. Referring to the smaller after the greater one, is Pūrvānupūrvī and to the greater after the smaller is Paścānupūrvī. The Pūrvānupūrvī order in salutation is resorted to here for this reason. From the point of view of annihilation of karma, Siddhas are superior to Arihants. Yet both are equal from the point of view of fulfilment (perfection). From the point of view of worldly dealing or practical point of view, Airhanta is superior to Siddha. This is because the indirect form of Siddha is revealed to us by Arihanta. The Airhantas are, therefore, looked upon as superior and saluted first[27].

It should not be assumed, however, that the Siddhas are never invoked first. In the Paṇṇavaṇā sutta itself the author pays homage first to the Siddha and next to Jina Mahāvīra[28]. Vīrasenācārya[29] also mentions Siddha first and Arhats afterwards, Kundakunda[30] does the same. Paramātmaprakāśa verses 1-5 adore the Siddhas whereas the Arhats are adored in verse 6. Yogasāra verse 1 adores the Siddha (Paramātma) while verse 2 adores Jinendra. When Tīrthaṅkara initiates himself to an ascetic life or at the time of Pravrajyā, he utters namo siddhāṇaṁ (Namaḥ siddhebhyaḥ)[31].

Muni Nemichandra observes, "repeat and meditate on the syllables (the mantras) signifying the Parameṣṭhins consisting of thirty five, sixteen, six, five, four, two and one (letter) and other (mantra) taught by the Guru (preceptor)." The five-fold obeisance have 35 letters. The same can have only 16 letters in following manner : "Arihanta Siddha Āiriya Uvajjhāya Sāhū." Further, the same five-fold obeisance can be meditated on formula having only 6 letters viz. (i) A ri ha nta Si ddha or (ii) A ri ha nta Si sa or (iii) Oṃ Na mo Si ddhā ṇaṁ. The same hymn still shorter consists of only 5 letters viz. A, Si, Ā, U, Sā in which only the first letter of the five Holy Pentad is taken. The four lettered mantra will have this form : (i) A si sāhu or A ra ha nta. The mantra can have still shorter form with only 2 letters viz., (i) Si ddha or (ii) A Sā or (iii) Oṃ hīm. 'Oṁ' is the only one letter, representing the five Divinities. 'Oṁ' is made up of 'A' which is the Ist letter representing Arihanta, Aśarīra (or Siddha) and Ācārya; 'U' the first letter representing upādhyāya and 'M' the first letter representing the muni (sāhu or sādhu).

Annotations :

1. Mehta M. L., Outlines of Jaina Philosophy, p. 151.
2. Warren Herbert, Jainism, p. 42-119.
3. Kalghatgi, T. G., Some problem in Jaina Psychology, p. 152.
4. Bhargava Dayanand, Jaina Ethics, p. 210.
5. Saṃavāyānga Sūtra, 14th Samavāya.
6. Gommaṭasāra : Jīvakāṇda. 17.
7. Gommatasāra : Jīvakāṇda 22.
8. Gommatasāra : Jīvakāṇda 30, 33.
9. Refer Chapter IV for the meaning of Śukla Dhyāna.

10. Gommatasāra : Jīvakāṇḍa 48, 49.
11. "The subtle greed can be interpreted as sub-conscious attachment to the body even in the soul which have achieved great spiritual advancement" — Nathmal Tatia; Studies in Jaina Philosophy, p. 278.
12. Gommatasāra : Jīvakāṇḍa 59.
13. Zimmer, H. : Philosophies of India, p. 446.
14. Kalghatagi T. G. Some problems in Jaina Psychology p. 163.
15. Gommatasāra : Jīvakāṇḍa 9-10; Dhyānaśataka : 82.
16. Zimmer H. : Philosophies of India, p. 260.
17. Svayambhu-stotra-tīkā, Jainendra Siddhānta Kośa Vol. III, p. 22 (Parampade tiṣṭhati iti Parameṣṭhin).
18. Pt. Sukhlal, Essence of Jainism, p. 139.
19. Mokṣapahuda 104. Aruha Siddhāyariya Uvajjhāya Sāhu-Pañca Parameṣṭhin.
20. Jaini, P. S., The Jaina Path of Purification, p. 163.
21. Dravyasaṁgraha 49.
22. Paṇṇavaṇa Sūttam Ed. by Mūni Punyavijayaji, Dalsukh Malvania, A. M. Bhojak, Part-I, text p. 3.
23. Jaini, P. S., The Jaina path of purification, p. 162-163.
24. Esopañcanamokkāro, Savvapāvappaṇāsaṇo / maṅgalāṇaṁca sabbesimphaḍamaṃ havai maṅgalaṁ.
25. Maṅgalamantra namaskāra : eka anucintana by Nemichand Sastri : Gustov Roth.
26. Joshi, L. M., Facets of Jaina religiousness in comparative light, p. 48.
27. Pt. Sukhlal, Essence of Jainism, Tr. by Betai p. 147.
28. Paṇṇavaṇa Sūttam, Part-I, text p. 1. in Suttagame, Vol. II, p. 266.
29. Saṭkhaṇḍāgamaḥ with Dhavalātīkā, Vol. I, part 1, p. 1.
30. Samayasāra, I. I.
31. Mahāpurāṇa.

□□□

Lokatattvanirṇaya by Haribhadrasūri

R. S. Betai

Introduction :

Before we probe into the contents of the work "Lokatattvanirṇaya" by Haribhadrasūri, it would be in fitness of things to know the author, his works, his times etc., by way of introduction. About his time there is considerable difference of opinion. Munishri Jinavijaya went into the details of the problem and came to the conclusion that this great philosopher of Jainism belongs to the eighth century. He hailed from Chittod and was a Brahmin pundit and royal priest, who preferred to be initiated into the Jaina dharma in course of time. More than twenty works are known after him, though according to a conventional belief, he had composed 1440 works. In his works, the ideal of this Nyāyāchārya was that all that is good and convincing to the intellect, should be accepted and adopted, without attachment or jealousy. In the realm of enrichment of knowledge there can be no likes or dislikes. He therefore states in one context that "Mahavira is no relative of ours and other Gods are not our enemies. Again, no God has been visualised by us." (Lokatattvanirṇaya-32)

Pandit Sukhlalji therefore knows Haribhadra as "Samadarshi". Four of his prominent works are on yoga *. and सर्वदर्शनसंग्रह is a renowned work of this philosopher. In this work, he objectively analyses the six well-known systems of Indian philosophy and then proceeds firmly to establish Anekāntavāda as a system that resolves all problems. This profound Pandit composed the first ever Sanskrit Vṛtti on the Jaina Āgamas=Anekāntajayapatākā. This renowned scholar, extremely insistent that he was of sterling purity of a character, without any fear or hesitation whatsoever, gathered together the best from anywhere and everywhere. One of his works, perhaps a little less known, is his *Lokatattvanirṇaya*.

The Subject Matter of the Work :

The work covers up in its fold these topics for discussion and analysis :

1. Mangala - Benediction
2. Introducing the subject
3. Importance of Scriptures
4. Person qualified in resolving philosophical issues
5. Proper Introspection
6. Person deserving eulogy
7. Ātmatattva
8. Views of Naturalists and others
9. Īśvara
10. Vishvātmā
11. Divergent views on creation of the Universe
12. Divergent views, Puruśavāda etc. includding the Saugata view
13. The opponents answered, but not with a discussion on Syādvāda and Anekāṅtavāda that are to the liking and acceptance of the Jainas.

All this speaks for the value of the work and justifies the simple and clear title that Haribhadrasuri has given to it.

Lokatattvanirṇaya

Salutation

After salutation with (utter) devotion to the best of the Jinas, who is, one but many and of the nature of *Kaivalya*, I shall lay down the scripture for the very essence (of the life of) human beings, so that they remain awakened in future. (1).

Introducing the Subject

Thinking on what is destined and what is not, I associate myself (with this task) not for those who are inspired by his favour. Still activated, however, it would be proper for the learned educated, first of all, to consult the assembly (of learned sādhus) in the matter. (2).

As a person whose mind is not possible to pierce through like the

thunderbolt, and one who is empty of mind like a strainer during the course of dialogue, make the mind tardy like a buffalo (in dirty water), and become faulty like an elephant. (3).

This (knowledge) is stated to be (useless) like the churning of water; it is indeed meaningless like (instruction to) a deaf man or like dance in front of a blind man. (knowledge) shall therefore(be imparted only) on the noble. (4).

If the pupil fails to be enlightened, it is indeed the dullness of the teacher, just like cows made to descend on a barren field. (5).

Or, what could a teacher do with a dull student, even if he himself were endowed with nice speech ? Similarly is even a pointed axe broken on hard and stuffy wood. (6).

Importance of Scriptures

Creation of good regard for the scriptures in case (of a man whose) intellect is not calm and tranquil, will be faulty just like quelling (medicines) in case of a fever that is excited recently. (7).

Just as, in the case of a blindman, the rising moon and the sun as also a long series of lamps that are lighted even if they be pure, are in no way beneficial, so is the case of preaching to persons blinded by the darkness (of ignorance) (or, blinded by the *tamoguṇa*. (8).

It is like a serpent and a cow drinking water from the same pond and resulting in poison in a snake and the same transforming itself into milk in a cow. (9).

When a gentleman and a rogue drink of the water of knowledge from the pond of rightful knowledge, it results in truth in case of a gentleman, but the same is transformed into falsehood in case of a rogue. (10).

The same tasty (water) pours down from the skies, and, on reaching the ground attains to different tastes following the different particulars. (11).

In a similar way even one good sentence with one taste comes out of the mouth of a good speaker, attains to varied tastes on coming to different. (12).

Adhikäri

Just as the owl on account of its own defect, dares not to look at sunrise, and just as he dares not to go to in spite of very much similar *pāka*, in a similar

way after attaining to the very essence of the existence of all *Padarthas*, that is the Jaina theory of Existence. Persons endowed with sinful inclinations do not attain to enlightenment even though there is all possibility of similar story. (13).

Just as a horse tied to a horse roams in this world and so does a boat tied to a boat roam in the ocean, similarly, those men of the world, who are dependent upon the opinion of others roam over much in the waters in form of intoxication. (14).

Until the intellect roams with dependence upon the opinion of others (i.e., the intellect of persons guided by others), one should tie one's mind in some activity beneficial to one's self. This is because authentic reality does not fall from the skies. (Actually it arises and evolves only through thinking with a firm intellect). (15).

When, with constant thinking, a logical argument does not develop either through direct perception or through inference, which intellectual in this world will resort to it ? (Really), never does milk come out of the horns of a cow. (16).

Persons humble by nature can be properly trained by persons expert in training; not so the not humble, who can not be brought to training by (the same) experts. Genuine gold, even gone dirty or pure remains gold even when put to (the test of) fire and soon. A ball of iron does not become gold in the process of burning and piercing a hold through. (17).

That idea which is acceptable through (the authority of scriptures) and through logical argument should be accepted after proper examination, like gold. Why should there be partiality or insistence in the matter ?. (18)

Proper Introspection

Persons, who accept, an idea without proper thought like children accepting sweet-balls from their mothers, are brought to lament through regret like customers (purchasing) gold. (19).

Ears are created for (proper and genuine) hearing. Speech and intellect (are created) for pondering over the same. Still, if a person does not ponder over what he has heard, how can he bring success to his actions ?. (20)

A person observes (fully) with the eyes (things such as) poison, thorns, snakes and insects and walks on the proper path after keeping them all away

(or, at an arm's length), (O men of the world), think rightly properly therefore, on blemishes such as bad knowledge, false scriptures, false vision and wrong path. Why worry about the opinion of others (in the matter) ?. (21)

Whom To Worship ?

God Ṛṣabha or Viṣṇu are not directly perceivable to-day, (similarly) not so Śiva or Brahma. One should (properly) ponder over them after thoroughly grasping their form and characteristics through the scriptures. What could be otherwise here (in the matter) ?. (22)

Viṣṇu stands, his hand inspiring terror with the weapon in form of the mace raised up : Śiva the dancing actor wears the garland of the bones of the (human) skill; but (we have Lord) Mahāvīra, .whose character is extremely peaceful and (whose appearance too is) extremely, calm. Whom shall we worship, the personality endowed with equipoise or the one that is (totally) devoid of peacefulness ?. (23)

Viṣṇu inspired the annihilation of the family of Duryodhana and others; Hara (i.e. Śiva) was the destroyer of (the demon of) three cities, Kārtika too took away the firm prowess of (the demon) Kraunca; but (Lord) Mahāvīra has remained to be only the beneficiary of all in this universe. (24).

"This man deserves to be tortured by me; this deserves to be protected and this one to be annihilated"—this (attitude) is indeed not supreme righteousness. (Lord) Mahāvīra has no enemies or persons to be deceived because his conscience (Buddhi) is (only) for the bliss, happiness and good of all. (25).

The words of Viṣṇu tend to give rise to faults like attachment etc.; the words of śambhu conduce to intoxicating activity, while the words of Viramuni lead to the quelling outright of (man's) faults completely. (O man !) think therefore, as to who deserves our veneration here. (26).

(One God) setting aside all compassion, has activated himself to annihilate others; (and here is another God) proceeding to become a resort to the world form its protection; one is full of passions and the other totally free from passions. Ponder over the matter for long in the matter and state as to who deserves (our) salutation. (27).

Indra bears the thunderbolt; Balarāma (is known as) Haladhara; Viṣṇu

has Cakra as his weapon; Skanda holds Śakti; Rudra, who lives in the cemetary has the Triṣula as his weapon. These are (ignorant) little children overcome with blemishes and fear, (and) are devoid of compassion. They bear strange weapons and are ever ready to strike on different animals. Which wise man will salute them ?. (28)

One who does not hold the triṣula (in his hand) or seat a passionate youthful lady on his lap; (the one who) does not bear shakti or cakra or plough *or musala as a weapon; the one who is totally free from worldly* sorrows and has his intellect ever-ready to act up to the good of others and is the (great) resort of all beings. Let us take recourse to the feet of that great sage. (29).

Rudra, who is extremely violent and bereft of all shame bears, through (extreme) passionateness, a woman (in half his body). Viṣṇu is more cruel and of ungrateful character; skandha destroyed his own kinsmen. Ambikā is cruel in that she killed the Mahiṣa and she is ever keen to taste of the marrow, meat and bones of human beings; Gaṇeśa is ever hankering after wine. Which even insignificant fault is there in Jineśvara ?. (30)

The head of Brahma was cut; Hari became diseased in vision; the organ of Siva was broken; even the sun was and Agni became the eater of all; the moon got the mark of Kalanka. Even the Lord of heaven suffered a thousand Yonis on his body. Even in case of capaciated personalities, calamities befall if they swear from the right path. (31).

Mahāvīra is not our kinsman and other gods not our enemies. Again, we have not directly visioned even one of them. But we have resorted to Shri Mahāvīra because we have heard of his sermons and have come to know of his typical and independent great life and have nourished veneration towards his very great virtue. (32).

Sugata (= Lord Buddha) is not our father and other, tirthis are not our enemies. Again they or even Jineśvara have not give any wealth to us. (Again) Skanda etc. have not taken away anything from us. Yet, that great Lord Mahāvīra is uniquely blissful to the (whole) Universe; his sermons (lit. words) have the capacity to take away all sins; it is because of this that we have become full of devotion to him. (33).

(He is the one) who is for the all-time bliss and constantly doing good turns to the world. (He is the one) who has brought happiness to this world that

is suffering from various types of tortures. (He is the one) who is very clearly in the know of all that is worth knowing, as if it were just in his own hand. O noble persons resort yourself to this Jineśvara with a mind full of devotion. (34).

O, you one amongst the best of Munis : even if persons pay their respects to you without all their feelings (associated), or accidently, or following others, or through suspicion, they too attain to godly prosperity (35).

When (Viṣṇu), through attachment and jealousy, resorted to an illusory form (of Mohinī) with an idea to snatch away the jewels of gods and demons both and his mind (Mati) was intent upon taking away the very sattva of the (three) worlds, Hari became respectable and revered, though he was not free from (the mortality of the Samsāra). Mahāvīra is totally free from mortality (and illusions and is therefore) not saluted by worldly men engulfed in illusions. (36).

Let us resort to, with all regard and feeling, that god whose personality is unique and beyond all conceptions, whether he be Brahma, Viṣṇu or Śiva the giver of boons, if he has totally discarded all self-interest, is ever indulgent in doing good to others, and is fully in the know of this Universe in all its shapes, variety and uniqueness. (37).

We have no special regard for Lord Mahāvīra and have no jealousy with reference to Kapila etc. we should accept (that god) whose words are thoroughly convincing. (38).

(Of all these gods) surely someone must be knower of all and endowed with a mind that is vast and (engrossed in) the good of the world. Only he should be sought after with a subtle vision in form of intellect. What is the use of specially-described Gods who create the grave wrong ? (39)

May salutation to that Brahma or Viṣṇu or Maheśvara who is bereft of all faults and endowed with all virtues. (40).

The Ātmatattva

(Persons following) different schools of thought interpret differently the actions in the world and the Ātmatattva. (This is because) they have not precisely known earlier the element that is finally fixed by syādvāda. (41).

Naturalists (Sruṣtivādins) are of opinion that this entire universe is (created by) an external (Bāhya) creator. (But) the followers of Maheśvara etc.

(look upon) this Universe-world as one that has a beginning and an end. (42).

Some views look on this universe as created by Īśvara; some (look upon it) as born of Soma and Agni; (while there are still) others who state that this universe as born of six elements, Dravya, etc. (43)

Kaṇāḍa and his followers (and follower of Nyāya) look upon the Tattva as constituted of Dravya, Guṇa, Karma and Sāmānya. They also lay down that the universe is born of these. (44).

Some look upon this entire Universe of human beings and others as constituted of Kaśyapas while some look upon the three worlds as an offspring of Dakṣa Prajāpati. (45).

Some are of opinion that the same self (lit. idol) has become threefold as Viṣṇu, Śiva and Brahma, and (here) Śiva is the seed of the universe, Viṣṇu the creator and Brahma the activity. (46).

Some look upon this universe as an offspring of Viṣṇu while some others (believe that) it is born of Kāla. Some opine that it is inspired by Īśvara while some feel that it is an offspring of Brahma. (47).

The followers of Kapila (the sāṁkhya school) expect (and opine) that the entire universe is born of *Avyakta* (i.e., the Prakrit). But śākyas (i.e., the Buddhists) are of firm view that this universe is of the nature only of * and of * (48).

Some believe that it is born of Puruṣa while some take it to be born of providence. Some (state that it) springs from *Akṣara* while some take it to have sprung from the (primordial) egg. (49).

Some look upon it as only accidental while (some) others state that it is the result of (the combination of) the five Bhūtas. Some look at it as having countless forms. (In this manner different people) run after varied views. (50).

Viṣṇu resides in waters as also on earth; Viṣṇu is in the skies. In this world full with series of Viṣṇus, there is nothing devoid of Viṣṣu. (51). (So say the Vaisnavas).

Īśvara

(Īśvara is the one) who has hands and feet on all sides, has eyes, head and mouth on all sides, has ears on all sides in this world (and he is the one)

who stands as residing in everything (or, in all). (59).

The Aśvattha tree, that has roots up and branches down is known (by the seers) as eternal (i.e., it is of the nature of Brahman). (52).

The mantras of the Vedas are its leaves. One who knows that is the knower (of the entire universe). (53).

When (this world of the nature of) the steady and moving things come to attain to the nature of an ocean (at the time of the great deluge), i.e., are destroyed, when gods and humans, sanakes and demons are destroyed, when, except for the five great elements, (everything) becomes just like a cave, it is at this time that Lord Viṣṇu, whose form is inconceivable, lies at rest (in the ocean) and performs austerities. (54-55).

When he was resting there (in the ocean), a lotus sprung from his nave. It was shining like the disc of the youthful sun; it was pleasing to the mind and shone like a golden Karṇikāya (56).

From that lotus sprang Lord Brahma together with Daṇḍa, Kamaṇḍala, sacred thread, and the (upper) garment; he created (some) mothers of the universe. (57).

(These were) Aditi (the mother) of the host of gods; Diti (the mother) of the Asuras, Mana of the human beings; Vinata the mother of all types of birds; Kadru of the *; Sulasā the mother of the (different) families of Nāgas; Surabhi of the quadrupeds, and again Ilā (the mother of) all other seeds. (Yugma-58-59).

The progency of all these has greatly expanded (in this world) as some desire. Some (state) that the (world of living beings) was created without Varṇas, (while some state that) it was he (Brahma) who created (this world) with (the four) Varṇas etc. (60)

Kāla-Destiny creates the living being, it is Yama that destroys the world of beings; Daṇḍa keeps away when (all) are asleep, really Daṇḍa cannot be transgressed by anyone. (61).

Universal Soul

Just as in this world, a king remains active for the protection of the beings, similarly that soul of the universe, the great God (remains active for the

protection of) the universe. (62).

The being, incapaciated in the midst of happiness and sorrows, is different from Ātmā (i.e., Īśvara, God). He attains to heaven or hell as inspired by this Īśvara. (63).

The Īśvara is subtle, incomprehensible, devoid of the senses, the knower and doer of all, attainable through meditation by yogis endowed with pure intellect, of the eightfold form of the moon, sun, fire, earth, water, wind, the Yajamana and the sky. He should be meditated upon, always by persons who desire success (in the spiritual world) and who are (ever) engrossed in the happiness of quietude. (64).

Creation of Universe-Varied Views

(As the Brahmavadins proclaim)

This (mortal world) was once lost in darkness, was incomprehensible and indefinable. (It was) beyond all logic, not knowable, and as if asleep on all fronts. (65).

Then the Self-emanated god, who was inexpressed, desired to emanate this (universe) (and therefore) revealed Himself after putting an end to darkness when it was enveloped (on all sides) by the (five) great elements. (66).

That Īśvara (i.e., Brahma), created into the Brahmin, the Kṣatriya, Vaisya and śūdra, from the mouth, arms, thighs and feet for the enrichnent of the worlds. (67).

Some desire (i.e. look upon) this world as comprising the five great elements, constituted of varied bodies and names, and rising out from the Avyakta (Prakṛti). (68).

(Note : Some stands for the propounders and followers of the Sāṁkhya School).

This (Avyakta or Prakṛti) known as Pradhāna, is present in all, common (to all), the first cause of all (beings and elements), eternal, subtle, devoid of life-force, the non-doer and one. (69).

From Prakṛti emanates the Mahat, of that (Mahat) Ahaṁkāra, from that the group of the sixteen, from that group of sixteen, the five great elements from the five (tanmātrās). (70).

The original Prakṛti suffers no change whatsoever. The seven Mahat etc. are Prakṛti and Vikṛti both; the sixteen are what constitutes Vikāra and the Puruṣa is neither Pṛakṛti nor Vikṛti. (71).

Since (Puruṣa) is not of the nature of Guṇas and since it is not indicative of effect and cause, Puruṣa is other than these. Again the Puruṣas who are enjoyer of fruit and the non-performer (of actions) are (different from each other). (72).

In the face of the fact that these Guṇas of Prakṛti exist, one whose life-force is reversed due to being enveloped in (ignorance of the form of) darkness, the Jiva (deluded by) ignorance contends that "I am the doer", even though he is incapable of surving even a *. (73)

(According to the Buddhists, these Guṇas are-)

Only of the nature of recognition (*) are they, just like the cognition of insects etc. to a man deluded by darkness in this world, due to being incapable (of real) cognition. (74).

Tormented by the faults like anger, sorrow, *, and passion, the Puruṣas see as stationed before themselves the (really) non-existent. (75).

(Followers of Puruṣavāda state) :—

All this cognised universe is of the nature of Puruṣa and that only, i.e., what is past and what is yet to be. That (Puruṣa) reigns over liberation, that which rules over all foods, that which moves and does not move. That is far as also near; it is inherent in all as also outside all this. There is nothing higher or other than this. There is nothing more atomic (i.e. subtle) or greater than this. He is the one that stands firm like a (vast) tree (from this earth) right upto the sky. Due to Him this (universe) is perfect, (being) of the nature of Puruṣa. When all this becomes one being, all (external world) gets merged in Him. The perishable and the imperishable—only these two are Puruṣas in this world; all beings are (what we call) perishable while the Kūtastha (Atma) is imperishable. (76-77).

(Another Ātmavādī states)

Those who do not know the Atma in the face of the fact that scriptures are in existence and persons (who know and) describe Him are available, are indeed persons committing suicide. (78)

Atma is, indeed all gods; everything (else) stands in Atma. The same Atma created the embodied beings and their Karma Yoga. (79).

Atma sustains the universe and is the creator of happiness and sorrow. Atma is both heaven and hell; Atma is this entire universe. (80).

Īśvara does not create either the agency or actions of the world. (Actually it is) association with the rewards of one's actions that exert itself through one's nature. (81).

Jīvātmā

The Jīvātmā is designated "Self-existent" - (Svayambhu)-on account of self-knowledge being. Its very nature, the possibility of self-introspection (on its part) and the (ability to) give birth to its own Karma. (82).

Weapons do not cut it, fire cannot burn it, waters cannot make it wet, wind cannot dry it up. (83).

It is one that cannot be cut or split (into parts). It is without name and form; it is eternal, constantly moving and yet firmly steady. It is unmoving and immortal. (84).

It is imperishable and the one that is the very Atma of all beings. It is also to be known as the heaven and meditator. It is the very life-force, the supreme Brahman; it is Hansa (=of the nature of Jiva) and (also the eternal) Virāta (= all-pervading). (85).

Higher than this there is no visioner, (nor) a hearer or a meditator. He is neither the performer of actions or an enjoyer; nor is He the one who speaks. (86)

Through superimposition, the living one (=Atma) gets bound with actions and comes to attain to the transitory world. Then is He born in this world. When (the transitory world) ceases to exist for Him, He (as Jivātmā) attains to the highest state (of liberation). (87).

(Only through Atma), the Atma humbled and humiliated (Dinam) (by transitory existence) should be uplifted. (It is) only Atma that that is a companion of Atma, and Atma (indeed) is an enemy to Atma. (88)

Either my friends who are very much satisfied or my enemies who are gravely (offended and therefore) angry will not be able to do that to me which

I have not done earlier. (89).

All embodied beings on their own resort to good or bad Karma and (as a consequence), experience sorrow and happiness on their own. (90)

The meritorious deeds performed in earlier (births) protect man in forest, battle, (in the midst of) enemies, water or fire, (in) a great ocean or on the top of a mountain, whether man be asleep or absent-minded, or situated in an adversity. (91)

(Daivavādis state this -)

Not wealth, virtues, vidyā, not even religious practice, happiness or sorrow (can do anything). I therefore mount the vehicle of Yama, come under the control of his charioteer and proceed by the path by which destiny takes me. (92)

Just as the reward of the Karma in the previous (births) comes to (my) attainment in its proper order, so does the intellect become activated for attainment just like a lamp in the hand. (93)

These are the synonymous words of Karma performed previously Vidhi, Vidhāna, Niyati, Svabhāva, Kāla, Graha, Īśvari Karma, Daiva, Bhāgya Karma, Yama and Kṛtānta. (94)

O best of the Paṇḍavas ! that Karma which was performed in previously (i.e. in previously births), does not come to the memory of men. (95)

(Svabhāvavādins state -)

Who brings about pointedness in thorns, or variegatedness in animals and birds ? All this activity is due to inherent nature; there is nothing as per ones desire ? What would be the question of effort then ? (96)

One thorn of * is pointed, another simple and the third curved. Its fruits are of round shape. Tell (me, O Pupil), who created all this ? (97)

Kala (Time) has slipped out from (Brahmā that is) imperishable. It is therefore stated to be expanded. That is (therefore known as Sṛṣṭi) which has expanse in the beginning and Prakṛti in the end. (98)

From a small part of the imperishable (i. e. Ākāśa), sprang Vayu; from Vayu there arose Tejas and from that Jalam. From Jala arose Pṛthvī. This is the (fivefold) origin of the beings. (99)

(Believers in the Aṇḍavāda state -)

The Avyakta (i. e. primordial matter or Prakṛti) was dependent in Narayana, from that sprang (the divine) egg and all this varied creation sprang from it as also the earth with seven. (100)

The water inside of it are the oceans and the upper layer constituted the mountains. In this egg were formed such seven worlds (Loka) each. (101)

Here, in this (divine egg), the original god the supreme stayed for a year, and split up the egg into two himself by his own meditation. From the two pieces he created land and sky. (102)

(Ahetūvadī states -)

All the events (=creations) that take place every moment in all variety are without any (specific) purpose. Nothing except the Bhāva (= substance) is created; except for it all else is without existence like sky-flower. (103)

(Niyativādī states -)

The attainment that one is destined to make through the power of destiny is bound to fall on man, be it good or bad. What is not to happen does not happen and what has happened does not die in spite of serious effort on part of man. (104)

(Pariṇāmavādī states -)

Every time all bhāvas (shape and) possibly take change in every Atma. This becomes possible not by ones own desire because even desire acts in a fixed order. (105)

It is true that we goblins (Pisācas) stay in a forest and do not touch a tabor even by the frontal part of the hand. Still a belief persists in the world that "goblins beat a tabor and it is sounded." (106)

(Bhūtavādis states -)

Pṛthvi, Jala, Tejas and Vāyu are the tattvas, (typical) combinations of which are designated as body, senses, objects of senses and so on. The life-force (caitanya) that is found (in these) is like the Madaśakti (of Wine). All Jivas are like bubbles and the puruṣa is one endowed with this life-force. (107)

The physical bodies, objects of senses and the senses spring from these

elements (mentioned above). Still, persons who are ignorant look upon someone else as kartā. (108)

Only this is the world. (i.e. world under the spell of the senses.) Even the learned (wrongly) call these steps of the wolf (though these are, in reality, not so).

(Note : Actually, these are our own designations.) (109)

Auterity is strange suffering, control is deception of enjoyment, while the Agnihotra and other works are attained too like child's play. (110)

(Anekavādi states -)

Varied are the causes as also works. Therefore, at all the three times, it is certain that there is no Karma. (111)

Here ends the Pūrvapakṣa. (The author) now lays down his own side.

What Sṛṣṭivādī accepts is, in reality, (laid down by him) without proper thought and it is improper. I shall now show how it lacks in logicality. (112)

If we were to accept that this world comprising of Sat and Asat, results from Sat and Asat causes, then (let it be understood that) from the earlier cause, the Sat, does not create the world and the Asat has no doer. (This is to state) that its creation is not possible through either sat or Asat. (112)

Now, it is certain that what is Asat is certainly not existent in all the three times. Here, horns of a donkey forms the illustration. The world is therefore naturally existent. (113)

The substances that have a form and that are formless—all do not either die or take to another. Those having a form or no form (aroopi) are, normally, destructive in change. (114)

If we were to accept, like Kāśyapa and Dakṣa Prajāpati, that this world takes birth, where was their own existence when there was no loka (in the beginning) ? (115)

At a time when this earth, sky etc. meet destruction, what happens to this Universe ? Where does Buddhi go ? What is the form of Avyakta (i.e. Brahmacaitanya) ? (116)

What has a form and what is formless are substances, having their own

(positive) traits, all these are clearly revealed by the words of the best of the great. (117)

The elements that have a form and that are formless are all known as having their own (positive) traits (Svalakṣaṇa). One that has no traits of the kind should be accepted only as son of a barren woman. (118)

Just as horns of a horse cannot possibly arise from the upper part of the horns of an ass, certainly there is no birth of the five (or four) great elements from Abhuta cetana. (119)

There, if Vyakta were to be born of Aliṅga Avayakta, then the moon etc. may have the possibility of a body, but if not, even the great elements have no existence. (120)

When the group of these great elements have no possible body, then, Paśupati and Dinapati have no body, as also like them the moon, the egg, Brahma, Viṣṇu etc. too (have no body). (121)

In the absence of a body again, Buddhi, mind and their types have no possible existence. This proves the absence of the experience of position and negation and (this proves) the absence of existence (of all types). (122)

When existence itself is non-existent, then pondering is not there. In the absence of pondering activity and traits are not possible. And, on account of the non-existence of Kriyā and Guṇa, the existence of the Universe is not there. (123)

If he (i.e. Īśvara) has created the Universe, then who created him ? (If you say) none, it will expose your absence of intellect. In a similar manner should we know here, the multifarious world and Sansāra. (124)

After proving what we have done, we now proceed to state that this Universe is created by none. The Puruṣa that is self-authorized would certainly not create this turbid Universe. (125)

Again, what bad turn had the Pretas etc. done, and what good turn have gods etc. done to Īśvara, whereby they have been associated with purposeless sorrow and happiness ? (126)

If his (Īśvara's) capability is equalised, why did he not make all worlds endowed with riches ? Why did he make the world endowed with all sorrow on

the path of birth, old age and death ? (127)

If he (Īśvara) has created this Universe, why does he again destroy it ? If it were (ultimately) to be destroyed, why did he create the Universe ? (128)

Again, what is his own benefit in this destruction or creation or in endowing all existences with sorrow caused by birth etc. ? (129)

Just as a potter shapes a pot etc. into existence and then again and again breaks it, so does the creator (of this Universe). He is merciless indeed ! (130)

Which Sūri aiming at bliss will take recourse to the feet of that Īśvara, who is responsible for all sorrows of birth etc. (of beings) in this world, who is an enemy without any (rhyme or) reason, who is extremely sinful ? (131)

Some others might state that "no bondage (fault) applies to him when he destroys the world created by him. (In this case I say...) Will there be no fault in a hot-tempered father if he slaughters his own son ?" (132)

If, of old, the Universes sprang from the body of the creator (i.e. Īśvara), why does he not, in the same manner, create (a new) universe from his body ? (133)

"Just as, at present, the beings take birth in various, it was so ad infinitum" so say the Siddhas who know the (secret of) the existence of the Universe and know its process. (134)

Thinking on these lines, (these views) on the typical creation should be discreed as mutually contradictory, like the thoughts of Hari and Hara and which have no logical basis. (135)

(Therefore) the creator of the Universe, whether he is free or bound, having a form or is formless, whether he creates good or bad, he does not behave to be the agent from all points of view. (136)

If one is free, he does not create the world, one free from all attachment is not bound by Karma; but one associated with attachment etc. is definitely bound by his own Karma. (137)

(Great personalities), who have established their authenticity by their virtues of knowledge, Caritra etc., who are eternal and benefactors (*), who are absolutely bereft of body, senses and Karma, are so many in the realm of

attainment (of liberation). They have nobody as their overlord. (138)

Lordship in this transitory world born of Karma differs with each body (Kṣetra). One Lord therefore bereft of a body, the doer does not exist in this world. (139)

Creation and non-eternality are not possible in case of mountains like Meru etc. in the world eternal due to immersion (*), shape and form and steadiness. (140)

This Loka is not any offspring ever of any creator, in view of its variedness in virtues, expansion and compression. So say the perfected men with reference to all the three worlds and all matters. (141)

Bereft of Īśvara, the wheel of time, Jyoti and Jiva goes on rotating through the sheer force of nature and Karma. (142)

Highest Knowledge tells us that "in all the three worlds, moon, sun, ocean etc. never transgress their limits and this Atma is based on its nature of Karma." (143)

All earths, oceans, mountains, the celestial world with Svarga and Siddhyalaya—all these are natural (= self-existent) and eternal. All that it outside of it is non-worldly (Alaukika) (i.e. Aloka) (144)

Prakṛti, Puruṣa, Vidhāna, Kāla, Sṛṣti, Vidhi and daiva are the different nomenclatures by which animals etc. roam in this transitory world, being helpless by their own karmas. (145)

This mysterious world, with all (variegated innumerable Jivas an their Yonis), that are results of the force of their own Karma, has neither and end or a beginning. (146)

Therefore, this wheel of the transitory world, which is without a beginning or an end, which is terror-stricken with all sorrows and sufferings, which has spokes in the form of countless births, and a very had * of the wheel, and which has a * in form of excessive passions, eternally moves bound as inspired by the winds of ones own Karmas. Here, what is the need of an Īśvara ? (147)

Here ends the Lokatattvanirnaya written by Harribhadrasuri.

□□□

Sanskrit-Prakrit Inscriptions of Ancient Gujarat : A Socio-Religious Study

Bharati Shelat

Inscriptions are the most indispensable, authentic and copious source of information for the knowledge of Indian Culture. In India, rocks, stone slabs, stone-pillars as well as lithic, metallic, earthern or wooden pillars, tablets, copper-plates and pots as also bricks, shells, ivory, plaques and other objects were generally used for incising inscriptions. These inscriptions usually record the dedication of the images of deities or commemorate such events as the fall of a hero in battle or such curious social customs as the self-immolation of a widow and the head-offering of a devotee. In some cases, however, an inscription may embody a *kāvya* in many cantos or a drama in several acts; as for example, the Udaipur Rājasamudra inscription called the *Rājapraśasti-kāvya* and the Ajmer *Lalitavigraharāja* and *Harakeli nāṭaka* inscriptions.

Gujarat is considerably rich in the heritage of historical material—archaeological, epigraphic and literary. Accounts of the history and culture of the ancient period are primarily based on epigraphic and literary sources. Epigraphic records are more valuable, as sometimes they are only extant contemporary sources. Moreover, they preserve the accounts of the past in the original language and script of the corresponding periods.

The earliest inscriptions from Indian territory are largely engraved in *Brāhmī* script. A few examples have been found engraved in *Kharoṣṭhī* and Aramaic scripts.

The main contents of most of the ancient inscriptions of Gujarat are of religious character. They throw ample light on the religious ideas and practices, especially regarding the construction or renovation of religious edifices or reservoirs of public utility and the provision for their maintenance as well as grants of land issued to Brāhmaṇas, temples or other religious institutions or

the allotment of other sources of income for their maintenance.

The incision of the fourteen *Dharmalipis* or *Dharmānuśāsanas* of the Mauryan King Aśoka on the Girnar Rock near Junagadh (Saurashtra) inspired local people to devote themselves to piety and benevolence to a larger extent. They indicate various aspects of Aśoka's concept of Dharma and various measures he adopted for its propagation among his people[1].

The rock inscriptions of king Mahākṣatrapa *Rudradāman* I, engraved on the western face of the Girnar Rock contains some account of the construction of the dam for the Sudarśana reservoir at Girinagar as a source for irrigation[2].

Intwa (Junagadh) clay-sealing[3] and Devni Mori (near Shamlaji—North Gujarat) casket inscription[4] have revealed the existence of Rudrasena-vihāra near Junagadh and the erection of a stūpa at *Mahāvihāra* near Shamlaji in the early 3rd cent. A. D. They bear testimony to the popularity attained by Buddhism in Gujarat during this time.

Junagadh rock inscription of Gupta king *Skandagupta*[5] records that the reconstructed Sudarśana lake again burst in Gupta Saṁ. 136 (A. D. 455) because of heavy rain-fall and Cakrapālita, *Goptā* (administrator) of Girinagar got it promptly rebuilt within two months and in Gupta Saṁ. 138 (A. D. 457-58) he built a lofty temple of *Cakrabhṛt* (*Viṣṇu*) in the vicinity of the lake. Thus the inscriptions of Girnar Rock depict the political and the cultural history of the three periods, i. e. the Maurya, the Kṣatrapa and the Gupta covering about the span of 800 years.

The Maitraka kings of Valabhī issued many copper-plate grants, which form the most copious source of information. They record grants of land issued by different kings of the dynasty. The charters give a glorious and eulogistic introduction to the royal donor alongwith that of his lineage and predecessors. The Maitraka kings were *Parama-Māheśvaras* i.e. great devotees of Maheśvara-Shiva. The royal seal bore the emblem of a bull, the sacred vehicle of Śiva. They issued several grants of land to Brāhmaṇas, Brahmanical temples and buddhist *Vihāras*. In the Bhavnagar grant of king Guhasena dated Valabhī Saṁ. 248[6] (A. D. 567), the king introduced himself as a *parama Upāsaka*, i. e. a great devotee of Lord Buddha. The Maitraka grants contain references to donee Brāhmaṇas who studied the three (*traividya*) or four vedas (*caturvidya*) and performed the five *Mahāyajñas*. They also refer to the *Bahvṛc*, the *Taittiriya*, the *Maitrāyaṇīya*, the *Vājasaneyī*, the *Chāndoga* and the *Ātharvaṇa* śākhās of the Veda. Grants of

land issued to temples allude to the purpose of providing for the various items of worship. They also provided for *gīta, vādya* and *nṛtya* performances in the temples. The temples mentioned in the grants were dedicated to Śiva, Devīs and Āditya.

The Buddhist vihāras (monasteries) afforded lodging to abhyantara (internal) and abhyāgata (visiting) (*Bhikṣus*) and *Bhikṣuṇīs*. The *Bhikṣu* vihāras at Valabhī were grouped in Duddā-vihāra maṇḍala and Bhikṣuṇi vihāras in Yakṣaśūra vihāra maṇḍala. The vihāras were built by kings, other members of the royal families, monks, merchants and other householders. The recluses belonged to eighteen nikāyas. Some of them followed the Mahāyāna. The known grants allude to thirteen vihāras in all. The grants of land issued to them were intended to provide for the *cīvara* (garments). *piṇḍadāna* (alms), *Śayana* (bed), *Āsana* (seat) and *Bhaiṣajya* (medicine) for the worship of Lord Buddha. Dhank copper-plates of king Śīlāditya I dated Valabhī Saṁ. 290 (A. D. 609) records the temple of Mahādeva built by Harinātha in the locality of Vaṭapadra[7].

The Maitraka grants make no reference to a few Viṣṇu temples, but the royal eulogies contain several references to Viṣṇu and his incarnations. They represent Viṣṇu as Puruṣottama and also allude to his association with Lakṣmī. The eulogies of the kings make frequent references to the *varāha* and *Trivikrama* forms of Viṣṇu in the context of regaining the lost land and acquiring new territories[8]. An eulogy contains a reference to the *Narasiṁha* form[9]. Some eulogies make frequent allusions to Kriṣṇa and associate him with *bāla-krīḍā*, the lifting of the hill, the subjugation of the serpent, the acquisition of Dvārakā etc.[10].

The cult of sun-worship was another popular cult of the Maitraka period. Maitraka king Dharapaṭṭa professed to be a *Parama-Ādityabhakta*. A grant of Śīlāditya I dated Valabhī Saṁ. 292 (A. D. 611) was issued to a temple of Āditya-deva which was situated in the village of Bhadreyaṇika in Saurashtra[11]. Kavi copper-plates of Rāṣṭrakūṭa Govindarāja Prabhūtavarṣa dated śaka 749[12] (A. D. 827) records a sun temple named 'Jayāditya' in Kotipura (Kavi).

Una plates of Calukya king Balavarman of South Saurashtra, dated Valabhī Saṁ. 574[13] (A. D. 892) records the sun temple of Taruṇāditya on the banks of Kanavīrika river near Jayapur in Naxisapur coryāsī. Ghumli grant of Saindhava king Rāṇaka II[14] refers to the temples of Viṣṇu, Sun, Vināyaka and

Mātṛkās built by one Karpaṭi named Śivarudra Bhatt in Deṇḍi village of Suvarṇamañjarī Viṣaya.

A few inscriptions contain references of the temples of Śakti. The Bhamodra Mota copper-plate grant of Droṇasiṁha, dated Vallabhī Saṁ. 183[15] (A. D. 502) mentions a grant of land issued to the temple of Bhagavatī *Pāṇḍurajjā* at Trisaṅgamaka in *Hastavapra āharaṇī* (modern Hathab near Bhavnagar). A copper-plate grant of Dhruvasena II, dated Valabhī Saṁ. 320[16] (A. D. 639) alludes to a grant of land originally issued by Mahārāja Droṇasiṁha to the temple of *Koṭammahikā Devī (Mahiṣāsuramardinī)* at Trisaṅgamaka. Bhavnagar plates of Dharasena III, dated Valabhī Saṁ. 304[17] (A. D. 623) refers to a temple of Goddess Śaṅkarikā in Siravātānaka *sthalī* (near Kalavad) in Saurashtra.

The grants of the Rāṣṭrakūṭa kings commence with a verse invoking Hari and Hara, while their royal seal bears the emblem of Garuḍa. These kings were giving donations of cows, lacs of *suvarṇas* (coins) and *Drammas* to Brāhmaṇas and temples after weighing themselves with *Suvarṇa* at the *Paṭṭabandha* festival.

Surat plates of Rāṣṭrakūṭa Karkarāja Suvarṇavarṣa, dated Śaka 743[18] (A. D. 821) records a grant of land issued to a Jain Caitya, situated in the locality of Navasārikā (Navsari). The grant provided for the repairs of the Vasatikā attached to the caitya as well as for the expenses for worship in the caitya. The pontiff of the institution belonged to the sena-saṅgha included in Mūla Saṅgha of the Digambara sect.

Monasteries contained images of deities and received grants of land from kings. Chinchni plates of Indrarāja III, dated śaka 848[19] (A. D. 926) records that the Arab governor Madhumatī alias Sugatipa of Saṁyana-maṇḍala, established there free ferry on two streams and also a feeding house where Śāli rice, curries, and ghee were caterred free of cost. Brāhmaṇa Annaiya constructed a maṭhikā (monastery) at Saṁyāna. The governor made a grant of land to the maṭhikā. The income accruing to it from the endowment was to be utilised for the repairs of the maṭhikā and also for the offering of *naivedya* to the goddess *Daśamī* and feeding the nine members of the local *Pañca-Gauḍīya-mahā-parṣad,* the five classes of Gauḍīya Brāhmaṇas being the Sārasvatas, the Kānyakubjas, the Gauḍas, the Maithilas and the Utkalas. The grant alludes to Haṁyamana-pauras; i. e. the Parsee community at Sanjan. This reference

definitely establishes that the Parsees had already settled at Sanjan before 926 A. D. Another Chinchni grant of Rāṣṭrakūṭa Kṛṣṇarāja III refers to the grant issued to the maṭhikā constructed by Kautuka enshrining the image of Madhusūdana, installed by the descendants of the merchants of Bhillamāla (Rajasthan). It contains an interesting reference to the festival of lights, obviously held on the Dīpāvalī day. The Chinchni grant of Cāmuṇḍarāja, a subordinate of the Śilāhāra king Chittarāja, dated Śaka 956 (A. D. 1034) records a grant of a *ghāṇaka* (oil-mill) in favour of the Kautuka-maṭhikā at Saṁyāna (modern Sanjan). The purpose of the grant was to burn a lamp in front of the goddess Bhagavatī as well as for besmearing oil on the feet of the *Svādhyāyikas* (scholars).

Offering meals to Brāhmaṇas was regarded meritorious religiously. A few grants of land were issued to *satrāgāras* for this purpose in particular. During the reign of the Solanki king Ajayapāla, Mahāmaṇḍaleśvara Vaijalladeva granted a village to a *Satrāgāra* in V. S. 1231[20] for feeding new fifty Brāhmaṇas per day. The grant was made by him after having a fast on the *parvan* of *Udyāpana* in Kārttika. Kadi plates of Tribhuvanapāla, dated V. S. 1299[21] (A. D. 1242-43) record another grant issued to a *Satrāgāra*, which provided for the meals of *kārpaṭikas* (pilgrims).

During the Solanki period, the traditions of the earlier periods regarding religious life have been inherited and maintained to a large extent. More emphasis is laid on the *Pūrtadharma* and devotion to deities. Buddhism was entirely extinct, while Jainism attained more popularity during this period. A large number of grants of lands are now issued to temples or mathas. Many stone inscriptions record the construction or reconstruction of temples.

Kadi plates of Mūlarāja, dated V. S. 1043[22] (A. D. 987) record the grant of a village to the temple Mūlanāthadeva at Maṇḍalī in Varddhi viṣaya. The grant was made by the king from Aṇahilapāṭaka, the capital after taking a bath in the water of Prācī-Sarasvatī and worshipping the deity of Rudramahālaya at Śrīsthalaka (modern Siddhapur) on the occasion of a solar-eclipse.

Gala stone inscription of Jayasiṁhadeva dated V. S. 1193[23] alludes to the erection of a temple of Bhaṭṭārikā Śrī-devatā alongwith a small shrine of Vināyaka.

Prabhas Patan stone inscription of Kumārapāla dated Valabhī Saṁ. 850[24] (A. D. 1169) contains a long eulogy of Bhāva Bṛhaspati whom the king

appointed the *Gaṇḍa* (pontiff) of the temple and at whose instance king Kumārapāla renovated the ruined temple of Somanātha and granted Brahmapurī to it for its maintenance. The Gaṇḍa of the temple built forts to the south and north of the temple and enlarged the town. He also installed golden Kalaśas on the temples of Gaurī, Bhimeśvara, Kapardī, Siddheśvara etc. He constructed two step-wells inside the new town and installed a new image of Caṇḍikā in its vicinity. He honoured Brāhmaṇas with gifts.

Kadi plates of Bhīmadeva II, dated V. S. 1263[25] (A. D. 1206) record two Śaiva temples named Bhīmeśvara and Līleśvara erected by Līladevī, Queen of king Bhīmadeva II.

Vaidyanātha praśasti of Dabhoi, dated V. S. 1311[26] (A. D. 1254-55) composed by poet Someśvara records the renovation of the temple of Mūlasthāna near Dabhoi and built the lofty temple of Vaidyanātha at Dabhoi. The fort, the temple and the doors were constructed by Madan.

Anavada grant of Sāraṅgadeva dated V. S. 1348[27] records that several provisions were made for the worship, *naivedya* and *Prekṣaṇaka* of Lord Kṛṣṇa. The grant commences with the well-known verse given in Gīta Govinda invoking the ten incarnations of Viṣṇu.

Sun-worship was also popular during the Solanki period. Bhavanath stone inscription of Karṇadeva II dated V. S. 1354[28] records the erection of a sun-temple by Vaijaladeva in the memory of his parents. The first four verses are devoted to the invocation of the sun-god. The Solar deity in the new temple was designated Muñjālasvāmīdeva. The temple was situated in the neighbourhood of Bhṛgukkuṇḍa. The sun temple exists no more, but it seems to have been situated in the vicinity of the Rāmajī or Murlidhara temple at Desan (Tal. Bhiloda, Dist. Sabarkantha).

Tilakavada plates of Paramāra Bhojadeva, dated V. S. 1103[29] (A. D. 1046) record a grant of land issued to God Ghaṇṭeśvara at the Māṇeśvara temple situated on the confluence of Maṇā and Narmada rivers. The grant contains a reference to the Dakṣiṇāmūrti form of Śiva.

A stone image inscription dated Valabhī Saṁ. 927 (A. D. 1246) records that the image of Govardhana (i. e. Kṛṣṇa uplifting the Govardhana hill) was constructed by Gandhika Jojā with his wife and sons.

Nānāka praśasti at Kodinar records that Nāgara Brāhmaṇa Nānāka the

priest of Vīsaladeva constructed a mansion of Sarasvatī introduced as the educational building Sarasvatī-sadas. The undated praśasti was composed by Kṛṣṇa, Bāla Sarasvatī and the dated praśasti (V. S. 1328) was composed by Gaṇapati Vyās.

It is important to note here that the grants issued to Brāhmaṇas during this period have been introduced either with their castes or with their gotras. It is during this period that the caste-distinction among Brāhmaṇas appears in the epigraphs of Gujarat for the first time. The castes mentioned in the known inscriptions of this period are Nāgara, Udicya, Moḍha, Bhārgava, Rāyakavāla and Śrīmālī, while the gotras cited in the grants are *Bhāradvāja, Kāśyapa, Vatsa, Kuśika, Māṇḍavya, Gautama, Parāśara, Upamanyu, Hārita, Sāṇḍilya, Bādarāyaṇa* etc.

Ānandapura (Vadnagar) is vividly described as a great centre of *dvijas*. Dharma is said to be rejoicing, at the place, as it got supported on sacrificial pillars in all the four yugas.

आब्रह्मादिऋषिप्रवर्तितमहायज्ञक्रमोत्तंभितै —
यूपैर्दत्तकरावलंबनतया पादव्यपेक्षाच्युत:
धर्मोऽत्रैव चतुर्युगेऽपि कलितानंद: परिस्पंदते ।
तेनानंदपुरेति यस्य विबुधैर्नामान्तरं निर्मितम् ॥२०॥

The Kali age dared not approach it being defended by the incessant tumults of the Vedas recited by the Brāhmaṇas, blinded by the constant coating of the smoke of fire during oblations and lamed by the strokes of the flags of various temples.

From the names of the Brāhmaṇas given in the inscriptions of this period it appears that most of their names consist of one or two words each and they are generally adopted from names of deities, such as Vāsudeva, Madhusūdana, Dāmodara, Govinda, Mādhava, Nārāyaṇa, Balabhadra, Rudrāditya, Gopāditya, Kṛṣṇāditya, Devaśarman, Keśava, Surāditya, etc. Some names consist of two words each, the name-endings in these names being āditya, śarman, deva, sura, Iśvara etc. Some Brāhmaṇas hailed from remote places like Madhyadesh *Kānyakubja* and *Vanavāsī*. The *Udicya* Brāhmaṇas obviously immigrated from North India.

The epigraphic records of the Solanki period also throw some light on the religious beliefs and practices in vogue during that period. The main aim and object of the religious grant was the augmentation (*abhivṛddhi*) of the *puṇya*

(religious merit) and yaśas (glory) of the parents and of oneself. The religious grant was especially made on parvans such as lunar or solar eclipse, *Pūrṇimā, Amāvāsyā, Ekādaśī, Sankrānti, Uttarāyaṇa, Vyatipāta* and so on. Almost all the epigraphic records commence with the auspicious symbol of *om*, which is sometimes substituted by *svasti* or *Svasti jayo-bhyudayaśca.*

The grants of the Solanki period are mostly given to religious institutions rather than individual Brāhmaṇas. These institutions included Jain temples along with the Brahmanical ones. Though the family religion of the Caulukya kings was Saivism, they and their ministers contributed to the construction or renovation of Jain temples.

The most sacred Jain place of pilgrimage in Gujarat is the Śatrunjaya hill situated in the eastern part of Saurashtra. The inscriptions compiled from the Jain temples on Śatrunjaya by Acharya Kañcansāgar Sūri include 32 inscriptions dated from V. S. 1190 to 1360. Most of them are inscribed on images and record their installation. They corroborate the tradition that there existed an earlier temple of Ādinātha before Minister Udayan of King Siddharāja Jayasiṁha and Kumārapāla and his sons rebuilt the temple in stone in V. S. 1211 or 1213.

The Jain tīrtha of Mt. Girnar is also a famous one. The group of Jain temples contain three famous temples : The principal temple of Neminātha built by minister Sajjana, the temple ascribed to Kumārapāla and the temple assigned to Minister Vastupāla. Minister Sajjana is said to have constructed a stone-temple of Neminātha on Mt. Girnar in place of the earlier wooden temple. The inscription of Sajjana dated V. S. 1176 (A. D. 1119-20) is preserved in the present temple of Neminātha called *Botera* Jinālaya[30].

An outstanding temple on Mt. Girnar is the triple temple built by Minister Vastupāla. The six stone inscriptions embedded over the six doors of the side shrines, dated V. S. 1288[31] (A. D. 1231-32) state that Mahāmātya Vastupāla and Tejaḥpāla erected numerous new temples and renovated many old ones on Śatrunjaya, Girnar and Abu and Aṇahilapura, Bhṛgupura, Stambhanakapura, Stambhatīrtha, Darbhāvatī, Dhavalakkaka and other cities. On Mt. Girnar Vastupāla contributed four Devakulikās of Ṛṣabhadeva, Pārśvanātha, Mahāvīra and Sarasvatī. Girnar stone inscription dated 1299[32] (A. D. 1243) adds that Mahāmātya Vastupāla built the temple of Ādinātha along with Kapardin Yakṣa behind it.

The most outstanding Jain temple erected by a minister of Gujarat is the Neminātha temple, built on Mt. Abu by Tejaḥpāla, the minister of Rāṇaka Vīradhavala of Dholka, for the spiritual bliss of his wife Anupamadevī and son Lāvaṇyasiṁha in V. S. 1287 (A. D. 1230-31) as recorded in Mt. Abu stone inscription[33]. The image was consecrated by Vijayasenasūri of Nāgendra gaccha. The Praśasti was composed by poet Someśvaradeva. The provision for snapana and pūjā at the caitya, known as Luṇasiṁha Vasatikā was to be made by the three brothers Malladeva, Vastupāla and Tejaḥpāla and their descendants as well as by the family of the parents of Anupamadevī residing at Chandrāvatī. The anniversary of the *pratiṣṭhā* was to be celebrated for eight days (*aṣṭānikā*). The five *kalyāṇakas* of Neminātha were to be celebrated every year by all the *śrāvakas* residing at Delvada. The local Paramāra king Somasiṁhadeva granted a village to (the temple of) Neminātha on the very day of the *Pratiṣṭhā*.

Thus Sanskrit and Prakrit inscriptions of Gujarat are the most valuable source for writing and reconstructing the political and the cultural history of Gujarat. These inscriptions provide ample information about Śaiva, Vaiṣṇava, Buddhist and Jain religions and their religious activities, society, customs, coins and prevailing chronological systems during various periods of the history of Gujarat.

Annotations :

1. Hultzsch, E., *Corpus Inscriptionum Indicarum* (*CII.*), Vol. I, pp. 1 ff.
2. *Epigraphia Indica (EI)*, Vol. VIII, pp. 42 ff.
3. *EI.*, Vol. XXVIII, pp. 174 f.
4. *Journal of Oriental Institute (JOI)*, Vol. XII, pp. 173 ff.
5. *CII.*, Vol. III, pp. 56 ff.
6. *IA.*, Vol. V, pp. 206 ff.
7. G. V. Acharya, *Historical Inscriptions of Gujarat* (*HIG*), No. 57.
8. Vide, the eulogies of Śīlāditya IV, Śīlāditya VI, Śīlāditya VII, Jayabhaṭa III and Ādityaśakti.
9. The eulogy of Śīlāditya VI.
10. Vide the eulogy of Kharagraha II, Śīlāditya VI, Varāhadāsa II, Jayabhaṭa IV and Govindarāja.
11. *HIG.*, no. 59A; EI., Vol. XXI, pp. 116 ff.

12. *IA.*, Vol. V, pp. 144 ff.; *HIG.*, no. 125[c].
13. *EI.*, Vol. IX, p. 4; *HIG.*, no. 234
14. *EI.*, Vol. XXVI, pp. 212 ff.
15. *HIG.*, no. 16; *EI.*, Vol. XVI, pp. 17 ff.
16. *Ibid.*, no. 67; *JBBRAS*, XX, pp. 8 f.
17. *Ibid.*, no. 61; *EI.*, Vol. XXI, pp. 181 ff.
18. *EI.*, Vol. XXI, pp. 133 ff.; *HIG.*, no. 125B
19. *EI.*, Vol. XXXII, pp. 55 ff.
20. *IA.*, Vol. XVIII, pp. 344 f.; *HIG.*, no. 157
21. *Ibid.*, Vol. VI, pp. 208 f.; *HIG.*, no. 205
22. *IA.*, Vol. VI, pp. 191f.; *HIG.*, no. 137
23. *HIG.*, no. 144
24. *Ibid.*, no. 155
25. *IA.*, Vol. VI, pp. 194 f.; *HIG.*, no. 160
26. *EI.*, Vol. I, pp. 20 ff.; *HIG.*, no. 215
27. *IA.*, Vol. XLI, pp. 20 ff.; *HIG.*, no. 223
28. *EI.*, Vol. XXXIV, pp. 151 ff.
29. *HIG.*, no. 238 B
30. Burgess, *Antiquities of Kathiawad and Kaccha*, p. 159
31. Muni Jinavijayaji, *Prācīna Jain Lekh Saṁgraha*, (*PJLS.*), part II, nos. 38-43; *HIG.*, nos. 207-212
32. *PJLS.*, no. 44
33. *Ibid.*, no. 64; *HIG.*, no. 167

□□□

Hemacandra on Justifying Syādvāda and Anekāntavāda

Raghunath Ghosh

I

Hemacandra in his *Pramāṇamīmāṁsā* has forwarded some arguments in favour of justifying *Syādvāda* and *anekāntavāda* and refuted the view of the opponents. Our effort is to give a critical exposition of the position of Hemacandra on this score.

II

Let us concentrate on the arguments given by the opponents as put forth by Hemacandra in connection with the refutation of the tenability of *syādvāda*. It is the contention of the Jaina-logicians that the substance and mode are somehow identical and different both, but not absolutely different and absolutely identical. The opponents are of the view that such standpoint is not at all admissible due to having the defects like contradiction etc. of the following type.

First, just as an entity cannot be both blue and not blue in the same locus, both the affirmative and negative assertion in the same object cannot coexist, as they are opposite to each other[1]. Secondly, if an object is both identical and different, an object becomes identical in respect of one aspect and different in another. From this, it will follow that there will be another locus of difference and another locus of identity leading to the non-integrity of the locus (i. e. as locus will not remain as one)[2]. Thirdly, the object is identical in some aspect and also different in some aspect. These aspects are also to be taken again as endowed with identity in some aspect and different in some aspect. Otherwise, every thing would come under the influence of *ekāntavāda* (absolutism) but not *anekāntavāda* and there would arise the defect of *Infinite Regress (anavasthā)*. That is, the locus of the identity and difference has to be

taken as a bifurcated one due to having both identity and difference which must have another locus endowed with the same identity and difference and in this way *infinite regress*[3]. Fourthly, an object is identical with reference to some aspect which is also endowed with both identity and difference. Again the object is different with reference to some aspect which is also endowed with both identity and difference. On account of having such opposite characters an object is to be taken as a mixed entity (*sankara*) not capable of being described with a particular name, definition etc. Because an object having definite shape, size etc. would be capable of being described. If something is having a mixed character, it becomes indescribable due to having no definite character[4], but in our everyday life we describe and define an object.

Fifthly, the aspect which is associated with identity will have difference also and in the same way the aspect which is associated with difference must have identity also. That is, the same aspect will be associated with identity and difference. From this there would arise the possibility of exchange of functions and attributes of one with another due to having same character, which is not possible. Sixthly, an entity being endowed with identity and difference cannot be ascertained as having a particular character which would lead to doubt due to having two conflicting alternatives[6]. This doubt leads to the non-ascertainment of an entity and lastly this non-ascertainment leads us to the non-determination of the individual status of an object[7]. If an object is not ascertained at all, it cannot be utilized in our daily life to fulfil our purpose-oriented actions. These are the arguments by which the opponents have proved the futility of the *syādvāda* and *anekāntavāda*.

III

Hemacandra came forward to refute the above-mentioned arguments and justified the Jaina-position. He argues that the problem of contradiction as mentioned by the opponents is not at all a contradiction in the true sense of the term in an object already apprehended. An object is to be taken as opposite to another when in presence of an object the another is not known as existing. If the object is perceived clearly, how does there arise the question of contradiction ? If there is the cognition of both blue and non-blue in a particular locus, there is no contradiction as per the definition already cited. The Buddhists also do not accept contradiction between blue and non-blue cognised in a variegated canvas. If there is the realisation of the apparent diverse opposite

characteristics like 'mobile and immobile,' 'red and non-red,' 'covered and non-covered' in a pot etc., there is no scope for the possibility of contradiction in the sense already mentioned[8]. In the light of the same reason the problem of the disintegrity of locus (*vaiyadhikaraṇyadoṣa*) does not arise. In other words, if an object is identical with the locus in some form and different from the locus in some other form, there would arise the disintegrity of locus due to the difference, which is not correct. As said earlier an object may have both the properties the red and non-red etc. From this it does not prove that there is contradiction, because in presence of one (i. e. redness) another property (non-redness) is perceived in the same object. In other words when redness found, non-redness is also found as in the case of *citra-varṇa*. Hence, there is no question of disintegrity of locus as the object is the same[9].

It has been stated earlier that an object is identical in some aspect and also different in some aspect. These aspects are to be taken as endowed with identity in some aspect and difference in some aspect, which leads to the defect of *infinite regress*. This view is also not tenable because the non-absolutist believes that in a real entity there is the synthesis of substance (*dravya*) and, mode (*paryāya*). Difference is not other than this substance and mode, because the term *bheda* or difference denotes these two. When it is said that something is identical with substance, it is to be known that substance itself constitutes the identity, but nothing else. If something is said to be different, it indicates both substance and mode alone, nothing else. Hence it suggests that the real is one and many[10].

If an object is identical in some aspect which is endowed with both identity and difference and if an object is different from something in some aspect which is endowed with both identity and difference, it would be taken as a mixed entity not capable of being described with name etc. This defect of *samkara* does not arise at all, because it is really pointed out that in a cognition of the multiform colour and in the synthesis of universal and particular, in all existent objects there is no confusion inspite of having manifold varieties capable of being described. If it is said that in the above-mentioned instances problem is not there as it is solved by the direct experience of the data, it would go to the Jaina's favour. Because the Jaiṇas also agree that the perception of something gives rise to the cognition that reality is manifold[11].

Moreover, no doubt can be entertained in a matter which is already

ascertained. Because, doubt is a kind of cognition which touches both the conflicting alternatives (*ubhayakoṭika*). Such type of doubt is absolutely not possible in an object the cognition of which is already ascertained without any conflicting alternatives. If it is said that the knowledge of an object which is known is not possible, it will lead to us to the world of contradiction. If knowledge is established, it is to be assumed that there is no lack of knowledge. Hence, the concept of reality as the synthesis of substance and mode is not inconsistent with our experience leading to the substantiation of *anekāntavāda* or *syādvāda*[12]. Though an object has got different modes, it cannot be described as a dubious one (*sandigdha*). Because it is clearly known to us having diverse modes. The cognition does not touch both the alternatives like 'either snake or rope' or 'either pillar or a trunk of a true (*sthāṇurvā puruṣo vā*) etc., but it has got definite character (*nirṇaya*) of diverse nature like an object having existence, nonexistence, indescribable character etc.

IV

It is rightly pointed out by the opponents that, if an object has got manifold characters, it would develop a mixed characters capable of not being described. In response to this some supplementary arguments may be developed in favour of the Jaina-thinkers. If it is said that an object having fixed (but not mixed) character is capable of being known and described, it would never be described. Because, it is very difficuly to know all the definite or fixed characters of an object. Rather it is not possible for us to know all the hidden definite characteristics of an object. Some characteristics are known and some unknown or indescribable. A man is not an omniscient being and hence he has got some limitations according to which he can have limited knowledge. For this reason the fixed character which is called *ekānta* is not at all possible for the Jainas as they believe that each and every object is fundamentally *anekānta* i. e. having diverse characters. Though an object is endowed with diverse characters yet it is capable of being known and described in diverse ways. When we keep looking towards an object, we became acquainted with its various aspects of it. To know an object means to know its substance and various modes, which are capable of being described. Hence, it is not true that a mixed entity cannot be described just as we can easily describe the various colours in the rainbow.

The Jaina view of *anekāntavāda* may be established through the

insertion of relation according to the Naiyayikas. It depends on the different modes (*bhangī*) of looking towards a particular fact. When it is said—'The mountain possesses fire' (*parvato vahnimān*), the existence of fire on the mountain is asserted through relation called contact (*saṁyoga*). The same fire does not exist on the mountain through relation called inherence (*samavāya*). It is the relation through which an object is apprehended as existing as well as non-existing in certain locus, which proves the essence of *syādvāda*.

Though all Aryans and non-aryans reside in India at present, they may be described as existing in England also through a particular mode of looking which is through relation called *svasamrādadhikṛtarājyatva* (i. e. the property of being a kingdom occupied by a king ruling individuals of a particular state). The individuals in India are to be taken by the term *sva*. The king of them is the former king of Indian like Edward VIIth etc. The region conquered by him is England in which the kingdom of this type remains. Hence this existence is through the indirect relation called *svasamrādadhikṛtarājyatva*[13].

Someone may say that he *is* in the room and *is not* in the room simultaneously. If it is left in this way, it would be contradictory like p. ~ p. But the apparent contradiction may be removed if this positive and negative factors are shown to be correct through some specific mode. One may say that one is in the room through the relation of contact (*saṁyoga*) and not in the room through the relation of inherence (*samavāya*). Though a woman is unmarried, she may be described as having a son (*putravatī*) through insertion of a relation called *prāgabhāvavattva* (by virtue of being a locus of the prior-absence of a son). Though he is not married and no son, it amounts to say that there is the *prāgabhāva* (prior-absence) of a son.

As per this *syādvāda* the apparently inconsistent pairs like 'existence-non-existence,' 'eternal-non-eternal' etc. simultaneously feature the one and the same object relative to different limitors (*avacchedakas*). An individual may exist in some place in a capacity of husband, teacher, officer, father, actor etc. The wife feels the existence as husband, but others miss him not as such. In the same way, students, employees, son, spectators feel his existence as teacher, officer, father, actor respectively. In such case also an individual can be looked upon as different ways. A jar may remain in some place as such, but does not exist as cloth (*ghaṭatvena ghaṭaḥ asti na paṭatvena*)[14].

In the same way, the knowledge of 'fire' may be described perceptual,

inferential, and also testimonial depending on the situation. From the words of a trustworthy person an individual can know of the existence of fire in a distant place. He may go towards the locus of fire. When he goes certain distance, he sees smoke arising from a place by which he infers the existence of fire. When he goes nearest to the fire, he perceives the same with his own eyes[15].

From the above discussion it may be concluded that the *anekāntavāda* or *syādvāda* of the Jaina-logicians is grounded on sound logic. Each and every individual has liberty to describe an object according to his own feeling, impression, presupposition, culture etc. As these are determining factors of describing some entity, the description may be of diverse types. This is one side of the *anekāntavāda* or *syādvāda*. One question may be raised in this context whether the presupposition, culture, feeling etc. lead us to describe an entity in different ways or the entity itself bears diverse modes for which it is described in various ways by an individual. Hemacandra will favour the latter alternative. To him an object is capable of being described in diverse ways as it is endowed with intrinsic diverse nature. This view may be justified from the fact that one can interpret a particular sentence or text in different ways according to one's culture, presupposition etc. if the object (sentence or text) is capable of being interpreted. Had there been no such possibility, no one could have given diverse interpretations. Hence, the entity itself bears nature of diverse types, which substantiates Hemacandra's position.

Annotations :

1. "Tathā hi—dravya-paryāyayoraikāntika-bhedābheda-parihāreṇa kathañcidbhedābhedavādaḥ syādvādibhirupeyate, na cāsau yukto virodhādidoṣāt-vidhi-pratiṣedharūpayorekatra vastunyasambhavānnīlanīlavat."

   Pramāṇamīmāṁsā, 1.1.32, Prose portion - 130.

2. "Atha kenacidrūpeṇa bhedaḥ kenacidabhedaḥ, evaṁsati bhedasyā-nyadadhikaraṇamabhedasya cānyaditi vaiyadhikaraṇyaṁ." *Ibid.*

3. "Yaṁ cātmānaṁ purodhāya bhedo yaṁ cāśrityābhedastāvapyātmānau bhinābhinnāvanyathaikāntavādaprasaktistathā ca satyanavasthā." *Ibid.*

4. "Yena ca rūpeṇa bhedastena bhedaścābhedaśca yena cābhedastenāpyabhedaśca bhedaśceti samkaraḥ." *Ibid.*

5. "Yena rūpeṇa bhedastenābhedo yenābhedastena bheda iti vyatikaraḥ." *Ibid.*

6. "Bhedābhedātmakatve ca vastuno viviktenākāreṇa niścetumaśakteḥ saṁsayaḥ." *Ibid.*

7. "Tataścāpratipattiḥ iti ca viṣayavyavasthā." *Ibid.*

8. "Naivaṁ, pratīyamāne vastuni virodhasyāsambhavāt. Yatsannidhāne yo nopalabhyate sa tasya virodhīti niściyate. Upalabhyamāne ca vastuni ko virodhagandhā-vakāśaḥ ? Nīlānīlayorapi yadyekatropalambho'sti tadā nāsti virodhaḥ. Ekatra citrapaṭījñāne saugatairnīlānīlayorvirodhānabhyupagamāt ekasyaiva ca paṭādeścalācalaraktāraktāvṛtānāvṛtādirviruddha-dharmāṇāmupalabdheḥ prakṛte ko virodhaśaṁkāvakāśaḥ ?" *Ibid.*

9. Etena vaiyadhikaraṇyadoṣo'pyapāstaḥ, tayorekadhikaraṇatvena prāguktayuktidiśā pratīteḥ." *Ibid.*

10. "Yadapyanavasthānaṁ dūṣaṇamupanyastaṁ tadapyanekāntavādimatāna-bhijñānaiva. Tanmataṁ hi dravya-paryāyātmake vastuni dravyaparyāyāveva bhedaḥ bhedadhvaninā tayorevābhidhānāt, dravyarūpeṇābhedhaḥ iti dravyamevābhedaḥ ekānekātmakalvādvastunaḥ. *Ibid.*

11. "Yau ca saṁkaravyatikarau tau mecakajñānanidarśaṇena sāmānya-viśeṣa-dṛṣṭāntena ca parihṛtau. Atha tatra tathā pratibhāsaḥ samādhānaṁ, parasyāpi tadevāstu pratibhāsasyāpakṣapātivāt." *Ibid.*

12. "Nirṇīte cārthe saṁśayo'pi na yuktaḥ tasya sakampapratipattirūpatvādakampapratipattau durghaṭatvāt. Pratipanne ca vastunyapratipattiriti sāhasaṁ. Upalabdhyabhidhānādanupalambho'pi na siddhastato nābhāva iti dṛṣṭeṣṭāviruddhaṁ dravyaparyāyātmakaṁ vastviti." *Ibid.*

13. "Tathā hi svasamrādadhikṛtarājyatvasambandhena bhāratavarṣīyāḥ sarva eva āryā anāryāśca englāṇḍe santi."

Navyanyāyabhāṣāpradīpaḥ (Ed. by Kalipada Tarkacharya), Sanskrit College, 1973, p. 13.

14. Tushar Sarkar : *Some Reflections on Jaina Anekāntavāda and Syādvāda, Jadavpur Journal of Philosophy*, Vol. 4, No. 2, 1992, p. 19.

15. ".... sarvatra viṣayabhedasya darśitatvāt-satyaṁ dharmyabhiprāyeṇa samplava kathyate .... Tadudāharaṇantu ...' agnirāptopadeśāt pratīyate, amutreti, pratyāsīdatā dhūmadarśanenānumīyate pratyāsannatarena upalabhyate' ityādi."

Nyāyamañjarī, The Oriental Research Institute, University of Mysore, 1969, p. 93.

□□□

Jain Contribution to Sanskrit Literature

A. Venkata Rao

The Jains played a significant role in the literary and linguistic development of India. Sanskrit has all along been the medium of sacred writings and preachings of the Brahmanas and Pali for Buddhists. The Jains utilised existing languages like Sanskrit to propagate their religious teachings and preachings and also for the preservation of knowledge. Though popular literature written in Prakrit, Sanskrit was not prohibited altogether. In order to popularise their canons among the elite also, they adopted Sanskrit as the medium, thus enriching it with Mahakayyas (Epics), biographies of their saints and sages, short stories, stotras and lyrics. Let us have a peep into the glorious work turned out by the Jains of our mother-land.

Mahakavya

1. *Harichandra*, a Jain poet of the Digambara Sect, was the son of Ardradeva and Aadha and brother of Laksman of the Kayastha Sanomaka family. He bore the title of Sarasvatiputra. He is mentioned by Rajasekhara in his *Karpuramanjari*. It seems, he wrote *Dharma Sarma bhyudaya*.

2. *Jinasena* was the pupil of Vīrācārya and was at the head of those who were proficient in the fragment of the sacred texts left after the time of Subhadra and Loharya, sages who were conversant with the Ācāranga of the Śvetāmbara Jain religion. Vīrācārya and Jinasena converted the Rastrakuta king Amoghavarsa into Jainism and the king abdicated his throne in favour of his son in 875 A. D. Vīrācārya was an illustrious mathematician and alludes to the king in the prasasti of *Ganitasārasangraha*. Jinasena's pupil Gunabhadra was the preceptor of king Kṛṣṇa II, Akalavarśa. Among his works *Harivaṁsa* was composed in the reign of Kṛṣṇaraja I, grandfather of Amoghavarśa, in 793 A. D. and Pārśvabhyudaya, in 814 A. D. of ADIPURANA 42 chapters were written by Jinasena and the last, five were completed by his pupil Gunabhadra according to his instructions as *Uttarapurāṇam*. This was consecrated by his

pupil Lokasena in the reign of Rastrakuta king Kṛṣṇa II, Akalavarśa, on 23rd June 897 (Saka 828).

Parasvābhyudaya is a poem in imitation of Kalidasa's *Meghasandesam.* The last lines of the verses of the latter are taken and the first three lines are added. The poem deals with the story of Parsvanatha, the 23rd Tīrthankara.

Jinasena's poetry is of a high order and often equals if not surpasses the beauty of Kalidasa's expressions.

3. *Dhananjaya* was son of Vasudeva and Sridevi. He was a Jain. By his time *Dvisandhāna,* or poem of double entendre narrating different tales in the same expression became, as it were a generic name. Daṇḍin inaugurated it and his poem of that name is mentioned by Bhoja in his *Śringaraprakaśa,* but it is not now available. Subandhu adapted the device to prose and his *Vasavadatta* indicated the heights to which a poet can work upon the innate excellence of Sanskrit vocabulary, to express his imagery in brief punning phrases. Dhananjaya followed and he narrated the story of *Ramayana* and *Mahabharata* at a time in his *Dvisandhana* in measures at once fluent and heavy. He is conscious of his merit and deems himself almost a combination of Valmiki and Vyasa, who, with Daṇḍin, were in his mind the only three poets. He classes his work an one of the three gems, as unblemished as Akalaṅka's *Nyāyasāstra* and Pūjyapāda's *Vyakaraṇa.* He praises Anandavardhana and Ratnakara, is euloguised by Somadeva and Jalhana and is quoted by Vardhamana. He must therefore have lived in the 9-10th centuries A. D. He also wrote a lexicon *Dhananjayamālā.*

4. *Hemacandra* was born at Dhandhuka in Samvat 1145 (1088 A. D.) and was the son of Chachiga Sresthi and Pahini. When his father was away, a monk Devendrasūri of the Vajra śākha asked his mother to give away the child then 5 years old, to be brought up in the monastic order. The mother parted with him very willingly and he was initiated under the name of Changdeva. His father was put out at the news and discovered the son, when it was too late, all-engrossed in his ascetic serenity. To demonstrate his powers, he set his arm in a blazing fire and his father found to his surprise the flashing arm turned into gold. Thence came the appellation Hemacandra. He studied under Devacandrasūri of Purnatalliyagaccha. He was consecrated in Sam. 1154 and made a sūri in thirteen years later. At the court of *Anihillavid in Guzerat* he spent many years under the patronage of kings Jayasiṁha Siddharaja (1094-1143

A. D.) and his successor Kumarapala. He was in fact a minister at the royal durbar and by his influence Jainism became the state religion. Viharas 1400 in number were built. Though as gain by adoption, he respected Brahminism. Laws against consumption of meat and cruelty to animals were enacted.

Kvyanusasana with a commentary on it called *Alaṅkāracudāmaṇi*, in eight chapters, is a valuable work in literary history. It discusses the poetical theories of Bharata, Lollata, Daṇḍin, Sankuka, Maṁmata, Bhaṭṭanayaka and refers to several works of which some are not extant.

5. *Meghavijayagaṇi* (Hema Vijayagaṇi) was a Jaina monk. He was a pupil of Kṛpavijaya and 5th in heirarchical descent from Hiravijaya. He was well-versed in grammar, astronomy and logic, and his writings on these branches of learning are now appreciated. As a poet, his greatness is sufficiently proved by his *Saptasandhāna*, a poem in which seven stories are at a time narrated, in a very so licitous language all the same. In *Devanandābhyudaya*, of seven cantos, he relates the life of Vijayadevasūri. This was composed in Samvat, 1727 (1671 A. D.). In *Santinathacarita*, he narrates the life of Santinatha. In these two poems, he has taken the lines of *Śisupalavadha* and *Naisadha*, as for Samasya, and constructed his verses to complement them.

In his *Satārthakāvya*, he interpreted a single verse in a hundred ways.

6. *Somaprabhacarya* : In his *Satārthakāvya*, he interpreted a single verse in the beginning in a hundred ways. He has given the meanings of the 24 Tirthaṅkaras of the Jain religion, then in the middle, he has given the explanations of the Vedic deities. Like Brahma, Narada, Viṣṇu and others and at the end, he has brought out references to his contemporaries, like Vadidevasūri and Hemacandrācārya, the great religious preceptors of Jainism, Jayasiṁhadeva, Kumarapala, Ajayadeva, Mularaja, the four successive Calukya kings of Guzerat, poet Siddhapala, the best citizen of the time and Anitadeva and Ajayasiṁha, his two preceptors. After this, at the extreme end, he has elucidated reference to himself and in the final conclusion, he has quoted a short *Praśasti* in five verses written on himself by some disciple of his. His *Sṛngāravairāgya taranginī* is a didactic poem. Though not again, he described *the dispute of Śvetāmbara and Digambara sects.*

7. *Yeśascandra* in his play *Muditakumudacandra*, described the dispute of sects. He wrote a poem Viarocanaparājaya and several *prasastis* printed in *Jain Prācīnalekhamālā*.

8. Abhayadeva was a Jain monk. He was the pupil of Vijayacandra and a son of Devabhadra, and was fourth in succession from Jinasekharasūri who flourished in Sam. 1204. For his eminence in learning, he was given the title of Vadisiṁha by the king of Kaśi. Under him, the Rudrapatijagaccha rose to greatness. His *Jayantavijaya* (1221 A. D.), a poem in 19 Cantos, relates the birth and life of Jayata, and was composed in Sam. 1278 (1222 A. D.). It contains elaborate descriptions of the seasons, sunrise, sunset, sports, and expeditions.

9. Viranandi's *Candraprabhacarita,* in 18 cantos, begins with a description of king Kanakaprabha and describes the life of Candraprabha, a Jain Tīrthaṅkara. In the last canto, tenets of Jainism are summarised and the poem ends with Indra's incarnation as Jina. Viranandi must have lived not later than the 13th Century A. D.

10. Amaracandra, also called Amara, was a resident of the town of Vagata near Aṇṇhilivad. He belonged to a hierarchy of Jain priests. He was the disciple of Jinadatta Sūri. Having been initiated with the Mantra of Siddha-Saraswati, he attained eminence by penance and the Goddess Saraswati conferred on him the boon of poetry. Once Visaladeva, the king of Gujarat, heard of his greatness and sent for him to his court Dhavalakkaka. He was then examined by a number of court poets, Someśvara and Nanaka among them, and pleased with his greatness, the king honoured him well. King Visaladeva, son of Viradhavala, ruled between 1243-1262 A. D. and Amaracandra must therefore have flourished about the middle of the 13th century. His discription of sunrise brought him the title Venikṛpāna.

Among his works Balabharata is the most famous. It narrates the story of the Mahabharata in the order of the parvans and is therefore the side a poetic epitome of it. His poetry is of a high order and placed by the side of the *Raghuvaṁśa.* It may not be possible to discern disparity in literary merit.

11. *Udayaprabhasūri* (11th C.) was the religious preceptor of Vastupala and Tejapala. He was great as a poet, theologian and astronomer. His *Arambhasiddhi* is an astronomical work and *Upadesmālā* Karnika, a commentary on Upadesamala composed in Sam. 1299. His *Dharmābhyudaya* or *Sanghadhipatcarita* is a Mahākavya composed on the occasion of Vastupala's pilgrimage to Jain shrines of Western India. Narendraprabha was a collaborator in the poem. His *Sukṛtkīrtikallolinī* is a panegyric in praise of Vastupāla and Tejapāla composed on the occasion of their pilgrimage to Śatruñjaya. The latter

is of great historical value in that, it gives the geneology of Vastupāla and describes the Capotkala and Calukya kings.

12. Jayasiṁhasūri was the pupil of Vīrasūri, and the Āchārya of the shrine Munisuvrata at Broach. He was a Jain Śvetāmbara. Once when Tejapāla, the brother of Vastupāla, came to visit the shrine, he recited a poem containing a request for a donation for twenty-five golden staffs in Sakunika Vihara of Ambada and as that request was granted, he composed a panegyric Vastupālaprasasti in praise of the brothers, and with the same object of commemorating the gift, he wrote the drama *Hammiramadamardana* at the instance of Jayatrasiṁha or Jaintasiṁha, son of Vastupala, which was enacted at the festival of Bhimesa in Cambay.

13. Merutuṅga's *Prabandhacintāmaṇi* is a work of great historical importance. It was finished at Wadwan on the Vaisakha full moon of Sam. 1362 (1306 A. D.). It is divided into five prakasas, and each prakaśa into prabandhas. Each prabandha relates a story. It begins with the story of Vikramaditya, the traditional founder of the samvat-era. Then follows a short story of a previous birth of Satavahana. Then comes a long history of the Calukya kings of Anhilvad and in their connection king Bhoja and Munja are noticed. Then comes a detailed account of the Vaghela ling Lavanaprasada and Vīradhavala with their minister Vastupala and Tejapala. The last chapter is miscellaneous of which the tales of Laksmanasena and Umapati and Bhartṛhari may be of interest. His *Mahapuruṣacarita* gives an account of som Jain saints, though he is not a jain.

14. *Rajasekharasūri* was the pupil of Tilakasūri. He was a Jain. He wrote *Prabandhakośa*, a collection of 24 stories in prose at Delhi under the patronage of Mahanasiṁha, in Sam. 1405 (1348 A. D.). Of the stories related in the *Prabandhakośa*, ten refer to teacher (Suri), four to poets, seven to kings, and three to laymen in royal service. The four poets are Śriharṣa, Harihara, Amaracandra and Digambara-Madanakīrti. Among the seven kings are Laksmanasena and Madanavarman. A manuscript ends with a list of thirty-seven Chahamana kings down to Hammiradeva, who is stated to have ruled from Sam. 1342 to 1358, and his ancestor Pṛthviraja from Sam. 1226 to 1248. The list also mentions the names of the Sultans, with whom some of the Chahamana kings were at war.

15. *Sakalakīrti* was a Bhaṭṭaraka of the Jain religion. His *Dhanyakumāracarita*, a poem in seven Adhikaras, describes the life of

Dhanyakumara, son of Dhanapala, a Vaiśya of Ujjain, who by his devotion was regarded as a saint. He wrote poems *Sudarśanacarita, Srīpālacarita* and *Vṛṣabhacarita. Mahavīrapurana* is an extensive work.

16. Vadirajasūri (alias Sanmukha) a Jain ascetic, was called Dvadasavidyapati, probably on account of his proficiency in twelve arts. His *Yaṣodharacarita* is a poem narrating the life of Yaśodhara, son of Yasodhara and Candravati of Ujjain, a saintly king of Jaina sect. He also composed *Pārśvanāthacarita.*

Laghu Kāvya (Minor Poem)

17. *Samantabhadra* was a very early Jain poet and probably lived about the beginning of the Christian era. "In the *Vīravamsāvali* of the Śvetāmbaras, he is entered as the 16th pontiff who lived in 889 after Nirvāna. In the book of Stories, *Aradhanakatha-kośa* of Prabhacandra, there is this traditional account. He was a resident of Kanchi, a sage of might. Coming to suffer from an abdominal disease, he roamed all the way from Kanchi to Paundrapura, Dasarupa and Benaras. At the latter place, he performed a miracle, by manifesting an image of Pārśvanātha out of an image of Śiva." He wrote *Devāgamastotra* and *Svayambhustotra.*

18. *Siddhasena Divākara* author of *Nyāyāvatara*, is mentioned along with Samantabhadra. They are both recognised by the two sections of the Jains, both were great logicians, both lived probably in the early centuries of the Christian era and the tradition of converting a king by manifesting an image of a Tīrthaṅkara out of an image of Śiva, is reported about both. These coincidences have led some, to entertain a belief that the two persons were identical. But since they are separately mentioned by such early writers as Haribhadra Sūri and Jinasena, the theory is untenable. His mother was Devasika and father a Purohit of king Vikrama of Ujjain.

Chitra Kavya

19. *Sobhana was a staunch* (10th C.) and converted his brother Dhanapala into his faith after prolonged effort. He was known as Sobhanamuni. He lived in the court of Dhara in the 10th century A. D. His stuti also called *Caturviṁśatika* consists of 4 groups of verses, "The first in praise of 24 Tīrthaṅkaras, the second in praise of all the Jinas, the 3rd in praise of the Jain doctrine, and the fourth in praise of various deities." The verses are so constructed that the second and fourth line of each verse agree to the letter in

sound, and bear different meanings. Dhanapāla wrote a commentary on it.

20. *Dharmasena's (Vidagdhamukhamandana)* a Jain is a collection of enigmatical verses, in 4 chapters, on different copies in Citra Varieties. There are commentaries on it by Taracandra of Sivarajadhani, by Durgadasa and by Gaurikanta and Narahari and one anonymous. Visveśvara's *Kavindrakarnābharana* is a similar work.

Gadyakavya (Romance)

21. Dhanapala was the son of Sarvadeva and brother of Sobhana of Kasyapagotra. Aliented from his family on some domestic differences, he gave up his home and rambled through the Universities of India. In a few years, he grew well-versed in literature and arts, and when he returned, he was received by his brother with remorse and affection. He calls himself son of Goddess of Learning. *He seems to have been a convert to Jainism with all his family.* He was a contemporary of Halāyudha, Padmagupta, Dhanañjaya and Devabhadra and at the durbar of kings sīyaka and Vākpati of Dhāra was hailed as the foremost of the learned of his day.

He composed his romance of *Tilakamañjari* to please his royal patron, who though versed in all art and literature, was anxious to have an idea of the stories of the Jaina theology. This long romance was being handed over part by part to the king and once when yet it was incomplete, the king fell out and ordered the manuscripts to be burnt away. Dhanapāla was inconsolable, but his young daughter, Tilakamañjari had, without his knowledge, committed to memory every line of the story and she accosted him with a smile and could transcribe the work by her recitation, and the beloved father gave her name to his work.

22. Vadibhasiṁha was an ascetic of the Digambara Jaina sect, and pupil of the sage Puśpasena. His real name was Odeyadeva. "He puts down his interlocutory antagonists as the lion does the elephant and so was he Vadibhasiṁha." His tutor is the sole object of worship to him, whose greatness transforms fools into genuises. He lived in the southern district of the Madras Presidency, where some of the Tinnevelly sects have such appellations. In his *Gadyacintāmani*, a narrative in II lambhas, he describes the life of king Satyadhara and his son Jivandhara, culminating in the letter seeking peace in asceticism. Based on the Gunabhadra's *Uttarapurāṇa*, the plot runs in easy language, in close imitation of the situations and descriptions of Kadambari.

The ethical import is all supreme, that "Vice ever faileth." His *Kṣatracūdāmaṇi* is a poem in II chapters on the life of Jivadhara and is in most places on Sanskrit rendering of the Tamil work *Jivaka-cintamani.*

Kathānaka (Stories)

23. *Purnabhadra*, Jinapati Suri's pupil, was a Śvetāmbara Jain monk. He revised *Pañcatantra* at the instance of Somamantrin in 1199 A. D. It is marked by the appearance of twenty-one new stories, including a famous one of the gratitude of animals and the ingratitude of man.

Pūrṇabhadra used an earlier Jain recersion whose author quotes Magha and Rudrata must have therefore lived after the 9th century A. D.

24. Somacandra was the pupil of Ratnasekhara of Tapa Gaccha. He wrote his *Kathā mahodadhi*, a collection of 120 Jain stories, in 1504 (1448 A. D.) beginning with the story of Karpuraprakara. *Bharata Kāḍyaṭrimsika* contains 32 stories of Jain origin, satirical of Brahmin usages.

Anthologies (Subhasita)

25. Amitagati was a Digambara Jain ascetic and pupil of Mādhava Śena.. He wrote *Dharmapariksa* (in Sam. 1070) and *Subhāṣitaratnasandoha* in Sam. 1050 (994 A. D.) during the reign of king Munja of Dhara.

Campu

26. Somadeva traces his spiritual descent through Nemideva to Yaśodeva and was a Jain. He was patronised by the eldest son on Prince Arkesari of the Calukya race, a feudatory of the Rastrakuta monarch Kṛṣṇarajadeva. He wrote his *Yaśastilakacampu* in saka 881 (951 A. D.). in seven āṣvāsās, this book relates the story of king Yaśodhara, Lord of Avanti, with his capital Ujjain, the machinations of his wife, his conversion to Jaina faith, his assassination and re-birth. The last three chapters form a popular hand-book of devotion supplementary to, and explanatory of, the sacred texts of Jainism.

As a landmark in the history of poetic literature, it is particularly valuable. Somadeva names several authors who adored the religion of Jina and as an incident of the narrative, mentions some other ancient poets.

The colophon to his *Nītivākyāmṛta* mentions another work of his *Mahendramātali sankalpa*. *Nītivākyāmṛta* follows Cāṇakya's *Arthaśāstra*.

Dṛṣyakāvya

27. Ramacandra was the famous one-eyed pupil of Hemacandra and lived in 12th century. "Two legends are connected with regard to this circumstance." According to them, Rāmacandra was unruly and when taken before the sage Jayamana, he made him have a single eye to the furthering of the Jain faith. On this, Rāmacandra lost one of his bodily eyes. According to the other legend, the loss was the punishment for criticism passed by Rāmacandra in spite of the warning of his teacher on a poem of Sripāla. He is reported to be the author of hundred works, of which only a few are now available. Of these, some are dramas, *Nalavilāsa, Raghuvilāsa, Rāghavābhyudaya, Yādavābhyudaya, Nirbhayabhima, Vanamālikā, Mallikāmakaranḍa, Satyahariṣcandra,* and *Kaumudimitrānanda.*

Ramacandra along with Guṇacandra wrote a treatise on dramas, *Nāṭyadarpaṇa.* It is valuable in literacy history for its quotations from various works of great merit, now lost to us.

28. Ramabhadra or Rama, the Jaina monk and poet, was the disciple of Vaḍidevasūri according to Prabhāvakacaritra. Vadideva died in sam. 1226 (1272 A. D.). His play *Prabuddha-Rauhineyam* was enacted at the festival of Śri Yugadideva in a temple constructed by Chahamana chiefs Yaśovīra and Ajayapala, sons of Pārśvacandra, whose munificence is recorded in inscriptions bearing dates Sam. 1242, 1268. The poet, therefore, flourished about the last quarter of the 13th century A. D.

Saṅgita

29. Pārśvadeva was the son of Ādideva and Gauri of the race of Srikantha and disciple of Mahādevarāya. He was a Jain and his belief is that music is a way to salvation, while Darśanas are not. He calls himself Sangītasakara and Srutijñacakravartin, Abhinava-Bharatācārya, etc. He refers to kings Bhoja, Someśvara and Paramardin and is quoted by Singabhupala and must therefore, have lived in the 13th century. His *Sangitāsamayasara* has 9 adhikaranas, on nāda, ḍhwani, on sthāyis, on rāgas, on dhokki, etc. on vāḍya, on abhinaya, on tāla, on Vādya, and on Prastāra, etc., and ends with aḍhvayoga. He mentions writers king Pratapa, Digambara and Sankara, etc.

30. Sudhākalaśa was a Jain and pupil of Rāja Śekhara Suri. In six chapters on music and dancing, he wrote *Sangitopanishad* with commentary calling the whole Sangitopanishad in Sam. 1380 (1323 A. D.) and in Sam. 1406

(1349 A. D.).

31. Namisādhu was a Śvetāmbara Jain Bhikṣu and disciple of Śālibhadra. He wrote his commentary in the year Sam. 1125 (1069 A. D.) for men of feeble intellect, ever on the look out for primers and abstracts. His gloss is drawn up "In strict accordance with commentaries drawn up by mighty minds of old." For Rudrata's work to grow so much in importance and for it to become so popular, sufficient time must have elapsed and about two centuries may be thought of as that interval.

32. *Ajitasena* was a Jain ascetic. He was priest of Camundaraya, minister of the Ganga king Ragamalla of the 10th century A. D. He was the teacher of the Kanarese poet Nagavarama, head of a Mutt at Bankipore. His *Sṛingāramañjarī* is a small work in 128 verses meant for elementary instruction, but *Alaṅkāracudāmaṇi* is more elaborate.

33. Asadhara was the son of Sallaksana and Rathi of the family of Vyaghravala. He was a Jaina teacher. His wife was Sarasvatī and his son Chabada, a favourite of king Arjunavarman of Malva who ruled in the 1st quarter of the 13th century A. D. He lived till Sam. 1296 A. D. (1240 A. D.). He wrote about fifteen works, of which he gives a list. His Trisasti-smrtis-sastra was written in 1236 A. D.

34. Harihara, a Jaina poet named Madanakīrti, and Someśvara, the author of the Kīrtikaumudi and Vastupala were contemporaries.

Dūtakāvyas

Mythological subjects R. G. Rama and Sita, Krishna and Radha, Pārśvanātha and Neminātha utilised. In the hands of Jaina and Vaiśṇava authors, the device easily becomes the means of religious instruction, reflection or propaganda. A curious literary application is also seen in the adoption of the trick of Samasyā-pūraṇa in the composition of some Dūta-kāvyas. The Jaina poems about the progress report from a pupil to the preceptor are not fictitious in respect of persons figuring in them, as in the *Pavana-duta* of Dhoyi.

Conclusion

Innumerable Jain books are lying in various places which are seeing the light very slowly due to the efforts of genuine scholars. The Jains were impartial for all the languages. Even Dravidian languages were also patronised by the Jain scholars.

The Jain literature was a serious type of literature for the cultivation of such virtues, without which man's fate was sealed. Symbols and signs of these dangerous trends are seen as a writing on the wall. If humanity is anxious to establish and enjoy peace and prosperity in this world and good will among the mankind, it must make itself from the cruel clutches of greed and selfishness: To realise these noble ideals of nobility, tolerance, non-violence, love for humanity and supremacy of spiritual over worldly gains, Jainism is leaving no stone unturned for the welfare of mankind.

□□□

Generic Relationships of Prakrit Languages in the Vedas

Narayan M. Kansara

The term *'Prākṛta'* has been explained by grammarians like Hemacandra, as one derived from the word *'prkṛti'* which means Sanskrit[1]. And, accordingly, he classified Prakrit words into three types, viz., *Tad-bhava, Tat-sama* and *Deśī*, out of which he has discussed only *Tad-bhava* ones, leaving out the rest of the two types. And he has shown that Prakrit does not use *'Ṛ', 'Ṝ', 'Ḷ', 'Ḹ', 'AI', 'AU', 'Ṅ', 'Ñ', 'Ś', 'Ṣ', Visarga, Pluta,* consonants without vowel, dual number and Dative plural[2]. The very fact that he has analysed the Prakrit, in all its varieties, viz., *Māhārāṣṭrī, Śaurasenī, Māgadhī, Ardhamāgadhī, Paiśācī, Cūlikāpaiśācī* and *Apabhraṁśa*, and concluded the eighth Adhyāya with the last sūtra[3] indicating that the rest is as found in Sanskrit, as a part of his voluminous work called *Siddha-haima-śabdānuśāsanam*, seems to imply that basically he regards Sanskrit and Prakrit as one and the same speech (*śabda*), with a variety in their modes of utterances, rather than independent languages. We may call them dialects in modern terms. Modern academic world tends to derive the term *'Prākṛta'* from the same word *'Prakṛti'* but takes it to denote people in general or the masses, as distinguished from the elites. This implies that while Sanskrit was the speech of the elite, Prakrits were the languages of the masses. Both these views have an underlying grain of truth, but they are not fully correct and historically valid.

When we refer to the Vedas in this context, we mean the type of the ancient archaic Sanskrit, known to academicians and indologists as Vedic Sanskrit, rather than the contents, of the Vedic Saṁhitās, Brāhmaṇa texts (which include Āraṇyakas and Upaniṣads), as also the Rāmāyaṇa and the Mahābhārata. Vedic Sanskrit is the oldest extant speech of India, and Pāṇini has *referred to it by the words 'Chandas', 'Mantra' and 'Brāhmaṇa', while he has* indicated the speech prevalent in his days by the word *'Bhāṣā'*, and both these

are covered by the single term '*Śabda*', the *Anuśāsana*' of which he has embarked upon[4]. The commentators like Patañjali[5] and Vāmana-Jayāditya[6], explain these two varieties by the words '*Vaidika*' and '*Laukika*'. And, in his analysis of '*Śabda*' he has treated the latter variety as the basis of the discussion, while noticing the variations of the former in the light of the latter, but all the while considering the two as but one organic unit.

The underlying reason which made Pāṇini present his work in this manner, and the one which made Hemacandra present his Prakrit grammar as a part of his Sanskrit one, seems to be that they regarded them as one language spoken in a variety of different ways, but in actual practice understood and grasped by different classes of people in their contemporary society. When we try to trace back the roots of the Prakrit language in the past, we have to keep this aspect of historical reality in mind. It was similar to the current situation in which, for instance in Gujarat, people in general generally understand the speech of all the varieties of Gujarati, with their marginal modes of modifications in utterances, and with the general feeling that the language is but the same. This was the case with the ancient language, called Vedic Sanskrit, which was in popular usage thousands of years before Vikramāditya Era or the Christian one.

From time immemorial upto the Mahābhārata war, and for some centuries thereafter too, everybody from prince to pauper, master to servant, holy man to the devil, old men to children, judge or criminal, policeman or soldier, or house-wife, midwife, sweepers to prostitute and burglars to burglars, everybody spoke the ancient Vedic Sanskrit because there was no other language then. That is why all literature of ancient times is entirely in Pre-Pāṇinian Archaic Sanskrit[7]. Vedic language was a spoken language of day-to-day life. In the Vedic times this language spread to whatever region the Vedic people spread. During those days this language was not bound by the chains of grammar. While speaking, nobody was afraid of making mistake. The aim of the language was to express ones responses to the best of one's desires. This is the primary characteristic of a living language[8]. The words used in the Vedas and the derivation of the composition of those words by Pāṇini, as also comprehensive derivation of the words used in the extensive Prakrit literature as shown by Kaccāyaṇa, Caṇḍa and Hemacandra, when mutually compared, quite clearly shows that the comprehensive Prakrit language has preserved the heritage of the Vedic language, which was a living speech. It is, therefore, not

in the least an exaggeration to say there is close relation of the extensive Prakrit with the living stream of the Vedic language[9].

A large mass of Vedic variants that bear striking resemblances with the phonetic features of the Prakrits, i. e., the later Middle-Indic dialects has been collected by Bloomfield and Edgerton in their *Vedic Variants*. This was followed by studies by Oertal, Wackernagel, Tedesco and Devasthali, on this aspect of the Vedic Sanskrit. These studies are convincing for the existence of dialects, contemporary with the Vedic texts and having phonological features that we know from the later attested MIA dialects. Skold's study of the *Nirukta* has led him to believe that Yāska spoke a language of that earlier stage of Middle-Indian which is characterized as the "*Pali-Stufe*" by German scholars. He further states that the Sanskrit of Yāksa and Pāṇini was spoken language of the educated class, the brahmans, but which could not remain uninfluences by the vernaculars. Emeneau finds in Pāṇini some clear evidence of this nature which he easily expects in view of the chronological proximity of Pāṇini to the Buddha who taught in the colloquial or MIA dialects. When we find a whole class of words listed under the *Pṛṣodarādi-gaṇa* assumed by Pāṇini as showing irregularities of formation and yet granted a special sanction by him, it is not difficult to agree with the conclusion of Emeneau[10].

There are several passages in the Mahābhāṣya of Patañjali bearing references to the popular speech which exhibited a number of corruptions of the Sanskrit language. Thus, a single word *Go* showed not less than four corruptions, carrying the same denotation, into *Gāvi, Goṇi, Gotā* and *Gopotalikā*[11].

From the beginning, from the time of the composition of the Vedic hymns and the establishment thereby of a recognised literary language, there was a strong tendency among the Brahmins, the guardians of this literature and of the religious and social system that went with it, to preserve the language against change. This applied not only to the preservation of the sacred texts themselves, but also to the language of everyday speech among the Brahmins, and in the royal courts with which they were always closely associated. This led to a growing divergence between the language of the educated classes and that of the people, which was subject to a fairly rapid alteration in the direction of Middle Indo-Aryan from an early period. With Pāṇini's work Sanskrit in its external form became finally stabilised and no more change was allowed. From then on the history of Indo-Aryan is the history of Middle-Indo-Aryan in its

various phases, viz., Pāli, Prakrit, Apabhraṁśa, and then of Modern Indo-Aryan. In this development Sanskrit took no part, but remained as it was fixed by Pāṇini at a period long antidating the bulk of the classical literature[12]. An earlier period in the literary and linguistic history is represented by the two great popular epics, the Mahābhārata and the Rāmāyaṇa, the tradition of the recitation of which goes back into the Vedic age. We have, therefore, in these epics extensive documents of Sanskrit belonging to a period nearer to Pāṇini than the classical literature in the narrow sense. They provide also evidence of the wide popularity of one type of Sanskrit literature among the masses of the people, since these works were reserved for no special or cultivated audience, but intended for public recital to the population in general. This is Sanskrit definitely enough, but it continually violates the rules which Pāṇini was to lay down and which were always observed in more orthodox literary circles. The recitation and transmission of the Epic legends was not the business of the Brahmins, but of the Sutras, a class of royal servants whose duties had originally included that of charioteer. It was natural that their language should be of a more popular nature than that of the educated classes par excellence, the Brahmins[13].

That the two streams of *Chandas* and *Bhāṣa*, the one very ancient and the other very popular one, were prevalent since the Vedic times is corroborated by the evidences of the Avesta, the early Middle Indo-Aryan and all ancient inscriptions, as also the Pali. Characteristics of various Prakrit dialects are found in the Ṛgveda. For instance, the vowel sound *'Ṛ'* is absent in the Prakrit dialects right from the beginning. Similarly, we find the usages like *'kaḍa'* for *'kṛta'*, *'vuḍa',* for *'vṛta'* and *'maḍa'* for *'mṛta'*[14]. Pandit Hargovandas Trikamchand Seth has enumerated thirteen points of structural similarity between the Vedic Sanskrit and Prakrit language, such as, the following in his Preface to the *Pāia-sadda-mahaṇṇavo*[15] : (1) *'kuṭha'* (RV 1.46.4) for *'kṛta'* showing *'u'* in the place of *'ṛ'*; (2) loss of one consonant in a conjunct one and lengthening of the preceding short vowel, as in *'dūḷabha'* (RV 4.9.8) for *'durlabha'* and 'dūṇāsa' (RV. 2.28.8) for *'durnāsa'* : (3) loss of the final consonant, as in *'paśca'* (RV 10.61.12) for *'paścāt,' 'ucca'* for *'uccāt'*; (4) loss of *'r'* and *'y'* in conjunct consonants, as in *'apagalbha'* (YVC 30.17) for *'apragalbha'*; (5) shortening of the vowel preceded by a conjunct consonant, as in *'rodasiprā'* (RV 10.88.10) for *'rodasīprā'*; (6) retroflexion of *'d'* as *'ḍ'* as in *'dūḍabha'* (Vaj. Sam. 3.36) for *'durdabha'*; (7) 'h' for 'dh', as in 'prati-saṁhāya' (Gop. Br. 2.4) for *'prati-*

saṁdhāya'; (8) addition of a vowel between conjunct consonants, as in '*sahasriya*' (YV 15.52) for '*sahasrya*'; (9) the ending '*o*' in Nominative singular of Mas. words ending in '*a*', as in '*so cit*' (RV 1.191.10) for '*saḥ cit*' or '*sas cit*'; (10) the termination '*bhis*' (=*hi*) in instrumental plural of words ending in '*a*', as in '*devebhiḥ*" (= *devehi*) for '*devaiḥ*'; (11) use of genetive for dative, as in '*puruṣa-mṛgaś candramasaḥ*' (YV 24.35) for '*puruṣamṛgaś candramase*'; (12) usages like '*uccā*', '*nicā*', '*paścā*' in Ablative sing.; (13) use of plural in the place of dual, as in 'narā, and 'aśvinā' (RV. 1.3.2) for '*narau*' and '*aśvinau*.'

In the Avesta, Prakrit and Apabhraṁśa one finds a vowel followed by a vowel without coalescence, as in the Vedic '*titau*' (RV. 10.71.2).

Pandit Bechardas Doshi and Dr. K. R. Chandra has enumerated the following aspects of the structure of the Vedic Sanskrit as evincing a close generic relationship with the Prakrit[16] : Both the Vedic Sanskrit and the Prakrit seem to possess the practice of various applicability (*bahulādhikāra*) as regards the rules of coalescence, affix, root-class, root-termination, and etc., since they apply at times, do not apply at times, are optional at times and are quite different at times. Thus, we find usages like '*hanati*' (=*hanati/hanai*) for '*hanti*', '*dāti*' (=*dāti/dāi*) for '*dadāti*', '*vardhantu*' (=*vaḍḍhantu*) for '*vardhayantu*', '*icchate*' (=*icchae*) for '*icchati*', '*prekṣati*' (= *pecchai*) for '*prekṣāṁcakre*', genitive case for instrumental or dative, accusative case for genitive, locative for dative and ablative, loss of final consonant, loss of '*r*' and '*y*' in conjunct consonants, use of '*dh*' for '*h*' or '*th*' and '*j*' for '*dy*', '*l*' or '*ḷ*' for '*d*', loss of intervocalic '*y*' or '*v*', '*ḍ*' for '*d*', shortening of the final vowel, final '-o' for final Visarga, loss of one consonant in a conjunct one and lengthening of the preceding vowel, variety of subjunctives and infinitives, as also of imperatives and past passive participles, use of adjectives not declined in harmony with the substantive. On the basis of this similarity of linguistic tendencies, Pandit Bechardas Doshi has concluded that the sources or roots of the extensive Prakrit language in its various dialects lie in the ancient Vedic language which was very widely prevalent in the hoary past of the Vedic Times, thousands of years before the current Indian or European Eras. In the light of this the statement of the Vedic seer Nemo Bhārgava in the *Ṛgveda* (RV 8.100.ii) that the gods generated the divine speech and it is spoken by all species of beings—human as well as subhuman or animals[17], this extensive divine speech was being spoken with numerous modifications by different groups of people in different areas of the ancient world, as is adduced by Patañjali, the author of Mahābhāṣya on Pāṇini, in his

declaration that there are numerous corruptions of one and the same word[18].

Annotations :

1. *Siddha-haima-śabdānuśāsanam*, VIII. i. 1, auto-commentary : 'Prakrtih Saṁskṛtam / *Tatrabhavaṁ tata āgataṁ vā prākṛtam/*
2. Vaidya, P. L. — *Prakrit Grammar of Hemacandra*, 1958, Notes on 1.1, p. 205.
3. '*Śesaṁ saṁskṛta-vat siddham*' / *Siddha-haima-śabdānuśāsanam* VIII.iv.448.
4. Pāṇini's *Aṣṭādhyāyī* begins with the sūtra '*Atha śabdānuśāsanam*' followed by the fourteen *Māheśvara-sūtras*, beginning with '*Aiuṇ*', etc.
5. Patanjali's Mahābhāṣya, *Paśpaśāhnika*, in his discussion of the word '*śabda*' of the sūtra referred to in ft. nt. 3.
6. *Kāśikā-vṛtti* of Vāmana-Jayāditya, Introductory remarks just after the first three verses : '*Keṣāṁ śabdānām ? Laukikānāṁ vaidikānāṁ ca.*'
7. Oak, P. N. — *World Vedic Heritage*, New Delhi, 1984, pp. 142-143.
8. Bhikshu Jagdish Kashyap — *Pāli Mahā-vyākaraṇa* (Hindi), *Vastu-kathā*, p. thirteen.
9. Doshi, Bechardas Jivaraj — *Gujarati Bhāṣā-ni Utkrānti* (Guj.), p. 51.
10. Laddu, Dr. S. D. — '*Prakritic Influences Revealed in the Works of Pāṇini, Kātyāyana and Patañjali*' in Proceedings of the Seminar on Prakrit Studies (PSPS), edited by Dr. K. R. Chandra, L. D. Institute of Indology, Ahmedabad, p. 88.
11. Ibid.
12. T. Burrow — *The Sanskrit Language*, London, pp. 35-36.
13. Ibid., pp. 51-53.
14. Shastri, Dr. Devendrakumar — *Prākṛta Kathā Tathā Apabhraṁśa Kā Aitihāsika Vikāsa*, PSPS, p. 73.
15. *Pāia-sadda-mahaṇṇavo, upodghāta* (of 1st Edn.), pp. 25-26.
16. Doshi, Bechardas J. — op. cit., pp. 51-68; Chandra, Dr. K. R. — *Prākṛta Bhāṣāoṁ kā Tulanātmaka Vyākaraṇa*, pp. 122-134.
17. Ṛgveda, VIII, 100, 11 ab : '*Devīm vācam ajanayanta devās tāṁ viśva-rūpaḥ paśavo vadanti/*'
18. Patañjali's *Mahābhāṣya, Paśpaśāhnika,* Edt. and Tr. into Marathi by Vasudev Shastri Abhyankar, Poona, p. 11 : *Ekasyaiva śabdasya bahavaḥ apabhraṁśāḥ/*'

□□□

Recent Fieldwork Studies of the Contemporary Jains

John E. Cort

This essay is a slightly revised and updated version of a review-essay that originally appeared in *Religious Studies Review* in 1997. This journal itself is difficult of access in India, and many Indian scholars of the Jains are probably unaware of the full range of scholarship discussed in the essay. It therefore seems most appropriate to present it in an Indian context in this volume in celebration of the scholarly achievements of K. R. Chandra, a man whose scholarship has always given evidence of the importance of cooperation between scholars in India and abroad.

As recently as 1986 it was possible to write, "there has been a great lack of descriptive studies of the contemporary Jainas" (Cort 1986 : 180). In the past several years, however, this situation has been significantly rectified, in large part due to the publications of a handful of anthropologists in Great Britain, several fieldwork-based studies by French and German scholars, and, increasingly, fieldwork-based studies by North American scholars. In this essay I will survey this literature, organizing it under the two broad themes of Jain social organization and Jain ritual. While there is extensive overlap between these themes, such a division will allow us to see some of the distinctive features, as well as some of the omissions, of the recent research. It will also become apparent that my discussion is not limited strictly to research based on fieldwork, but is expanded to cover historical and literary studies that take as their starting point the same focus as fieldwork, i.e., Jainism not as an abstract set of ideas or beliefs, but as the lived experience of those people who have in various times and places called themselves Jains. These textual and historical studies provide a diachronic depth to the largely synchronic field studies. Given the volume of scholarship in the past decade and a half, this essay is more a descriptive survey of the field than a detailed analysis of the specific works

under review. It is intended to provide an orientation to the literature in this fast-expanding field.

Jain Social Organization

Jain understandings of their social location are best indicated by the nested meanings of the term *sangh*. At its broadest this term refers to the fourfold (*caturvidh*) or complete (*sakal*) *saṅgh*, which is comprised of four wings: male mendicants (*sādhu*), female mendicants, (*sādhvī*), laymen (*śrāvak*), and laywomen (*śrāvikā*). But the term *saṅgh* can also be used in a more restricted sense, to refer either to the mendicant community or to a local lay congregation.

The articles in *The Assembly of Listeners*, edited by Michael Carrithers and Caroline Humphrey (hereinafter TAoL) focus primarily upon the Jain laity—those who are *śrāvaks* (m) and *śrāvikās* (f) or "listeners" to the teachings of the enlightened Jinas. (This image is inverted in R. K. Jain's 1999 *The Universe as Audience*, in which he provides a lengthy semi-reflexive commentary on TAoL.) The book is divided into four sections, each prefaced by a short overview chapter by one of the editors. The essays were solicited as responses to a position paper distributed by Carrithers and Humphrey, which is included as chapter 1, "Jains as a Community." The authors attempt to introduce some intellectual rigour into their usage of the analytically soft term "community," noting that in general it "seems to represent simply the recognition in common speech of the social reality of ethnic, religious, or other divisions in a complex society." They create a five part provisional definition, providing the criteria that "justify its use as an autonomous analytic term for describing Jains." These five criteria are (1) that the Jains themselves must share, "in some significant sense, a common culture, belief, and practice, as well as some common interests;" (2) related to this, the Jains must be "significantly different from the surrounding society in their culture, beliefs, practices, and interests;" (3) since the first two criteria in and of themselves are inadequate for a full definition of community, the authors argue that the Jains "must also be conscious of an identity as Jains;" (4) since the authors demand of the definition that community must be a distinct social entity and causal agent, it "must be effective as a collectivity in social, political, and / or economic life;" (5) finally, since the term must be able to account for historical continuity, a community 'must be able to reproduce itself." The authors recognize that no local Jain community will conform in full to all of the

criteria, but nonetheless advance it as a useful formal category. They look at one obvious indigenous category, that of caste, to see if it is sufficient to account for community, and conclude that while caste is an important aspect of Jain community, it is not sufficient by itself. They also look at more recent voluntary associations of Jains, and find that while they have been influential in specific regions and specific times, there is insufficient continuity in this influence for these associations to serve as the basis of community. In sum, they conclude that community serves as much to define "potential" and "imagined communities" (echoing Anderson 1991) as to define actual communities; but the fact that the communities are only rarely realized in full does not render the idea of Jain community itself unreal.

In TAoL, the Indologists Mukund Lath and K. R. Norman present studies based on single texts from the extensive genre of normative manuals of lay practice known *śrāvakācāras*. (This genre is also explored in Cort 1991c, where these medieval texts are contrasted with twentieth-century narratives of ideal laymen as merchant princes. This latter topic is further explored by Steven Heim in his University of Chicago dissertation-in-progress on biographies of the thirteenth century Śvetāmbar layman Vastupāla). These manuals present an ideological model of Jain lay behaviour that is in part a lay reflection of the asceticism of the mendicants, and in part presents the laity with the responsibility for materially sustaining the mendicant community. Lath discusses the tenth century C. E. *Upasākādhyayana*, composed by the Digambar Somadevasūri, who presents a model of behaviour designed to minimize harm and maximize nonharm, and thereby to improve the individual's karmic status. A discussion of duties involves Somadeva in a lengthy discussion of the relative weight of the individual's duties (dharma) to his fellow Jains and his duties to the broader society. The dilemma of contrasting social and religious dharmas is resolved for the Jain ideologue by resorting to a Jain version of a two-truth model, in which the ultimate truth of the Jain path to liberation supercedes the relative truth of worldly norms. K. R. Norman investigates the prescribed role of the Jain layman according to a much earlier Śvetāmbar text, the canonical *Uvāsagadasāo*. In this text we see that whereas the great vows (*mahāvrata*) taken by all mendicants are intended to direct the mendicant towards liberation in this lifetime through the elimination of all karmic influx, the lesser vows (*anuvrata*) of the layperson are instead directed towards gaining the layperson a better next life through the minimizing of negative karma (*pāpa*) and the

maximizing of positive karma (*puṇya*). In particular, the layman vows to support the mendicants through lavish gifting (*dāna*), which "is regarded not only as a means of acquiring merit which will lead to a better rebirth...but also as a way of emphasizing the part which the individual is playing in the community, whereby the religious and economic standing of the community is strengthened." (Studies of the contemporary practice of *dāna* are found in Cort 1999b, Laidlaw forthcoming, Vallely 1999, and Zydenbos 1999; Hibbets 1999 provides a good study of medieval texts on *dāna*; Findly [forthcoming] investigates women's religious gifting; Cort 2001 looks at the intersection of *dāna* and karma; and Granoff 1998a looks at karma in the contexts of devotion and the curing of bodily ailments.)

The second section of TAoL consists of three detailed studies of specific Jain communities in Rajasthan. Christine M. Cottam Ellis and J. Howard M. Jones conducted fieldwork among merchants in Rajasthan. The wealth of data they add to the volume underscores the importance of scholars of Jainism remembering that in Western India the Jains for many century have been primarily merchants, Marwari *baniyās* and Gujarati *vāṇiyās*; research on the Jains that ignores this central economic element presents us with a rather one-sided portrait. (Babb 1998a and 2001 has also studied Jain merchant castes in the context of a larger study of the origin myths of merchant castes.) Cottam Ellis studies the merchants in a small town near Jaipur, in which the merchants were both Vaiṣṇav and Jain, and the Jains primarily Digambar. Jones studied the merchants of a much smaller town in south Rajasthan, in which the merchants were all Śvetāmbar Mūrtipūjak Jains. Not surprisingly, Cottam Ellis finds that the category "Jain" is not sufficient to define the merchants she studied, while Jones finds that it is a sufficient category. Neither Cottam Ellis nor Jones, however, fully addresses the interplay of economic and religious ideologies, and we still need a fuller exploration into this central nexus by a scholar much more attuned to religious distinctions than either Cottam Ellis or Jones. This was to have been the subject of the dissertation of the late Thomas Zwicker; his 1984-85 fieldwork notes in the archives of the University of Pennsylvania Museum are a valuable resource for anyone interested in pursuing the issue. The third article in this section is a survey of N. K. Singhi of the Tapā Gacch Mūrtipūjak Jain community in Sirohi, in southern Rajasthan. While there is much of value in Singhi's article, it is marred by sloppy transliterations, and will be of use primarily in the context of other, better, ethnographies.

The third section og TAoL presents studies that view some of the ways in which the Jains have interacted with and been situated in a larger Indian cultural universe (on which see also Cort 1998). Paul Dundas gives a close reading of the Digambar Jinasena's eighth century *Ādipurāṇa*, in which the author, writing for his Rāṣṭrakūṭa royal patron, shows that the broader Indian understanding of kingship is inferior to the specifically Jain vision of the true warrior as "the individual who fights the spiritual battle and attains the permanent kingdom of liberation." Padmanabh S. Jaini's chapter is a rather argumentative discussion entitled "Is there a popular Jainism?" (reprinted at Jaini 2000 : 267-79), with the implicit answer being that while there is a popular Jainism, there shouldn't be. Jaini's discussion is marred by an unreflective model of the social dynamics of Jainism, which posits that all change is either consciously orchestrated by the mendicant leaders, with the laity following along obediently, or else the result of the laity's simple-minded borrowing of Brāhmaṇical customs. Further, Jaini's notion that there is a single, unchanging ideological core of Jainism, which consists of rigorous asceticism—a notion that also underlies his important 1979 *The Jaina Path of Purification*—has been challenged in recent years, and needs to be set aside if Jain studies are to progress (see also Cort 1990a). The third chapter in this section is a thought-provoking exploration by Caroline Humphrey of an intertwined complex of miracles, temples, and fairs that, while taking place at Jain temples, attract a large number of non-Jain, and particularly tribal, participants. Humphrey shows some of the ways in which the Jain theological notion of the lack of any "real presence" in Jina images is largely irrelevant to the non-Jain devotees of the miracle-working images.

The fourth section of the book takes us outside the more traditional realm of Jain studies to explore Jains in twentieth-century India and England. Vilas Sangave briefly mentions some of the movements concerned with social and religious reform among the Jain community during this century. The usefulness of Sangave's article is vitiated, however, by a refusal to distinguish between the goals and the achievements of various movements, so the uninformed reader might be led to suppose that the movement to unite the Sthānakvāsī mendicant community under a single *ācārya* was successful. (On Jain social movements, see also Cort 1995a and 1999a.) Michael Carrithers explores the rhetoric that has surrounded and informed social movements during this century among the Digambar Jains of the region of northern

Karnataka and southern Maharashtra. This is a subject Carrithers has returned to in other articles (1988, 1996); he has also written a thought-provoking article that compares Jainism and Buddhism as historical "streams," in which he addresses the seemingly simple but in fact quite thorny question of how to account adequately for both change and continuity in our understandings of these histories (1990).

Marcus Banks's chapter is TAoL discusses the mostly Gujarati Jain community in the United Kingdom, and in particular some of the ways in which the separation of the lay community from the mendicant ideologues has led to the formation of new, modern forms of Jain neo-orthodoxy. Marcus has discussed both the Jains of Leicester and the Jains of Jamnagar at greater length in his 1992 *Organizing Jainism in India and England*. On these Jain communities, see also Banks 1985, 1986, 1991, 1992a, 1994a, 1994b, and forthcoming, in addition to his methodologically provocative 1989 essay, in which he challenges the logocentric assumptions of most scholarship. (On this latter issue, see also Cort 1996.)

Organizing Jainism focuses, in the author's words, on "the ethnography of organizations" rather than "the construction and maintenance of religious identity." In other words, Banks presents us with the sorts of mundane organizational details so often missing from studies of religious communities. But it is precisely these organizational structures that allow a community to survive and flourish. In studying the Śvetāmbar Jains of Jamnagar in Gujarat, he looks at the intersection of caste and religious structures, the ritual and social occasions on which Jains gather to give manifest expression to the tradition, and the specifics of ownership of temples, *upāśrays* (buildings where mendicants stay, and the laity gather for certain non-temple-focused rituals), and *vādīs* (caste-owned buildings). As a bridge to his study of the Jains of Leicester, Banks covers the history of the migration of Jains from Saurashtra to East Africa in the early twentieth century, and then in the last three decades from East Africa to England. In terms of the Jains of Leicester, Banks looks at the history of the coalescence of caste- and religious-based organizations and the building of the Jain temple, the ritual, educational, and social occasions on which Jains gather, and ways in which Jain belief is expressed in this new context. He finds that Jain gatherings are focused more on the image of the Jina in Jamnagar, and more on the community itself in Leicester. Bank's book

is valuable on two fronts, as one of the few detailed ethnographies of Jains in India, and as the only monograph to date on diaspora Jains.

Research on the Jains in the new context of migration over the past several decades from India to Great Britain, North America, East Africa, Japan, and elsewhere, should in coming years take on increasing importance in Jain studies. As Bank's study shows, such research needs to lie at the intersection of ethnography sensitive to the Indian origins and sociology sensitive to the new host cultures. An early scholarly work on the Jains in North America in Williams 1988, who provides brief overviews of the Jain Centers of New york, Chicago, Dallas, and Houston. The difference in the situation of the Jains in the late-1980s, when Williams was writing, and there were only twenty local Jain groups and only three of them owned separate buildings, and the mid-1990s, when the number of local groups has perhaps tripled, and every year sees the consecration of new temples, indicates the need for continued on-going research into the diaspora Jain community. Scholars interested in this topic should be aware of a number of resources. Holly Seeling has produced three important lengthy reports for Harvard University's Pluralism Project, in which she studies some of the Jain centers in the U. S., the problematic status of those Jain mendicants who have come west, and the generational gap between first and second generation American Jains. The work of the Pluralism Project more broadly is available in Eck 1997. The dissertation-in-progress of Mikal Radford of McMaster University in Canada, and the post-doctoral fieldwork of Anne Vallely, both on Jains in Canada, will also be important sources. Scholars of Jainism should also be aware of an increasing number of valuable resources being produced by the Jains themselves, such as the massive 1992 *Jain Directory of North America*, and magazines and newsletters, such as *Jain Study Circular, Jain Digest* and *Jinamanjari* in North America and *Ahimsa* and *Young Jains International Newsletter* in Great Britain. Kumar 1999 provides incomplete demographic data on Jains in North America. In addition, many of the local Jain centers have their own newsletters, which are useful sources of information.

If the study of Jain communities in diaspora is still in its infancy, the fieldwork studies of the past decade have resulted in a growing body of literature on the Jain communities in India. In *Riches and Renunciation*, James Laidlaw studies the Śvetāmbar Mūrtipūjak community of Jaipur. His discussion

of the details of the social organization of the Jaipur Jains provides a rich comparison with Banks's data. Laidlaw's thematic focus is on an oft-noted paradox at the heart of the Jain worldview, between the emphasis on worldly engagement and the accumulation of wealth on the part of the laity, and the emphasis on world renunciation and asceticism on the part of the mendicants (a theme he also addressed in a preliminary way in a 1985 article). He investigates lay and mendicant asceticism, showing how the bodies of mendicants and Jinas are both tools and iconic representations of the ways in which the Jain spiritual ideals involve both a dualist rejection of the body in favour of pure soul and an acceptance of the body as the iconic representation of the excellences of pure soul (a theme also addressed by Banks 1997 and 1999). He also focuses on the economic side of Jain practice, as centered around the seemingly simple but in fact rather complex act of the layperson providing food to a mendicant (on which see also Cort 1999b, Laidlaw forthcoming, Vallely 1999, and Zydenbos 1999). He investigates some of the ways in which the accumulation of wealth in commerce and the display of that wealth in religious contexts serve both to constitute and to reproduce the Jains as socially-located local religious communities, and at the same time are seen as indexes of and means to the spiritual benefits that accrue from ascetic renunciation.

A third body of ethnographic research on the comtemporary Jains is that of this author. In *Jains in the World* and a related series of articles, I have explored the religious world of the Śvetāmbar Mūrtipūjak Jains of North Gujarat, in terms of social and historical organization, ritual life, and religious ideology, with a focus upon the ways in which worldly wellbeing and a renunciatory striving for liberation are organically intertwined in all aspects of Jain practice, belief, and thought.

In addition, several textual studies provide an historical depth to the fieldwork-based research. Phyllis Granoff (1989, 1992a, 1994-95), as part of her larger project of research into Jain biographical and authobiographical traditions, has looked at various aspects of Jain laity as portrayed in medieval Śvetāmbar narratives from western India. Ellison Findly (1996), in a detailed study based on the reports left by seventeenth-century European travellers, investigates the Jain beliefs of many of the Baniyā traders of that time helped shape the cultural and economic interactions among Baniyās, Mughals, and Europeans.

Most of the major studies of the Jains in India have been largely androcentric. This is not to say that they don't include women; but there is no gainsaying that the insights they provide into the Jain tradition are from a largely male perspective. Fortunately, while there is definitely a need for more gender-sensitive fieldwork study, there are already several good sources for investigating the experience of Jain laywomen. The 1985 Cambridge University dissertation and related articles (1985b, 1987a, 1987b) by Josephine Reynell are a rich source. In her chapter in TAoL, Reynell studies the role of women in the maintenance and reproduction of the Jain community. In the first half of her paper Reynell provides a useful ethnographic overview of the Śvetāmbar Mūrtipūjak Jain community of Jaipur. She observes that at the smallest religio-social unit, that of the *gacch* (a lay congregation, based in turn upon a mendicant lineage), it is the women who most actively participate in many of the regular rituals, especially those involving fasting. These religiously-motivated gatherings allow for the women to form close-knit networks that are called upon when arranging marriage alliances. While the men, through their commercial activities and their religious gifting (*dān*) are responsible for the material maintenance of the Jain community, the women through these rituals networks are equally in maintaining the community. In her 1985b article, she expands upon this contrast between the male emphasis on ostentatious giving and the female emphasis on .renunciatory fasting. She focuses in part on the belief that according to the karmic logic of merit (*puṇya*) and demerit (*pāp*) it is such renunciatory activity that leads to future wealth, while at the same time this activity favours the rich, not the poor. Her 1987a article further explores this theme, showing how religious values serve to control female sexuality by tying the moral character of a family—which character is essential for the economic activity of the men—to the religious and social conduct of the women.

Marie-Claude Mahia's 1985 *Délivrance et convivialité*, while not specifically a study of Jain women, does touch on Jain constructions of gender-specific roles in the context of her detailed study of foodways among the Agravāl Digambar Jains of Delhi. The title of her book indicates what she sees as a basic structural oppositions underlying the entire Jain culinary system, between religious (*dhārmik*) values that stress the restriction and ultimate elimination of all intake of food in the pursuit of spiritual liberation, and social (*sāmājik*) values that stress the exchange and sharing of food in order to ensure the social connections essential for worldly, financial success. The way in which

this tension particularly impinges on women becomes clear when we bring Mahia's data into dialogue with Reynell's. Jain women are expected to follow the relatively restricted dietary practices of the Jains, in terms of the range of what is eaten, the frequency of fasting, and the observation of the prescription of eating after sunset. At the same time, the women are expected to prepare food for their husbands, who, as part of their participation in the broader non-Jain social universe, are less strict in all of these observances. An English translation of this book is under preparation for publication in India.

Both Reynell and Mahias help us see some of the ways in which the Jain tradition constructs gender roles. This subject is also addressed from an historical, textual perspective in a suggestive essay by Zwilling and Sweet (1996). An excellent overview of research into the roles and place of women in Jainism, covering both textual and fieldwork studies, is provided by Balbir 1994. Her article should be the starting point for all research into Jain women; to my knowledge, the only thing that has escaped her notice is a distinctly unhelpful statistically-oriented sociological study by Tongia (1991). Our knowledge of the ways in which Jain women view their own place in the tradition, and the ways in which they are instrumental in the construction of Jain identity and society, has been greatly enhanced by the research of M. Whitney Kelting (1999, 2001a, 2001b). Kelting's work provides for Jainism the sort of radical rethinking of inherited androcentric models that feminist scholarship has generated throughout the field of religious studies. In addition, Madhurina Shah of the University of Maryland is writing what promises to be an insightful dissertation on contemporary Jain women's autobiographical oral narratives.

The study of Jain women is incomplete without the study of the many Jain female mendicants. Today female mendicants outnumber male mendicants by a significant percentage, and textual sources indicate that this is by no means a new phenomenon. Given the relative lack of women religious "professionals" in the Hindu tradition, and the well-known fate of the Buddhist nuns, this persistence of Jain female mendicancy is remarkable. It is all the more remarkable when one considers that Jain theology has always been markedly misogynist, even in the debate over the potential of women to achieve liberation, as recently shown in excellent detail by Padmanabh Jaini (1991).

Jaini's philosophical study can be supplemented by several excellent historical and fieldwork studies. Robert Zydenbos (1987) explores the portrayal

of the Jain nun Kavunti in the Tamil classic *Śilappadikāram*, while Leslie Orr (1998, 2000b) uses medieval Tamil inscriptions in a thought-provoking study to show that the role of "women religious" was not restricted to initiated nuns, but encompassed a wide range of lay women teachers hitherto unknown in Jain studies. Savitri Holmstrom, in a 1988 social anthropology M. A. thesis from the University of Edinburgh, provides an excellent study of Śvetāmbar Terāpanthī nuns that is enriched by her travel with a group of nuns. She investigates the contradictory discourses of power in the case of these nuns. While social and economic power serve to emphasize female subordination and dependence, religious power emphasizes both the nuns' embodiment of *śakti* or creative power and the broader Jain notion of the autonomy of each soul that is seeking the spiritual omnipotence found in liberation.

Anne Vallely (1999) expands what we know from Holmstrom's work in her ethnography of Terāpanthī women renouncers at Ladnun, the headquarters of the sect. She provides rich details of the training of the renouncers, their ritual and social interaction with laity, and their devotional interaction with the leaders of the order. The dissertation-in-progress by Sherry Fohr at the University of Virginia will further expand the focus on Jain women renouncers to include the other Jain sects. The powerful attraction of the renunciatory life for Jain women is also seen in a fine 1986 film by Paul Kuepferle. In addition to several interviews with prospective Śvetāmbar Mūrtipūjak nuns in Gujarat, this film concludes with the initiation (*dīkṣā*) of a nun.

The essential starting point for any study of Jain nuns is still N. Shântâ's magisterial 1985 *La voie jaina* (English translation 1997). This rich book is the result of more than a decade of textual and fieldwork research. Shântâ presents the Jains not as viewed by two centuries of Western (and Indian) Jainology, but rather as the Jains see themselves; and the depth of her knowledge means that she is largely successful in presenting this "view from the inside." Her starting point is not textual presumptions concerning the life of nuns, but rather the lived experience of a number of important and charismatic contemporary nuns of all four traditions. Her detailed descriptions of the nuns' daily routines and the textual understandings of those routines are excellent, if focused perhaps too much only on those practices for which there is sufficient textual prescriptions. She also presents short biographies of six modern nuns, allowing us insight into the way these women understand themselves, and the ways in

which they have created a religious world that is in some significant ways autonomous of male hierarchical control, while at the same time being encompassed by that hierarchy.

While there has been no monograph-length study of the Jain monks, there has been a great increase in our knowledge of those monks as socially-located people, in contrast to the earlier scholarly focus on the textually-prescribed ideals of mendicancy. Michael Carrithers (1989) focuses upon the Digambar *munis* of northern Karnataka and southern Maharashtra. He lays out the tension between the *muni* as a solitary, ascetic individual and the *muni* as a public, charismatic interactive person. These same themes are explored in an article of mine (Cort 1991b), in which I show the ways in which kinship structures are replicated among the Śvetāmbar Mūrtipūjak mendicants. The interplay between asceticism and miracle-working charisma is further investigated in an article by Lawrence Babb (1993) on the four Dādāgurus of the Khartar Gacch, whose origin myths also exhibit the connection in the Jain tradition between renunciation and monasticism on the one hand, and kingship and martial valour on the other. A number of excellent historical and textual studies by Paul Dundas (1987-88, 1993, 1999) and Phyllis Granoff (1988a, 1988b, 1988c, 1989-90, 1990, 1991b, 1992c, 1994b, 1994c) allow us to see how these themes have permeated Jain discourses on renunciation and mendicancy for the past millennium. The 1997 dissertation by Stefanie Tuschen investigates the Digambar domesticated monks known as *bhaṭṭāraks*. Srivastava (1997 : 162-65) briefly discusses the tradition among the pastoral Raikas of Rajasthan of becoming Jain mendicants, as exemplified by the well-known Ācārya Vijay Śāntisūri.

Finally, attention must be called to a number of studies that have focused upon the mendicants of the Śvetāmbar Terāpanth, which, under the leadership of the charismatic Acharya Tulsi from 1936 until 1995, has been perhaps the most outward-looking of the four traditions, and so a natural contact point for foreign scholars. Nalini Balbir (1983) provides a brief overview of the Terāpanth, while Christopher Chapple (1991) provides a more journalistic account of his own brief visit to the sect's headquarters in the Rajasthani desert town of Ladnun. The Terāpanth has also been the focus of three fieldwork-based doctoral dissertations, by Ratna Goonasekera (1986), Peter Flügel (1994) and Anne Vallely (1999). Goonsekera's dissertation focuses on the Terāpanthī

monks, and takes a socio-psychological approach that I find less than satisfying, as he tends to reduce overly his interpretations to western psychological categories in trying to elucidate motivations for renunciation. Motivations are always elusive at best, and require a nuanced reading of the public discourse that surrounds the decisions in addition to Goonasekera's focus on dream-interpretation and individual life histories. Nonetheless, his descriptions of Terāpanthī mendicant life and practice are useful, and his accounts of individual biographies complement Shântâ's short biographies of nuns. Flügel's dissertation, daunting in its 826 pages of small type, is a gold mine of descriptive wealth that is all too often buried under the author's overly inclusive style. In particular, Flügel's work is valuable for his detailed discussions of Terāpanthī mendicant practice, and the social location of the Terāpanth in the twentieth century. For more accessible presentations of Flügel's valuable research, see 1995-96, 1997-2000, forthcoming-a, and forthcoming-b. Flügel (2000-01) has also produced a pioneering study of the all too often ignored Sthānakvāsī sect. Vallely's dissertation provides an empathetic inside view of Terāpathī female mendicancy. Missing from all of these studies in any research focusing on the Terāpanthī laity and how they view the mendicants and their ideology of a radical separation of the spiritual and the worldly. My own research, for example (Cort 2000a, 2000c, forthcoming-b) found that Terāpanthī Jain laity are heavily involved in goddess worship, a subject conspicuously absent in the other studies.

Jain Ritual

Given the rich and extensive temple-centered cultic life of the Jains, coupled with the intellectual concerns of scholars of both anthropology and religion, it is not surprising that much of the recent fieldwork-based scholarship on the Jains has focused upon Jain rituals, and in particular the Jain *pūjā* or rite of worship of images of the Jinas as performed in temples. The importance of the worship (*pūjā*) of images (*mūrti*) in temples is underscored by the very name of the largest of the four Jain sects, the (Śvetāmbar) Mūrtipūjaks. The principal Mūrtipūjak rite, the eightfold worship or *aṣṭaprakārī pūjā*, is the focus of several articles, and the springboard for a book-length retheorizing of ritual in general. Humphrey (1985), in a preliminary article which she has since needlessly characterized as inadequate, investigates some of the symbolisms encoded in the rite, and uses these to discuss some of the complex Jain notions

of divinity. Babb (1988, 1996, 1998b) studies the rite in the context of broader South Asian rituals of giving, both to deities and to living mendicants, and shows how the underlying paradigm of the Jain rite, in contradistinction to most other prestations, is not so much a matter of giving anything to the Jina as it is a matter of the Jain worshipper giving up worldly possessions in a symbolic form of renunciation. In several articles (1991a, 1994, 1995b) I have discussed the Jain ritual in a phenomonelogical context as linked to an aesthetics of ritual action, and in the context of Jain rituals more generally as embodying a liturgical paradox, of Jains using ritual action as part of the path of attaining the Jain salvific goal of liberation, defined as a state of total inaction. Kelting (1999, 2001b) focuses upon the phenomenon in Pune that most larger public *pūjās* and *mahāpūjās* are run by women's *maṇḍaḷs*, or devotional singing "circles;" in particular, she shows that while the sponsors oftentimes feel that through donation they are generating merit, the women's *maṇḍaḷs* instead emphasize proper devotional spirit coupled with their own ritual expertise as being the cause for the ritual's efficacy.

Caroline Humphrey and James Laidlaw's 1994 *The Archetypal Actions of Ritual* uses reflections upon the Mūrtipūjak eightfold *pūjā* to attempt to provide a new theoretical framework for thinking about ritual in general. Ritual, according to the authors, is a very different form of action from most human activity. The latter tends to be highly instrumental, with the action expressing the intention of the actor; but in ritual, this connection is broken, so that there is usually no natural link between the action and the intention. Ritual, then, is action in which normal intentionality has been modified or even eliminated. For example, the actions of my fingers upon the keyboard are directly related to my intention to write these comments, and the relationship between cause and effect is fairly transparent to any reasonable observer. This is not the case, however, when one offers a flower before an image of a Jina. There is no inherent relationship between this action and the actor's intentions—we remain as ignorant of the actor's intentions after the action as we were before—and there might be as many intentions (and therefore meanings) as there are actors. As a result, the authors conclude, ritual actions are so symbolically polysemous as to be meaningless.

Ritual, according to the authors, "is a quality of action, and not a class of events or institutions." They go on to amplify this by sayinh, "ritualization

implies an agent's adopting a particular attitude to his or her action, and enacting what he or she does, therefore, in a particular, qualitatively transformed way.' They summarize their argument concerning ritual in the following four points : (1) ritualized action is non-intentional, i.e., the identity of a ritualized act does not depend upon the agent's intention; (2) ritualized action is stipulated, i.e., ritual consists of a continuous flow of actions not determined by intention, but rather determined by constitutive rules; (3) the specific acts are perceived as discrete, named entities, each with its own character and history, therefore the acts appear to be elemental and archetypal; and (4) the ritualized acts are felt by the actors to be external, therefore also "apprehensible," i.e. the actor becomes aware of ritualized acts as discrete, bounded entities.

The author's starting point in Jain ritual is the specific sub-rites within the eightfold *pūjā*. They observe, quite rightly, that the individual actions involved have no inherent meaning. They discovered that the meanings attributed to these actions are quite variable and flexible. They seem to have expected these actions to be understood either as signs with single fixed meanings or as bounded symbols with a narrow range of prescribed meanings. Instead they found the actions to be open symbols with a wide range of meanings.

But these actions are not totally boundless symbols, and the authors could have profitably explored the limits to acceptable interpretation of the actions—in other words, focused upon the boundaries (*maryādā*) rather than upon the core. The authors also miss (or at least downplay) the power of a central paradox in all ritual activity : the individual actions may be highly arbitrary, and may even be understood by some people (but certainly not all) as "meaningless," but the ritual in toto is still considered to be highly meaningful. Granted, that meaning does not emerge "naturally" from the actions, for the actions are not naturally instrumental. In my opinion the authors here underestimate the extent to which in most normal human activity the link between intention and action is arbitrary, i.e., is culturally rather than biologically determined. Meaning is culturally posited, through the process the authors describe in chapter nine as "meaning to mean." But the fact that this is a culturally ascribed meaning, and therefore in some fundamental sense is culturally arbitrary, does not mean that the ritual is perceived by the

participants to be indeterminate or ambiguous in a postmodernist sense. The authors seem to assume that an action can have meaning only if all people perform it the same way and with the same intentions at all times. This is a highly debatable supposition. I am uncomfortable at the ease with which the authors conclude that because a multiplicity of meanings is attributed to a ritual the ritual is therefore meaningless. The logic behind the equation that a surplus of meaning equals an absence of meaning is not transparently obvious to me.

At bottom, the question the authors are addressing is not one of understanding the Jain eightfold *pūjā*, and perhaps not even one of understanding ritual in general, as much as it is the basic philosophical and theological question, "what is meaning ?" In answering this question, the authors state their position based upon their own a priori assumptions, which in this case happen to be a blend of postmodernist ontology, Euro-American cognitive psychology, linguistic anthropology, and contemporary Western philosophy of mind. In such a worldview, meaning is at best contingent and contested, absolute certainty about anything is a chimera, and the best one can strive for is a relative adequacy of representation within a universe of endlessly-shifting signifiers. The authors implicitly insist that such an understanding of the world—which I have painted in an overly black-and-white fashion, and one with which I am not unsympathetic—should be applied to an understanding of Jain ritual. But such an application can be done only by displacing Jain understandings of their own ritual. In other words, the authors are engaged in a theological and philosophical debate with the Jain tradition itself over the "meaning of meaning."

While there is much in *Archetypal Actions of Ritual* that is insightful, and I for one will never think and write about ritual either in general or in its Jain forms as I did before reading the book, there is obviously much with which I disagree. Much of this may be a matter of personal predilection—the authors are interested in advancing a point of abstract theory, whereas I tend to be more interested in coming to a better understaning of the Jain tradition itself. The latter approach underlies Lawrence Babb's 1996 book on the Jains. *Absent Lord* starts at much the same place as *Archetypal Actions*, with the eightfold *pūjā* of the Khartar Gacch Mūrtipūjak Jains of Jaipur. But whereas Humphrey and Laidlaw then go in the direction of general theory, Babb uses similar material

to elucidate aspects of the Jain understanding of the world within a broader South Asian framework.

Humphrey and Laidlaw observe that many scholars have mistakenly assumed that "ritual is essentially communicative and expressive." They say that since "rituals are good things to do fieldwork on" due to the amount of information one can gain concerning cosmology, beliefs, and social structures, many scholars have assumed that the "purpose" of the ritual is precisely to communicate such ideas. They insist that the communication of such information is at best an incidental effect of ritual, not its primary purpose. But this is not to gainsay the importance of studying the information communicated if one's goal is that of Babb, "a consideration of a specific Jain tradition on its own terms," instead of Humphrey and Laidlaw's one of theorizing about ritual per se. Further, as Babb argues, "rituals actually occur within a cultural mini-mileau, a cultural domain associated specifically with rituals." He characterizes this "ritual culture" as "an internally coherent body of skills, kinetic habits (such as patterned physical gestures expressive of deference), conventions, expectations, procedures, and sanctioned interpretations of the meaning of ritual acts. It is, one might say, an entire symbolic and behavioral medium within which ritual acts are invested with cognitive, affective, and even motor 'sense'." We thus see in Babb's careful interpretation of Jain rituals a very different understanding of the connection between ritual action and meaning than we find in Humphrey and Laidlaw's book.

At the heart of Babb's book is the same tension investigated in Laidlaw's *Riches and Renunciation* and my own *Jains in the World* : that between the ascetic and renunciatory values on the one hand, and worldly values on the other. He sees this tension as resulting from the problem faced by the Jains of how to weave a soteriology that emphasizes renunciation of the world into a way of life, which by definition involves the person in the world. Babb explores how this tension is expressed ritually in the regular eightfold *pūjā*, and in several of the longer, more elaborate *mahāpūjās* Jains perform on a frequent basis on special occasions, for, as he rightly observes, "rites of worship define one of the principal venues within which lay Jains of the image-worshipping groups actually come into contact with their religion." Babb's approach benefits particularly from the careful attention he pays to the "texts" of these rituals, which, since they are widely found in the dog-eared hymnals found in every Jain temple and most every

Jain household, and are sung by the participants of the rituals, are an important way in which the Jains understand their own religious history and beliefs. Babb rightly emphasizes that any ethnographic study of the Jains must take these and other written sources as centrally important, given the high level of education and intellectual sophistication among the Jains. As he states the issue baldly, "He or she who would understand Jain life must read what Jains themsevles read." In this basic methodological approach, Babb's work marks a distinct advance over many other fieldwork studies of the Jains that have paid insufficient attention to these vernacular written sources. It may well be the single most important of the fieldwork studies of the Jains published to date.

Studies of ritual of necessity involve discussions not only of the actions being performed and the actors performing those actions, but also of the objects towards whom the actions are directed. In the Jain case, these are both the liberated Jinas or Tīrthaṅkars and various unliberated gods, goddesses, and mendicants. A translation of several contemporary Jain understandings of the theological nature of the Jina is provided at Cort 1995c, and Zydenbos 1993 provides an historical overview of Jain understandings of divinity. Discussions of Jain goddesses are found at Cort 1987 and Zydenbos 1992 and 1994. Cort 1995d looks at the god Gaṇeśa, whom the Jains share with the Hindus and Buddhists, and Cort 1997 and 2000d study the powerful North Gujarati Jain god Ghaṇṭākarṇ Mahāvīr. Babb (1993) and Laidlaw (1985) study the distinctly Khartar Gacch cult of the Dādāgurus, a composite set of four deceased wonder-working monks who are still worshipped for worldly favours. Some of the ways in which Jain rituals can also involve devotion directed to abstract concepts are seen in Cort (forthcoming-a). Other relevant historical studies include those of Orr (1999, 2000a, 2000b), who examines the character of Jain worship in medieval Tamil Nadu as revealed in inscriptional evidence; Dundas (1998), who reveals the extent to which Jains were deeply involved in mantric and tantric practices; and several articles by Phyllis Granoff (1991a, 1992a, 1994-95, 1998b, 1998c) that provide insight into Jain lay temple-builders and responses to Muslim iconoclasm. Two articles by the art historian Catherine Asher (1999, 2001) investigate the setting of *pūjā*, looking at Digambar temples in Delhi and Jaipur.

Many of the temples in which Jains worship images of the Jinas and other deities are found at the hundreds of Jain pilgrimage shrines throughout India. The Jains have a rich tradition of pilgrimage that is only beginning to be studied. Granoff (1992b, 1994a) has studied some medieval narrative accounts

of Jain pilgrimage. Several scholars (Balbir 1990, Chojnacki 1991, Cort 1990b) have provided studies of the important fourteenth-century *Vividhatīrthakalpa* of Jinaprabhasūri, and Christine Chojnacki (1995) has translated much of the text into French. Marcus Banks (1995) investigates Jain painted depictions of their pilgrimage shrines. In two overlapping articles (1995, 1998), Michael Meister provides an ethnohistorical study of a single Jain pilgrimage site, that of Osian in western Rajasthan (on which see also Babb 2000, Cort 2000a, 2000c, and forthcoming-b). A preliminary understanding of some of the dynamics of Jain pilgrimage as a ritual act which combines temple-worship, devotion, and temporary mendicancy is found in two articles by Cort (1998 and 1990b). Lastly, the dissertation-in-progress of Steven Heim from the University of Chicago looks in part at the famous congregational pilgrimages led by the medieval governor Vastupāla.

As important as temple rituals and pilgrimage are the many annual festivals that make up the Jain ritual year. The most comprehensive discussion of these, and only for the Śvetāmbar Mūrtipūjaks, is found at Cort 2000b : chapter 6, although Banks (1992b), Laidlaw (1995), and Jaini (2000 : 243-52) provide insightful discussions of several of the most important Śvetāmbar festivals. Two articles (Cort 1992, Folkert 1993) provide an introduction to the most important Mūrtipūjak festival, the eight-day autumnal observance of Paryuṣaṇ. The former deals primarily with the way in which the festival provides a ritual context for understanding the role of the often-translated *Kalpa Sūtra*, whereas the latter comprises a detailed day-by-day fieldwork account.

There is still much to be done in terms of fieldwork studies of the Jains, for there are still many gaping holes in our knowledge. Nonetheless, the situation has changed so much in the past decade that these are now holes within a larger picture that is coming into focus, rather than holes on a nearly-empty canvas. One can perhaps make an analogy between Jain studies and doing a jigsaw puzzle (without the telos of the completely filled-in puzzle, as no living religious community is ever "finished") : whereas a decade ago we were not even sure what the picture was, nor where the edge of the puzzle lay, we have now made significant progress in mapping the border, and begun to fill in some of the details of the interior. This essay, along with the companion essay by Paul Dundas, should enable the interested scholar to see better the emerging picture resulting from contemporary scholarship on Jainism.

References

Anderson, Benedict R. O' G.

1991 *Imagined Communities : Reflections on the Origin and Spread of Nationalism*. Revised edition. London : Verso.

Asher, Catherine

1999 North India's Urban Landscape : The Place of the Jain Temple. *Islamic Culture* 73:3, 109-50.

2001 Hidden Gold : Jain Temples of Delhi and Jaipur and their Urban Context. In Qvarnström.

Babb, Lawrence A.

1988 Giving and Giving Up : The Eightfold Worship among Śvetāmbar Mūrtipūjak Jains. *Journal of Anthropological Research* 44, 67-86.

1993 Monks and Miracles : Religious Symbols and images of Origin among Osvāl Jains. *Journal of Asian Studies* 52, 3-21.

1994 The Great Choice : Worldly Values in a Jain Ritual Culture. *History of Religions* 34, 15-38.

1996 *Absent Lord : Ascetics and Kings in a Jain Ritual Culture*. Berkeley : University of California Press. Reprinted as *Ascetics and Kings in a Jain Ritual Culture*. Delhi : Motilal Banarsidass, 1998.

1998a Rejecting Violence : Sacrifice and the Social Identity of Trading Communities. *Contributions to Indian Sociology* (n.s.) 32, 387-407.

1998b Ritual Cultural and the Distinctiveness of Jainism. In Cort 1998, 139-62.

2000 Time and Temples : On Social and Metrical Antiquity. In Meister, 193-222.

2001 Thwarted Sacrifice : On the Origin Myths of Jain Castes. In Qvarnström.

Balbir, Nalini

1983 Observations sur le secte jaina des Terāpanthin. *Bulletin d'Études Indiennes* 1, 39-45.

1990 Recent Developments in a Jaina Tīrtha : Hastinapur (U. P.): A Preliminary report. In Hans Bakker (ed.), *The History of Sacred Places in India as Reflected in Traditional Literature : Papers of Pilgrimage in South Asia*, 177-91. Leiden : E. J. Brill.

1994 Women in Jainism. In Arvind Sharma (ed.), *Religion and Women*, 121-38. Albany : SUNY.

Banks, Marcus

1985 Caste, Sect and Property : Relations in the Jain Community of Jamnagar, Gujarat. *Cambridge Anthropology* 9:3, 34-49.

1986 Defining Division : An Historical Overview of Jain Social Organization. *Modern Asian Studies* 20, 447-60.

1989 The Narrative of Lived Experience : Some Jains of India and England. *Critique of Anthropology* 9:2, 65-76.

1991 Competing to Get, Competing to Give : Gujarati Jains in Britain. In Muhammad Anwar and Pnina Werbner (eds.), *Black and Ethnic Leaderships in Britain : The Cultural Dimensions of Political Action*, 226-50. London : Routledge.

1992a Jainas ausserhalb Indiens. In U. Tworuschka and M. Tworuschka (eds.), *Bertelsmann Handbuch Religionen der Welt : Grundlagen, Entwicklung und Bedeutung in der Gegenwart.* Munich : Bertelsmann.

1992b *Organizing Jainism in India and England.* Oxford : Clarendon Press. Reprinted Delhi : Oxford University Press.

1994a Jain Ways of Being. In R. Ballard (ed.), *Desh Pardesh : The South Asian Presence in Britain*, 231-50. London : Hurst and Co.

1994b Why Move ? Regional and Long Distance Migrations of Gujarati Jains. In Judith M. Brown and Rosemary Foot (eds.), *Migration : The Asian Experience*, 131-48. London : Macmillan.

1995 The *Tīrtha Pata* : Art and Experience in Jain Pilgrimage Paintings. "Jainism : Religion, Ritual and Art : International Symposium." London, Victoria & Albert Museum, 24-25 November.

1997 Representing the Bodies of the Jains. In Marcus Banks and howard Morphy (eds.), *Rethinking Visual Anthropology*, 216-39. New Haven :

Yale University Press.

1999 The Body in Jain Art. In Wagle and Qvarnström, 311-23.

2000 Views of Jain History. In Paul Dresch, Wendy James, and David Parkin (eds.), *Anthropologists in a Wider World : Essays on Field Research*. Oxford : Berghahn Books.

2001 Social Change and the 'Privatization' of Indian Jainism at the End of the Twentieth Century. In Qvarnström.

Brekke, Torkel

2001 Religious Identity among Jains and Theravada Buddhists in Nineteenth Century India and Ceylon. In Qvarnström.

Carrithers, Michael

1988 Passions of Nation and Community in the Bahubali Affair. *Modern Asian Studies* 22, 815-44.

1989 Naked Ascetics in Southern Digambar Jainism. *Man* (n.s.) 24, 219-35.

1990 Jainism and Buddhism as Enduring Historical Streams. *Journal of the Anthropological Society of Oxford* 21, 141-62.

1996 Concretely Imagining the Southern Digambar Jain Community, 1899-1920. *Modern Asian Studies* 30, 523-48.

Carrithers, Michael, and Caroline Humphrey (editors).

1991 *The Assembly of Listeners : Jains in Society*. Cambridge : Cambridge University Press.

Chapple, Christopher

1991 Nonresistant Death. *Jinamanjari* 2:2, 51-62.

Chojnacki, Christine

1991 Lieux saints jaina dans le *Vividhatīrthakalpa*. *Bulletin d'Études Indiennes* 9, 37-59.

1995 *Vividhatīrthakalpaḥ : Regards sur le lieu saint Jaina*. Two volumes. Pondicherry : Institute Français de Pondicherry, and École Française d'Extrême-Orient. Publications du Départment d'Indologie 85.

Cort, John E.

1986 Recent Descriptive Accounts of the Contemporary Jainas : a Review Essay. *Man in India* 66, 180-87.

1987 Medieval Jaina Goddess Traditions. *Numen* 34, 235-55.

1988 Pilgrimage to Sankhesvar Parsvanath. *Center for the Study of World Religions Bulletin* 14 : 1, 63-72.

1990a Models of and for the Study of the Jains. *Method & Theory in the Study of Religion* 2 : 1, 42-71.

1990b Twelve Chapters from *The Guidebook to Various Pilgrimage Places,* the *Vividhatīrthakalpa* of Jinaprabhasūri. In Phyllis Granoff (ed.), *The Clever Adultress and Other Stories : A Treasury of Jain Literature*, 245-90. Oakville : Mosaic.

1991a Mūrtipūjā in Śvetāmbar Jain Temples. In T. N. Madan (ed.), *Religion in India*, 212-23. Delhi : Oxford University Press.

1991b The Śvetāmbar Mūrtipūjak Jain Mendicant. *Man* (n.s.) 26, 549-69.

1991c Two Models of the Śvetāmbar Mūrtipūjak Jain Layman. *Journal of Indian Philosophy* 19, 1-30.

1992 Śvetāmbar Mūrtipūjak Jain Scripture in a Performative Context. In Jeffrey R. Timm (ed.), *Texts in Context : Traditional Hermeneutics in South Asia*, 171-94. Albany : State University of New York Press.

1994 Following the Jina, Worshipping the Jina : An Essay on Jain Rituals. In Pratapaditya Pal (ed.), *The Peaceful Liberators : Jain Art from India*, 39-54. Los Angeles : Los Angeles County Museum of Art.

1995a Defining Jainism : Reform in the Jain Tradition. University of Toronto, Centre for South Asian Studies. 1994 Roop Lal Jain Lecture. Reprinted in Joseph T. O' Connell (ed.), *Jain Doctrine and Practice : Academic Perspectives*, 165-91. Toronto : Centre for South Asian Studies, university of Toronto, 2000.

1995b The Rite of Veneration of the Jina Images. In Donald S. Lopez, Jr. (ed.), *Religions of India in Practice*, 326-32. Princeton : Princeton University Press.

1995c Jain Questions and Answers : Who is God and How is He Worshipped ? In Donald S. Lopez, Jr. (ed.), *Religions of India in Practice*, 598-608. Princeton : Princeton University Press.

1995d Absences and Presences : Gaṇeśa in the Jain Tradition. In Pratapaditya Pal (ed.), *Ganesh the Benevolent*. Bombay : Marg.

1996 Art, Religion, and Material Culture : Some Reflections on Method. *Journal of the American Academy of Religion* 64, 613-32.

1997 Tantra in Jainism : The Cult of Ghaṇṭākarṇ Mahāvīr, the Great Hero Bell-Ears. *Bulletin d'Études Indiennes* 15, 115-33.

1998 (Editor) *Open Boundaries : Jain Communities and Cultures in Indian History*. Albany : State University of New York Press.

1999a Fistfights in the Monastery : Calenders, Conflict and Karma among the Jains. In Wagle and Qvarnström, 36-59.

1999b The Gift of Food to a Wandering Cow : Lay-Mendicant Interactions among the Śvetāmbar Mūrtipūjak Jains. In K. Ishwaran (ed.), *Ascetic Culture : Renunciation and Worldly Engagement*, 89-110. Leiden : Brill.

2000a Communities, Temples, Identities : Art Histories and Social Histories in Western India. In Meister, 101-28.

2000b *Jains in the World : Ideology and Religious Values in India*. New York and Delhi : Oxford University Press.

2000c Patronage, Authority, Proprietary Rights, and History : Communities and Pilgrimage Temples in Western India. In Meister, 165-92.

2000d Worship of Bell-Ears the Great Hero, a Jain Tantric Deity. In David Gordon White (ed.), *Tantra in Practice*. Princeton : Princeton University Press.

2001 Doing for Others : Merit Transfer and Karma Motility in Jainism. In Qvarnström.

Forthcoming-a Devotion of Asceticism among the Śvetāmbar Mūrtipūjak Jains. In Vasudha Narayanan (ed.), *Ascetics and Asceticism in India*.

Forthcoming-b Multiple Visions : Experiences of Osian. In David Gordon White and Barbara Holdrege (eds.), *Vital, Mutual, and Fatal*

Attractions : The Sharing of Sacred Space in India.

Dundas, Paul

1987-88 The tenth Wonder : Domestication and Reform in Medieval Śvetāmbara Jainism. *Indologica Taurinensia* 14, 181-94.

1993 The Marginal Monk and the True *Tīrtha*. In Rudy Smet and Kenji Watanabe, *Jain Studies in Honour of Jozef Deleu*, 237-59. Tokyo : Hon-no-Tomosha.

1998 Becoming Gautama : Mantra and History in Śvetāmbara Jainism. In Cort, 31-52.

1999 Jainism Without Monks ? The Case of Kaḍuā Śāh. In Wagle and Qvarnström, 19-35.

Eck, Diana L.

1997 *On Common Ground : World Religions in America.* CD-ROM. New York : Columbia University Press.

Findly, Ellison B.

1996 Jaina Ideology and early Mughal Trade with Europeans. *International Journal of Hindu Studies* 1, 28-312.

Forthcoming Women's Wealth and Styles of Giving : Perspectives from Buddhist, Jaina, and Mughal Sites. In D. Fairchild Ruggles (ed.), *Women, Patronage, and Self-Representation.*

Flügel, Peter

1994 Askese und Devotion : Das rituelle Systeme der Terapanth Svetambara Jains. Ph. D. dissertation, Johannes-Gutenberg Universität, Mainz.

1995-96 The Ritual Circle of the Terāpanth Śvetāmbara Jains. *Bulletin d'Études Indiennes* 13-14, 117-76.

1997-2000 Zum Ursprung der Terapanth Svetambara Jain Tradition. *Here-Now4U*. Online. www.here-now4u.de/Zum_Ursprung_der_Terapanth.htm#1

2000-01 Protestant und Post-Protestantische Jaina Reformbewegungen : Zur

Geschichte und Organisation der Sthanakvasi. Two parts. *Berliner Indologische Studien* 13-14.

2001 The Role of the Kalyāṇaka Patra in the Spiritual Economy of the Terāpantha Śvetāmbara Jaina Ascetics in Rajasthan. In Qvarnström.

Forthcoming-a Demographic Trends in Jain Monasticism. In J. R. Bhattacharya (ed.), *Professor Satya Ranjan Banerjee Felicitation Volume.*

Forthcoming-b Power and Insight in Jain Discourse. In A. Henn and H. van Skyhawk (eds.), *Doctrines and Dialogues : Syncretic Torrents in the Religions of South Asia*. Heidelberg : Contributions to South Asian Studies.

Folkert, Kendall W.

1993 Notes on Paryuṣaṇ in Samī and Veḍ. In John E. Cort (ed.), *Scripture and Community : Collected Essays on the Jains*, 189-211. Atlanta : Scholars Press.

Goonasekera, Ratna S. A.

1986 Renunciation and Monasticism among the Jainas of India. Ph. D. dissertation, University of California, San Diego.

Granoff, Phyllis

1988a Jain Biographies of Nagarjuna : Notes on the Composing of a Biography in Medieval India. In Phyllis Granoff and Koichi Shinohara (eds.), *Monks and Magicians : Religious Biographies in Asia,* 45-66. Oakville : Mosaic.

1988b The Biographies of Arya Khapatacarya : A Preliminary Investigation into the Transmission and Adaptation of Biographical Legends. In Phyllis Granoff and Koichi Shinohara (eds.), *Monks and Magicians : Religious Biographies in Asia,* 67-98. Oakville : Mosaic.

1988c Jain Lives of Haribhadra : An Inquiry into the Sources and Logic of the Legends. *Journal of Indian Philosophy* 17, 105-28.

1989 Religious Biography and Clan History among the Śvetāmbara Jains in North India. *East and West* 39, 195-215.

1989-90 The Biographies of Siddhasena : A Study of the Texture of Allusion

and the Weaving of a Group Image. *Journal of Indian Philosophy* 17, 329-84 and 18, 261-304.

1990 Authority and Innovation : A Study of the Use of Similes in the Biography of Hiravijaya to Provide Sanction for the Monk at Court. *Jinamanjari* 1:1, 48-60.

1991a Tales of Broken Limbs and Bleeding Wounds : Responses to Muslim Iconoclasm in Medieval India. *East and West* 41, 189-203.

1991b The Politics of Religious Biography : The Biography of Balibhadra the Usurper. *Bulletin d'Études Indiennes* 9, 75-91.

1992a The Householder as Shaman : Jain Biographers of Temple Builders. *East and West* 42, 301-19.

1992b Pilgrimage, Death, and Dying in Medieval Jainism. *Bulletin d'Études Indiennes* 10, 181-202.

1992c Jinaprabhasūri and Jinadattasūri : Two Studies from the Śvetāmbara Jain Tradition. In Phyllis Granoff and Koichi Shinohara (eds.), *Speaking of monks : Religious Biography in India and China,* 1-96. Oakville : Mosaic.

1994a Jain Pilgrimage : In Memory and Celebration of the Jinas. In Pratapaditya Pal (ed.), *The Peaceful Liberators : Jain Art from India,* 63-75. Los Angeles : Los Angeles County Museum of Art.

1994b Biographical Writings among the Śvetāmbara Jains in Northwestern India. In Winand M. Callewaert and Rupert Snell (eds.), *According to Tradition : Hagiographical Writing in India*, 131-58. Wiesbaden : Harrassowitz.

1994c Ritual and Biography : The Case of Bappabhaṭṭisūri. In Phyllis Granoff and Koichi Shinohara (eds.), *Other Selves : Authobiography and Biography in Cross-Cultural Perspective,* 16-34. Oakville : Mosaic.

1994-95 Patrons, Overlords and Artisans : Some Comments on Intricacies of Religious Donations in Medieval Jainism. In V. N. Misra (ed.), *Sir Williams Jones Bicentenary of Death Commemoration Volume. Bulletin of the Deccan College Post-Graduate Institute* 54-55, 269-91.

1998a Cures and Karma : Attitudes Towards Healing in Medieval Jainism.

In Albert Baumgarten et al. (eds.), *Self, Soul and Body in Religious Experience*, 218-56. Leiden : Brill.

1998b Divine Delicacies : Monks, Images, and Miracles in the Contest between Jainism and Buddhism. In Richard H. Davis (ed.), *Images, Miracles and Authority in Asian Religious Traditions*, 55-97. Boulder : Westview Press.

1998c The Jina Bleeds : Threats to the Faith in Medieval Jain Stories. In Richard H. Davis (ed.), *Images, Miracles and Authority in Asian Religious Traditions*, 121-41. Boulder : Westview Press.

Hibbets, Maria Ruth

1999 The Ethics of the Gift : A Study of Medieval South Asian Discourses on *Dāna*. Ph. D. dissertation, Harvard University.

Holmstrom, Savitri

1988 Towards a Politics of Renunciation : Jain Women and Asceticism in Rajasthan. M. A. dissertation, University of Edinburgh.

Humphrey, Caroline

1985 Some Aspects of the Jain Puja : The Idea of 'God' and the Symbolism of the Offerings. *Cambridge Anthropology* 9:3, 1-19.

Humphrey, Caroline, and James Laidlaw

1994 *The Archetypal Actions of Ritual : A Threory of Ritual Illustrated by the Jain Rite of Worship*. Oxford : Clarendon Press. Reprint Delhi : Oxford University Press.

Jain Directory

1992 *Jain Directory of North America*. Boston : Jain Center of Great Boston.

Jain Ravindra K.

1999 *The Universe as Audience : Metaphor and Community among the Jains of North India.* Shimla : Indian Institute of Advanced Study.

Jaini, Padmanabh S.

1979 *The Jaina Path of Purification*. Berkeley : University of California Press. Reprint Delhi : Motilal Banarsidass, 1979.

1991 *Gender and Salvation : Jaina Debates on the Spiritual Liberation of Women*. Berkeley : University of California Press. Reprint Delhi : Motilal Banarsidass.

Kelting, M. Whitney

1999 Jain Women's *Maṇḍals* and the Authority of Recreate Jain Theology. In Wagle and Qvarnström, 275-90.

2001a Constructions of Femaleness in Jain Vernacular Devotional Literature. In Qvarnström.

2001b *Singing to the Jinas : Jain Laywomen, Maṇḍal Singing, and the Negotiations of Jain Devotion*. New York : Oxford University Press.

Kuepferle, Paul

1986 *The Frontiers of Peace : Jainism in India*. Video. Mendham : The Visual Knowledge Corporation.

Kumar, Bhuvanendra

1996 *Jainism in America*. Mississauga : Jain Humanities Press.

Laidlaw, James

1985 Profit, Salvation and Profitable Saints. *Cambridge Anthropology* 9:3, 50-71.

1995 *Riches and Renunciation : Religion and Economy among the Jains*. Oxford : Oxford University Press. Reprint Delhi : Oxford University Press.

Forthcoming A Free Gift Makes No Friends. *Journal of the Royal Anthropological Institute*.

Mahias, Marie-Claude

1985 *Délivrance et convivialité : Le système culinaire des Jaina*. Paris : Éditions de la Maison des Sciences de l'Homme.

Meister, Michael W.

1995 Sweetmeats or Corpses ? Art History and Ethnohistory. *Res : Anthropology and Aesthetics* 27, 188-32.

1998 Sweetmeats or Corpses ? Community, Conversion, and Sacred Places.

In Cort, 111-38.

2000 (Ed.) *Ethnography and Personhood : Notes from the Field*. Jaipur : Rawat Publications.

Orr, Leslie C.

1998 Jain and Hindu "Religious Women" in Early Medieval Tamilnadu. In Cort, 187-212.

1999 Jain Worship in Medieval Tamilnadu. In Wagle and Qvarnström, 250-74.

2000a *Donors, Devotees, and Daughters of God : Temple Women in medieval Tamilnadu.* New York : Oxford University Press.

2000b Women's Wealth and Worship : Female Patronage of Hinduism, Jainism, and Buddhism in Medieval Tamilnadu. In Mandakranta Bose (ed.), *Faces of the Feminine in Ancient, Medieval, and Modern India*, 124-47. New York : Oxford University Press.

Qvarnström, Olle (ed.)

2001 *Jainism and Early Buddhism in the Indian Cultural Context : A Festschrift for Padmanabh S. Jaini*. Lund : almqvist and Wiskell Internation. Lund Studies in African and Asian Religions.

Reynell, Josephine

1985a Honour, Nurture and Festivity : Aspects of Female Religiosity Amongst Jain Women in Jaipur. Ph. D. dissertation, University of Cambridge.

1985b Renunciation and Ostentation : A Jain Paradox. *Cambridge Anthropology* 9:3, 20-33.

1987a Prestige, Honour and the Family : Laywomen's Religiosity amongst the Jains in Jaipur. *Bulletin d'Études Indiennes* 5, 313-59.

1987b Equality and Inequality. In N. K. Singhi (ed.), *Ideal, Ideology & Practice : Studies in Jainism*, 33-58. Jaipur : Printwell.

Seeling, Holly

1992a The Jain Tradition in America : Centers, Organizations, and

Temples. Unpublished paper for the Pluralism Project, Committee on the Study of Religion, Harvard University.

1992b The Jain Tradition in America : Family Issues. Unpublished paper for the Pluralism Project, Committee on the Study of Religion, Harvard University.

1992c Authority and Transmission in the 'American' Jain Tradition. Unpublished paper for the Pluralism Project, Committee on the Study of Religion, Harvard University.

N. Shântâ

1985 *La voie jaina : Histoire, spiritualité, vie des ascètes pèlerines de l'Inde.* Paris : O.E.I.L.

1997 *The Unknown Pilgrims : The Voice of the Sadhvis : The History, Spirituality, and Life of the Jaina Women Ascetics.* Translation of 1985 by Mary Rogers. Delhi : Sri Satguru Publications. Sri Garib Dass Oriental Series 219.

Srivastava, Vinay Kumar

1997 *Religious Renunciation of a Pastoral People.* Delhi : Oxford University Press.

Tongia, V. C.

1991 Changing Pattern of Status of Women in Jain Community : Traditional and Modern Trends in their Status. *Indian Journal of Social Research* 32, 283-88.

Tuschen, Stefanie

1997 Das Bhaṭṭāraka-Amt bei dem Digambara-Jainas in Karṇātaka. Ph. D. dissertation, Philipps-Universität Marburg.

Vallely, Anne

1999 Women and the Ascetic Ideal in Jainism. Ph. D. dissertation, University of Toronto.

Wagle, N. K., and Olle Qvarnström (editors)

1999 *Approaches to Jaina Studies : Philosophy, Logic, Rituals and Symbols.*

Toronto : Centre for South Asian Studies, University of Toronto. South Asian Studies Paper 11.

Williams, Raymond

1988 *Religions of Immigrants from India and Pakistan : New Threads in the American Tapestry*. Cambridge : Cambridge University Press.

Zwicker, Thomas A.

1984-5 Unpublished fiedlwork notes in archive of the University of Pennsylvania Museum, Philadelphia.

Zwilling, Leonard and Michael J. Sweet

1996 "Like a City Ablaze" : The Third Sex and the Creation of Sexuality in Jain Religious Literature. *Journal of the History of Sexuality* 6, 359-84.

Zydenbos, Robert

1987 The Jaina Nun Kavunti. *Bulletin d'Études Indiennes* 5, 387-417.

1992 The Jaina Goddess Padmavati, *Jinamanjari* 4 :1, 50-62.

1993 The Concept of Divinity. University of Toronto, Centre for South Asian Studies. 1992 Roop Lal Jain Lecture. Reprinted in Joseph T. O'Connell (ed.), *Jain Doctrine and Practice : Academic Perspectives*. Toronto : Centre for South Asian Studies, University of Toronto, 2000.

1994 Jaina Goddesses in Kannada Literature. In Alan W. Entwistle and Françoise Mallison, *Studies in Soutrh Asian Devotional Literature : Research Papers, 1988-1991, presented at Fifth Conference on Devotional Literature in New Indo-Aryan Languages*, 135-45. New Delhi : Manohar; and Paris : École Française d'Extrême-Orient.

1999 The Ritual Giving of Food to a Digambara Renunciant. In Wagle and Qvarnström, 291-303.

□□□

Problems in Learning Prakrit Language*

Dinanath Sharma

India, in a sense, is a linguistic area, having the largest number of languages of different groups spoken, viz. Indo Aryan, Indo Dravidian, etc. Chronologically Indo Aryan languages are divided into three groups, e.g. (i) Old Indo Aryans, which contain Vedic Chāndasa and classical Sanskrit (ii) Middle Indo Aryans containing Pali, Prakrit and Apabhraṁśa. In a loose sense all middle Indo Aryans are called Prakrits, (iii) New Indo Aryans consisting of old Hindi, Gujarati, Bengali, etc.

For the study of O.I.A.'s Vedas and classical Sanskrit, we have got Vedāṅgas and different types of commentaries, of which Sanskrit grammar of Pāṇini and Nirukta of Yāksa are the best instrument. Sanskrit (classical) does not show any development after Pāṇini. Ever since the inception of Indian literature, Sanskrit was the language of scholars for their creative writings and that of the courts.

As regards the M.I.A. languages, no literature in Prakrit has been found before Lord Mahāvīra and Lord Buddha. It is only because Prakrits, though having existence, was not adopted by scholars for their creative writings. When Lord Mahāvīra and Lord Buddha having got enlightenment, preferred to preach in the language spoken among common people, Prakrits came into light. Thenceforth, we get Prakrits developed with many names, since it was current among common people across the country. Consequently different Prakrits came into being with different names, viz. — Māgadhī, Ardhamāgadhī, Paiśācī, Cūlikā Paiśācī, Pāli, Śaurasenī, Mahārāṣṭrī and Apabhraṁśa.

As regards the learning of these languages, it is practically obvious to face problems due to their multifarious nature. The problems, it seems, must have prevailed long before and therefore efforts have been made to eradicate them. Consequently, we have got a good number of grammars for these languages as we have for Sanskrit. But difference between Sanskrit and Prakrits is that the

former is having single characteristic. It does not vary from region to region, which enables a student to learn it easily, whereas the latter having different nature, name according to regions, differ from one another in many respects. This is the main problem a student of Prakrit faces.

we have got a galaxy of Prakrit grammarians including Vararuchi (Prakrit Prakasha), Purushottama (Prakritanushasana) Hemachandra (Siddha-hema-shabdanushasana), Ramasharmatarkavagisha (Prakrita-Kalpataru), Marakandeya (Prakritasarvaswa) and so on. All these grammarians have kept in their mind the student of Prakrit to know the Sanskrit that is the reason, perhaps, that they have not only written their Prakrit grammars in Sanskrit but also have they formed sūtras in light of Sanskrit, which, it seems taking the present situation into account, is not proper. Followings are the reasons, that are supposed to have played their vital role for scholars to write their Prakrit grammars on the basis of Sanskrit :—

(i) Sanskrit was not only spoken in courts, i.e. as official language and among scholars but also was the language of creative writings from the very beginning of Indian literature.

(ii) Centuries after Mahāvīra and Buddha whose influence brought Prakrits to the kingdoms and scholars, Prakrits did not remain prevailing as is evident from the fact that in Gupta era Sanskrit was on its peak.

(iii) It was the essential demand of the time for Jaina Acharyas to adopt Sanskrit for their creative activities to cope with Brahmaṇas in philosophical encounters.

(iv) Prakrit, being always developing and regionwise different, did not have a single form across the country like Sanskrit. Therefore, a student of Prakrits had to go for a number of grammars which was practically difficult if not impossible. On the contrary classical Sanskrit was modelled by Pāṇini (c. 4th century B. C.) and is still prevailing.

In modern Prakrit grammars, Prof. R. Pischel's 'A Grammar of the Prakrit Languages[1] ' is worthy of much importance. It starts with what the word Prakrit as a language means. Then it proceeds with explaining how the phonetical changes take place in words, i.e. how the words of Prakrits deviate from Sanskrit equivalents in terms of phonology. Then follow the morphological changes; i.e. how the suffixes of Prakrits are deviated from their Sanskrit equivalents. Pischel deals with every word, giving its equivalent word in

different dialects.

'Introduction to Ardhamāgadhī[2] of Prof. A. M. Ghatage treats the Ardhamāgadhī grammar the same way as his predecessors have done. Prākrita-margopadeśikā[3] of Prof. Bechardas Doshi is nothing but a rearrangement of the sūtras of Hemacandra's Prakrit grammar and commentary thereof. Prof. Doshi's expertise in the subject, as depicted in the book, is beyond doubt.

Apart from these many other grammars have been written by modern scholars, but none of them has attempted for Prakrit syntax covering all sorts Prakrits. They have based Prakrit syntax upon Sanskrit syntax, which is correct to some extent, but there are a lot of differences too. Many cases, for instance have got together in Prakrits. Many of them are used for one another. Infinitive and absolutive are used for each other. Many of the Lakaras have lost.

It is, therefore, necessary to have a comprehensive grammar of all Prakrits irrespective of Sanskrit covering word formation, syntay, compound, cpmbination etc., A student of Prakrit should be taught all Prakrits gradually, starting from general Prakrit i.e. Mahārāṣṭri with all grammatical features mentioned above and be assured that the student is able to understand Prakrit without the help of Sanskrit.

Prakrit language and literature is still wanting an authentic and comprehensive dictionary. Prakrit is such a language which has the largest flexibility among all Indo-Aryan languages in terms of direct, denotative and suggestive meanings. Gāthāsaptaśatī of Sātavāhana, for instance has provided many Prakrit gāthās to Sanskrit rhetoricians for their examples in denotations and suggestions.

There are a number of words which has not yet been included in dictionaries. Anekārtha ratnamañjūśā[4] includes a number of lexicographical treatises, of which Artharatnāvalī (Aṣṭalakshārthī) of Samayasundargani, Gāyatrīvivaraṇam of Śubhatilaka and 'Savvatha' Sabdarthasamucchaya of Gunavinaya are salient.

There are 117 Sanskrit words made from सव्वत्थ, none of which can be claimed grammatically wrong. But unfortunately none of them has been found either in Prakrit or in Sanskrit dictionaries. So a comprehensive dictionary of all Prakrits should be prepared so that the comparative aspect of the words can be seen at a place. Let us hope that Prof. A. M. Ghatage's Prakrit Dictionary under preparation, shall meet the expectations of Prakrit students.

Unfortunately, we do not have Prakrit texts properly edited, which give room to many doubts about their authenticity particularly the Ardhamāgadhī texts, containing Jaina's doctrines and dogmas, do not represent the language, they belong to. Unless the texts are corrected, we cannot make the grammar of the language of the text authentic. Many Mss. are waiting for torch bearers. An expedition should be launched to bring them to light. All important Prakrit texts should be critically edited so as to ascertain the actual form of their language. Prof. K. R. Chandra's expedition to bring the extant Ardhamāgadhī language to its actual form shall be a landmark in this process.

These are the problems and solutions of development of Prakrit studies in modern age.

Annotations :

* Presented in the National Seminar on Jain Studies : Appraisal and Possibilities at P. V. Res. Institute, Varanasi, 5-7 April, 1998.

1. Originally written in German and English, Tr. by Prof. Subhadra Jha, Pub. Motilal Banarasidas, Delhi 1981.
2. Published by Gujarat University Granth Nirman Board, Ahmedabad-19.
3. Pub. D. N. Moghe, D. A. School and College Book Stall, Kolhapur 4th ed. 1951.
4. Ed. H. R. Kapadia, Pub. Devchand Lalbhai Jain Pustakoddhar Fund, Surat 1933.

□□□

A Comparative Study of Infinitives and Absolutives Used in the Vedas and Prakrit Dialects*

Dinanath Sharma

To study the language of the Veda is to study the language of the literature which contains the mental activity of at least three millenia expressed in speech and writing. No one can understand the Indian spiritual life and culture without the insight of Vedic literature, being the oldest Indian literature; In the same way no one can claim to have the complete knowledge of Indian languages without the knowledge of Vedic language. As we try to see the origin of philosophical, cultural, geographical etc. elements in the Vedas, we try to search the lingual elements also in the Vedas, which are prevailing in different subsequent languages and dialects.

While doing comparative study of two or more languages, it requires to comprehend all the features of the same which is practically impossible to comprise in a single paper. This paper is, therefore, oriented only to two participles, viz. infinitive and absolutive.

The infinitive participle has been used 700 times in the Ṛgveda[1]. The suffixes of this participles are as follows :—

Infinitive Suffixes	Vedic	Uses
— ध्यै	वन्दध्यै	इन्द्राय अर्कं जुहवां समञ्जे वीर (ऋग्वेद १.६१.५)
— तवे	गन्तवे	आनो नावा मतीनां यातं पाराय गन्तवे (ऋग्वेद १.४६.७)
— तवा	संहवयितवा	गोपालान् संहवयितवा उवाच (श. ब्रा.)
— से	जीवसे	आत एतु मनः पुनः जीवसे ज्योक् च सूर्यं दृशे (ऋग्. १०.५७.४)
— वने	दावने	प्रयद् भरध्वे सुविताय दावने (ऋग्. ५.५९.४)

— अये	युधये	अथ उप प्रऐद् युधये दस्युम् (ऋग्. ५.३०.९)
— त्यै	इत्यै	देवो नो अत्र सविता नु अर्थ प्रासावीद द्विपद् प्र चतुष्पदित्यै (ऋग्. १०.१४.१२)
— आय	यजथाय	अबोधि होता यजथाय देवान् (ऋग्. ५.१.१)
— तवै	योतवै	अग्निं द्वेषो योतवै नो गृणीमसि (ऋग्. ८.७१.१५)
— ए	स्तुषे	स्तुषे सा वां रातिः (ऋग्. १.१२२.७)
— अम्	विपृछम्	उपो एमि चिकितुषो विपृछम् (ऋग्. ७.८६.३)
— तुम्	प्रष्टुम्	को विद्वां समुपगात् प्रष्टुमेतत् (ऋग्. १.१६४.४)
— तोस्	गन्तोः	युयोत नो अनपत्यनि गन्तोः (ऋग्. ३.५४.८)

The suffix तुमुन् for infinitive participle which is used only five times in the Ṛgveda out of 700 uses, has become surprisingly the only suffix for infinitive in the classical Sanskrit and mostly in the Middle-Indo Aryans.

In the M.I.A.s, there are many other suffixes serving the purpose of infinitive, whose origin can be traced back to Vedic literature. The suffix — त्तए, इत्तए[3]; e.g.

Vedic	Ardhamāgadhī	Pali[4]
पातवे, पातवै	पायए, पिवित्तए	कातवे (कर्तुम्)
भोक्तवे	भोत्तए, भुंजित्तए	—
वस्तवे	वत्थए	—
दातवै	दायए	—

In Pali, the तवे suffix of Veda remains unchanged. This should be well noticed that the तवे, त्तए, इत्तए suffixes are retaining only in Ardhamāgadhī, Pāli and Ashokan inscriptions and not in other M. I. A. languages[5].

The infinitive in—एवं ending देवं (दातुम्) in Apabhraṁśa (Hemcandra 4.441.1) is, according to R. Pischel, derived from the present stem दे-दय with the ending वं that goes back to—वन = Vedic—वने. Thus देवं may correspond to Vedic दावने[6]. This supposition can be based upon the instrumental case ending in Apabhraṁśa in -एं (-एन); e.g. —

ता एत्थंतरे असुरविमद्देदं । धीरिय-णिय -जणेरि वलहद्दे[7] ॥

Sanskrit rendering —

ततः अत्रान्तरे असुरविमर्देन । धीरित-निज-जनयित्री-बलभद्रेण ॥

(Then meanwhile by Balabhadra, the destroyer of devils, pacifying his mother, was told the mother.)

Absolutive has been used more than 120 times in the Ṛgveda and Atharvaveda[8]. Its suffixes are as follows —

— त्वी	कृत्वी
— त्वा	पीत्वा
— त्वाय	गत्वाय
— य	अभ्युप्य
— या	आच्या
— त्य	आहत्य
— त्या	एत्या

The suffix -त्ता in Ardhamāgadhī and Śaurasenī, is the direct phonetical change of त्वा in the Veda and classical Sanskrit; e.g. वंदित्ता आगमेत्ता. Pali retains the -त्वा as it is; e.g. सो सुत्वा याति (He goes having heard).

In addition to the absolutive in -त्ता Ardhamāgadhī has an absolutive in त्ताणं, and त्वान in Pali that presupposes one Vedic त्वानम् (पीत्वानम्). This form, referred to by European grammarians, rests on a printing error in annotation of the Calcutta edition of Pāṇini 7.1.48. The Kāśikā rightly has पीत्वीनम्[9]. भवित्ताणं Amg. सुत्वान Pali.

Vedic absolutive in -त्वी and त्वीनम् and गूढ्वी and इष्ट्वीनम्, पीत्वीनम्[10] and Kāśikā thereupon have been retained in Apabhraṁśa -त्वी became -प्पि, -पि, -प्पिणु, -पिणु, -वि, -विणु . As जिणेप्पि, जेप्पि, (जित्वा) Hemacandra 4.442.2. करेप्पिणु (कृत्वा), गम्पि (गत्वा), मेल्लेवि (मिलित्वा) etc.

On the basis of these findings we can easily guess that the Prakrit dialects are, in many respects, directly related to Vedic language dropping the classical Sanskrit aside. Pali, leṇa dialect, and Ardhamāgadhī preserve older forms, than other dialects like Śaurasenī Mahārāṣṭrī etc. Apabhraṁśa, though the last one of M.I.A. languages preserve certain forms corresponding directly to Vedic language.

Annotations :

* Presented in the Jñāna Satra of All Gujarat College and University Sanskrit Teacher's Association held at Somanath from 6th to 7th Sept. 1997.

1. वैदिक व्याकरण—Arther Anthony Mac Donell. p. 251 and तुमर्थे से-सेन्-असे-असेन्-कसे-कसेन्-अध्यै-अध्यैत्-कध्यै-कध्यैन्-शध्यै-शध्यैन्-तवे तवेङ् तवेनः 3.4.9, Aṣṭādhyāyī 3-4-13.
2. Ibid. pp. 438-445.
3. A Comparative Grammar of the Prakrit Language. Para. 578.
4. तुं ताये तवे भावे भविस्सति क्रियायं तदत्थायं 5.61 (Moggattana Vyākaraṇa) पालि महाव्याकरण by Bhikshu Jagadish Kashyap referring to this sūtra has mainly based upon Moggattāna Vyākaraṇa being the most comprehensive because of the author's own commentary on it. P. 152.
5. प्राचीन अर्धमागधी की खोज में, pp. 47-48.
6. A Comparative Grammar of Pkt. Languages, para 579.
7. पउमचरिउ, Saṁdhi 23 Ghattā—5.1.
8. वैदिक व्याकरण, p. 248.
9. A Comparative Grammar of Pkt. Languages, para 583.
10. Aṣṭādhyāyī 7.1.48—इष्ट्वीनमिति च. This sūtra has been explained by Śrīśa Candra Vasu as follows—In the Chandas the absolutive इष्ट्वीनम् is irregularly used for इष्ट्वा.

    To the root √यज् is added क्त्वा and final आ is replaced by -ईनम्. As इष्ट्वीनम् देवान् for इष्ट्वा देवान् ॥ the च in the sūtra indicates that there are other forms like this as पीत्वीनम् for पीत्वा.

Reference Books :

1. Vedic Grammar—A. A. Macdonell, Hindi Tr. Dr. Satya Vrat Shastri, Motilal Banarasidass, Delhi 1994.
2. पालि महाव्याकरण—Bhikśhu Jagadish Kashyap, Motilal Banarasidass, Delhi 1993.
3. A Comparative Grammar of Prakrit Languages by R. Pischel, English Tr. by Dr. Subhadra Jha. Motilal Banarsidass, Delhi, 1981.
4. प्राचीन अर्धमागधी की खोज में - by Dr. K. R. Chandra, Prakrit Jain Vidya Vikas Fund, Ahmedabad-15, 1991.
5. पउमचरिउ—Kavi Svayambhu. Ed. Dr. H. C. Bhayani.
6. Siddhanta Kaumudī Vol. II Śrīśa Candra Vasu, Ed. II 1982, Motilal Banarasidass, Delhi.

□□□

जैनागमों के पाठसम्पादन में प्राचीन भाषाकीय स्वरूप का पुनःस्थापन

वसन्तकुमार म. भट्ट

भूमिका—

पाठसमीक्षा (Textual Criticism) अथवा 'समीक्षित पाठसम्पादन' (Critical Text-Editing) की सोच कुछ इस प्रकार की है। किसी भी ग्रन्थ की एक प्रतिलिपि से दूसरी प्रतिलिपि में पाठ संक्रमित हुआ है वह लहियाओं के अनेक प्रकार के प्रमाद के कारण आकस्मिक कारणों से विकृत-खण्डित और अशुद्ध बना होता है। इसलिए हस्तलिखित प्रतों में सुरक्षित एक ही कृति के विविध प्रकार के पाठों (Text) से[१] मूल ग्रन्थकार द्वारा लिखित मूलपाठ (Original Text) को अनुमान से ढूंढ निकालना, और समय समय पर प्रविष्ट पाठान्तरों को सुनिश्चित पद्धति से पादटीप में संगृहीत करना, 'समीक्षित पाठसम्पादन' कहा जाता हैं।[२]

१. पाठ सम्पादन के त्रिविध आयाम :—

मूल ग्रन्थकार का स्वहस्तलेख और आज उपलब्ध किसी की लिखी हुई हस्तलिखितप्रत (Manuscript) के बीच के पाठसंक्रमण (Text-transmitation) का इतिहास हमें बिलकुल अज्ञात होता है — अज्ञेय होता है। ऐसी स्थिति में किसी एक हस्तप्रत में प्राप्त जिस-तिस कृति के पाठ को मूलग्रंथकार का लिखा हुआ मानना समुचित नहीं है, क्योंकि उसी कृति की दूसरे प्रान्त से प्राप्त होने वाली हस्तप्रत के साथ तुलना करने पर, उन दोनों में बहुत अन्तर दिखाई देता है। क्योंकि प्राचीन और मध्य कालीन भारत में प्रतिलिपीकरण का कार्य यांत्रिक न था इसलिए मानव द्वारा हुए इस प्रतिलिपीकरण में कृति का मूलपाठ अनेक प्रकार से विचलित हुआ दिखाई देता है। ऐसी परिस्थिति में कोई भी एक हस्तलिखित प्रत के आधार पर किसी कृति का पाठसम्पादन या पाठ प्रकाशन करना अनर्थकारी सिद्ध होता है। हमारे प्राचीन भाष्यकार और टीकाकार भी इस बात की गवाही देते हैं कि उन्हें परंपरा में मिले किसी भी कृति के पाठ में अपपाठ, पाठान्तर, लुप्तांश और प्रक्षिप्तांश वगैरह देखने को मिलते हैं। उसके बाद यूरोपीय विद्वान् जब प्रथमबार संस्कृत, पालि, और प्राकृत भाषाओं में लिखे ग्रन्थों से परिचित हुए, और उन्होंने उनका प्रकाशनकार्य हाथ में लिया तब उन्होंने पाठसम्पादन कैसे किया जाय इसके कुछ सिद्धान्त तय किए जिनका प्राथमिक परिचय देते हुए डा० सुमित्र मंत्रेश कत्रेजी ने एक पुस्तक लिखी।

Katre S. M. Introduction to Indian Textual Criticism, Deccan College, Pune, 1954. तदुपरान्त, प्रस्तुत लेख के लेखक ने भी 'संस्कृत पाण्डुलिपिओ अने समीक्षित पाठसम्पादन-विज्ञान' (प्रका० सरस्वती पुस्तक भंडार, अहमदाबाद, १९९४) पुस्तक से इस दिशा में एक प्रयास किया है ।

श्री कत्रेजी ने उपर्युक्त पुस्तक में निरूपित पद्धति से लिखित दस्तावेजों से (अर्थात् हस्तलिखित प्रतों से) पाठसम्पादन (Text editing) का कार्य करने के अलावा, पाठसमीक्षा के क्षेत्र में कभी किसी कृति का कुछ अंश हस्तप्रतों से लुप्त हुआ हो तो उस लुप्तांश के लिए अन्य 'सहायक सामग्री' से लुप्त पाठांश का पुनर्गठन (Reconstruction) भी करना पड़ता है। (उदाहरण के लिए देखिए The Panchatantra Reconstructed; ed. by Franklin Edgerton; Vol. I & II, American Oriental Society, New Haven, Connecticut, U.S.A. 1924 (भाग-२ की प्रस्तावना) अथवा कभी प्राचीनतमपाठ का नया स्थित्यन्तर उत्पन्न हुआ हो तो ऐसे पाठ के पुनर्वसन का कार्य भी हाथ में लेना पड़ता है । इस तरह 'पाठसमीक्षा' के कार्यक्षेत्र में त्रिविध आयाम दिखाई देते हैं ।

प्रस्तुत लेख में जैनागमों की पाठसमीक्षा के सन्दर्भ में जिस प्रकार की समस्या की चर्चा की गई है, वह केवल हस्तप्रतों से पाठसम्पादन करने की समस्या नहीं है, बल्कि जैनागमों के पाठ में कालान्तर में जो नया स्थित्यंतर पैदा हुआ है, उसके पुनर्वसन (पुनः स्थापन) की समस्या मुख्य है, जिसकी चर्चा हम यहाँ करेंगे ।

२. जैनागमों की विविध वाचनाएँ और भाषाकीय रूपान्तर

ब्राह्मण संस्कृति के वेदों का, तथा श्रमणसंस्कृति के जैनागमों और बौद्ध त्रिपिटकों के पाठ ऐसे हैं कि जिनमें मूल ग्रन्थकार का स्वहस्तलेख (Autograph) कभी था ही नहीं (दोनों संस्कृतियों के अनुयायियों ने अपने अपने ज्ञानराशि को केवल श्रुति परंपरा से सदियों तक सुरक्षित रखने का प्रयास किया है ।' श्रमण संस्कृति के साधू समय समय पर मिलते रहे हैं और अपने श्रुतज्ञान को परस्पर जाँच पड़ताल कर उसे व्यवस्थित करते रहे हैं । जैसे कि बौद्धत्रिपिटकों के पाठ का सम्पादन करने के लिए तीन 'संगीति'याँ की गयी थीं । ऐसा निर्देश बौद्ध ग्रंथों से प्राप्त होता है । प्रथम संगीति राजगृह में, दूसरी वैशाली में और तीसरी सम्राट अशोक (ई० स० पूर्व २५०) के समय में, यानी कि बुद्धनिर्माण के २३६ वर्ष के बाद पाटलिपुत्र में हुई थी । इस तीसरी संगीति में बौद्धआगमों को लिपिबद्ध किया गया था ।[३]

इसी तरह से महावीर की वाणी को प्रथम स्तर पर गौतमादि शिष्यों ने मौखिक परंपरा से ही सुरक्षित रखा । बाद में दूसरे स्तर पर अर्थात् भगवान् महावीर के निर्वाण के १६० वर्ष बाद (यानी कि. ई० स० पूर्व ३६७ में) चन्द्रगुप्त मौर्य के समय में जो अकाल हुआ था उसके बाद स्थूलिभद्र ने पाटलिपुत्र में देशभर के जैन श्रमणों का संमेलन बुलाया था, और वहाँ सबने इकट्ठे होकर श्रुतज्ञान को व्यवस्थित किया था । ऐसा दूसरा संमेलन ई० स० ३००-३१३ में आर्य स्कन्दिल के नेतृत्व में मथुरा (शूरसेन) में बुलाया गया था । ठीक उसी समय गुजरात के वलभी

शहर में नागार्जुनसूरि ने भी एक परिषद इकट्ठी करके आगम की वाचना के लिए चर्चा की थी। उसके बाद ई० स० ४५३-४६६ में, और वलभी में ही, देवर्धिगणि क्षमाश्रमण के नेतृत्व में चौथा सम्मेलन बुलाया गया। उसमें मथुरा से प्राप्त 'माथुरी वाचना' के आधार पर जैन आगम को संकलित करके लिपिबद्ध किया गया। तथा इस समय जिन पाठों का समन्वय न हो सका उनको वायणान्तरे पुण (वाचनान्तरे पुन:) (दूसरी किसी वाचना में ऐसा पढ़ने को मिलता है।) ऐसा कहकर नोट कर लिया गया या फिर, कुछ पाठान्तरों के लिए "नागार्जुनीयास्तु एवं वदन्ति।" इत्यादि रूप में उल्लेख किया गया। इसी समय 'दृष्टिवाद' नामक ग्रन्थ को कहीं से भी प्राप्त न होने के कारण उच्छिन्न घोषित कर दिया गया।[४]

वेद साहित्य में शब्द का प्राधान्य होने के कारण, कालान्तर में वेदमंत्रों के अर्थ के बारे में अधिक विप्रतिपत्तियाँ खड़ी हुईं किन्तु उनके शब्द तो सस्वर यथावत् अद्यावधि सुरक्षित हैं। जब कि जैनागमों में महावीर की वाणी के शब्द का नहीं, किन्तु अर्थ का प्राधान्य स्वीकृत है। इसलिए भाषाकीय दृष्टि से उसके शब्दात्मक स्वरूप में परिवर्तन होते रहे हैं। जैसे कि, भगवान महावीर ने मगध और उसके आसपास के प्रदेशों में जो धर्मोपदेश किया होगा तो वह तात्कालिक अर्धमागधी भाषा में होगा। इस तरह अनुमान से सिद्ध होता है कि जैनागमों का भाषाकीय स्वरूप अर्धमागधी भाषा में निबद्ध था। बाद में उन आगमों का माथुरी वाचना में संक्रमण होने के कारण, वह शौरसेनी भाषा में उपनिबद्ध हुआ होगा। और कालान्तर में तीसरे स्तर पर वह महाराष्ट्री प्राकृत में परिवर्तित हुआ है। (आज श्वेताम्बरों के आगम 'जैन महाराष्ट्री प्राकृत' में हैं। तो दिगम्बरों के मत से जैनागम शौरसेनी प्राकृत में उपनिबद्ध हैं। इस तरह जैनागमों की दो प्रमुख वाचनाएँ प्रवर्तमान हैं।)। अब जैनागमों की भाषा के सन्दर्भ में मुनि श्री पुण्यविजयजी म. सा. के शब्दों को देखेंगे: ... दोनों अरिहंतों ने (बुद्ध और महावीर ने) अपने उपदेश लोकभाषा में ग्रथित हो ऐसा आग्रह रखा था। इसलिए भगवान महावीर का उपदेश गणधरों ने उस समय की प्राकृत भाषा में ग्रथित किया। उस भाषा का नाम शास्त्रों में अर्धमागधी दिया गया है। बाद के वैयाकरणों ने मागधी और अर्धमागधी भाषा के जो लक्षण बनायें है वह लक्षण हमारे पास विद्यमान आगमों में क्वचित् ही देखने को मिलते हैं। इस कारण प्राकृत भाषा की सामान्य प्रकृति के अनुसार यह भाषा सदा परिवर्तित होती रही होगी ऐसा मानने का कारण है, और जिस कारण से शास्त्रों की भाषा संस्कृत नहीं किन्तु प्राकृत रखी गई थी। यानि कि लोकभाषा स्वीकार हुई थी उस कारण से भी लोक भाषा जैसे जैसे बदलती रही वैसे-वैसे वह शास्त्रों की भाषा बदलनी चाहिए यह अनिवार्य था ..."

"श्वेताम्बरों के आगमों की भाषा प्राचीन काल में अर्धमागधी थी ऐसा स्वयं आगमों के ही निर्देश से निश्चित होता है।[५] किन्तु आज तो वैयाकरण जिसे महाराष्ट्री प्राकृत के नाम से जानते हैं उस भाषा के नजदीक की वह प्राकृत है। इसलिए आधुनिक विद्वान उसे 'जैन महाराष्ट्री' नाम देते हैं। उस भाषा की समग्र भाव से एकरूपता, पूर्वोक्त शौरसेनी की तरह, आगम ग्रन्थों में नहीं मिलती और भाषाभेद के स्तर स्पष्ट रूप से तज्ज्ञों को दिखाई देते हैं।"[६]

इस तरह जैनागमों के पाठ में जो भाषाकीय रूपांतर होते रहे हैं और आज उपलब्ध होते पाठ में एकरूपता का जो अभाव प्रवर्तमान है, उसके स्थान पर मूल प्राचीनतम अर्धमागधी भाषा स्वरूप के प्रतिष्ठापन का प्रश्न आज ध्यानाकर्षक है ।

मुनि श्री पुण्यविजयजी और श्रीजम्बूविजयजी म. सा. द्वारा आगमों का पाठसम्पादन :–

प्रशिष्ट कृतियों के पाठसम्पादन के चतुर्विध स्तर : १. अनुसन्धान (Hueristics) २. संशोधन (Recension) ३. संस्करण (Emendation) और ४. उच्चतर समीक्षा (Higher Criticism) वाली पद्धति प्रोफेसर कत्रे ने (१९५४) पूर्वोक्त ग्रंथ में समझायी है । तथा भाण्डारकर ओरिएन्टल रिसर्च इन्स्टिट्यूट, पूना ने ई० स १९३३ में प्रकाशित 'महाभारत' की समीक्षित आवृत्ति में जो पद्धति अपनाई गई है उस आदर्श को सामने रखकर मुनि श्रीपुण्यविजयजी म० साहब ने (१९६८ में) नंदिसूत्रं अनुयोग द्वारं च० का तथा मुनि श्री जम्बूविजयजी म० साहब ने (१९७७ में) आचारांगसूत्रम् इत्यादि का समीक्षित पाठसंपादन कार्य किया है । इन दो ग्रन्थों की प्रस्तावना देखते हुए इन दोनों महानुभावों की पाठसमीक्षा की सामग्री और पद्धति निम्नवत् दिखाई देती है ।

'आचारांग की पाठपरंपरा जिसमें सुरक्षित रही है वे हैं—१. वर्तमान में प्राप्त ताडपत्रीय और कागज की हस्तप्रतें, २. आचारांग की सबसे प्राचीन व्याख्या 'चूर्णि' और ३. आचारांग की सबसे प्रथम शीलांकाचार्य की संस्कृत वृत्ति । इनके अलावा ४. पूर्व के प्रकाशित विविध संस्करण भी इस समग्र सामग्री से श्री जम्बूविजयजी म. साहब और पुण्यविजयजी म. सा. ने हस्तलिखित प्रतियों का ही मुख्यतया आधार लिया है ।

उपर्युक्त त्रिविध समग्री में से कालानुसार देखें तो 'चूर्णि' सबसे अधिक प्राचीन है तथा 'शीलाचार्य की संस्कृतवृत्ति' ११०० वर्षों पूर्व लिखी गई है । इसलिए उपलब्ध हस्तलिखित प्रतियों से तो वह प्राचीन है ही, किन्तु 'चूर्णि' तो 'वृत्ति' से भी अधिक प्राचीन है ।

अब, हस्तलिखितप्रतों के अलावा जो चूर्णि या शीलाचार्य की वृत्ति है जिसे पाठसमीक्षाशास्त्र में 'सहायक सामग्री' (Testimonium) कहते हैं । उसमें से वृत्ति में प्राप्त पाठ को संपादकों ने अधिक महत्त्व दिया है । क्योंकि १. वर्तमान हस्तप्रतियों का पाठ वृत्ति की पाठपरंपरा के प्रायः समान होता है तथा २. आज प्रायः उसका पठन-पाठन में अधिक प्रचार होने के कारण, वृत्ति के अध्याताओं के अनुकूलन हेतु ३. 'वृत्ति' में प्राप्त पाठ को प्राधान्य दिया है । मुनि श्री जम्बूविजयजी ने 'आचारांग' के संपादन में पाठपसंदगी के निम्नोक्त सिद्धान्तों का पालन किया है ।

क. हस्तलिखित प्रतियों में विविध पाठ प्राप्त हों तब कोई पाठ चूर्णि संमत हो और कोई पाठ वृत्ति संमत हो तो वृत्तिसंमत पाठ को प्रायः मूल में स्वीकार किया है । (और दूसरे पाठ को पादटिप्पण में दिया गया है ।)

ख. फिर भी चूर्णिसंमत पाठ का भी अनेक स्थलों पर मूल में स्वीकार किया है ।

ग. हस्तलिखित प्रतियों में जो पाठ प्राप्त नहीं हुआ, किन्तु चूर्णि टीका के आधार पर जो पाठ अत्यन्त जरूरी लगा, ऐसे पाठ को [ ] इस तरह के चौरस कोष्टक में उन्होंने रखा है।[८]

मुनि श्री पुण्यविजयजी ने नंदिसुत्त और अणुओगदाराइं के संपादन के बारे में लिखा है कि 'जब चूर्णिकार या वृत्तिकार अलग-अलग पाठभेदों को स्वीकार करके व्याख्या करते हो तब बृहद्वृत्तिकार को स्वीकृत पाठ को ही मूलसूत्रपाठ के तौर पर प्रायः हमने अपने संपादन में स्थान दिया है ।[९]

श्वेताम्बर आगमों के पाठसंपादन में इन दो बहुश्रुत मुनियोंने पाठपसंदगी के बारे में उपर्युक्त जिन सिद्धान्तों को स्वीकार किया है, उनमें से दो बातें उभर कर आती हैं ।

१. हस्तलिखित प्रतियाँ, चूर्णि और वृत्ति—इन तीनों में से जो प्राचीनतम मानी जाती है उस चूर्णि का पाठ पसंदगी के बारे में द्वितीय क्रमांक से उपयोग किया गया है । यानी कि 'प्राचीनपाठ' की ही स्थापना का लक्ष्य प्रधान नहीं है । किन्तु वृत्ति संमतपाठ को प्रथम क्रमांक से पसंद किया गया है (क्योंकि वह पठन पाठन में उपयोगी है) ।

२. प्रकरण, वाक्य या वाक्यार्थ को सुसंगत करने या परिपूर्ण करने के लिए यदि 'अत्यन्त जरूरी' लगे तो वहाँ चूर्णि का पाठ [ ] में जोड दिया है ।

इस तरह हस्तलिखित प्रतियों के आधार पर यह पाठसंपादन करने के बावजूद भी, उनमें कुछ-कुछ स्थलों पर प्रथम क्रमांक से 'वृत्ति' का तथा द्वितीय क्रमांक से 'चूर्णि' का उपयोग किया गया है । यहाँ 'चूर्णिसंमत' प्राचीनतम पाठ प्राप्त होते हुए भी, वह प्रायः पादटिप्पण में ही निर्दिष्ट है । इसी प्रकार जैनागमों की भाषा में एकरूपता नहीं है इस तथ्य से ये दोनों संपादक अवगत होने के बाद भी[१०] उसमें एकरूपता और प्राचीनता के पुनः स्थापन के प्रति उदासीन रहे ।

४. पाठपरंपरा के वंशवृक्ष से सूचित लक्ष्यांक :—

सामान्यतया, आधुनिक पाठसमीक्षाशास्त्र का यह आग्रह होता है कि हस्तलिखित प्रतियों और सहायक सामग्रीरूप (टीका, वृत्ति इत्यादि) ग्रन्थों से प्राप्त प्राचीनतम और मूलग्रन्थकार को अभिमत पाठ की प्रतिष्ठा करना तथा अन्य पाठपरंपरा में सुरक्षित पाठान्तर, प्रक्षेपादि को 'समीक्षणीय सामग्री' के तौर पर वैज्ञानिक पद्धति से पादटीप में करना, उल्लिखित जिससे भविष्य के अध्येता को उन तमाम पाठान्तरादि की जानकारी एक ही पृष्ठ पर उपलब्ध हो सके ।

जैनागमों के सन्दर्भ में तो 'मूल ग्रन्थकार का' (अर्थात् भगवान् महावीर का) स्वहस्तलेख तो कभी था ही नहीं, इस वजह से आधुनिक पाठसंपादकों का यह लक्ष्य रहना चाहिए कि वह उपलब्ध सामग्री में से प्राचीनतम पाठ को (ही) प्रतिष्ठित करें । इस सन्दर्भ में जैनागमों की पाठपरंपरा का वंशवृक्ष सोचें तो—

भगवान् महावीर को अभिमत ऐसा आगमों का पाठ (=महावीर की वाणी)

भगवान महावीर के निर्वाण के १६० वर्ष के बाद यानि कि ई० स० पूर्व ३६७ में, पाटलिपुत्र में स्थूलभद्र की बैठक में तय हुआ अर्धमागधी भाषा में उपनिबद्ध पाठ ।

एक ही समय में (ई० स० ३१३ में) मिली हुई दो बैठक

मथुरा में

|

आर्यस्कन्दिल के नेतृत्ववाली बैठक में निश्चित हुआ पाठ (संभवत: शौरसेनी में)

|

(माथुरी वाचना के आधार पर) वलभी में ई. स. ४५३ या ४६६ में देवर्धिगणि क्षमाश्रमण का लिपिबद्ध किया हुआ पाठ

|

(चूर्णि, मलधारी हेमचन्द्रसूरि, शीलांकाचार्य की वृत्तियाँ)

वलभी में

|

नागार्जुन के नेतृत्ववाली बैठक में निश्चित हुआ पाठ (जिसके कुछ अंश उनके नाम पर पाठान्तर के रूप में निर्दिष्ट हैं ।)

व्याख्या ग्रंथों की रचना का समय-

श्वेताम्बर जैनों को मान्य ऐसा जैन महाराष्ट्री में लिखा हुआ पाठ, जो आज ताडपत्रीय और हस्तलिखित प्रतियों में प्राप्त होता है ।

उपर्युक्त वंशवृक्ष के अनुसन्धान में कोई भी आधुनिक पाठसंपादक को अपनी पाठ-समीक्षा के लक्ष्य निम्नानुसार बनाने चाहिएँ -

१. देवर्धिगणि क्षमाश्रमण द्वारा संगृहीत पाठ, जो 'जैन महाराष्ट्री प्राकृत' में उपनिबद्ध था, प्रोफेसर के. आर. चन्द्राजी के अनुसार भाषाकीय दृष्टि से तुलना में अधिक अर्वाचीन कहा जा सकता है । उससे पूर्व नजर करें तो स्थूलिभद्र ने पाटलिपुत्र में 'व्यवस्थित' किया गया पाठ, जो प्राचीन अर्धमागधी में होगा, उसके स्वरूप की गवेषणा करके, प्रोफेसर के. आर. चन्द्राजी के मत से "अर्धमागधी भाषा में जैनागमों का पाठ पुन: स्थापित करना चाहिए ।" क्योंकि, पाठसमीक्षाशास्त्र प्राचीनतम पाठ की शोध का लक्ष्य लेकर प्रवर्तित किया जाता है, (और ऐसा करने में आगमों में अर्थ की दृष्टि से कुछ हानि नहीं होगी) ।

निदर्श के रूप में कहें तो, जैसा कि डॉ. के. आर. चन्द्राजी ने ध्यान आकृष्ट किया है, आधुनिक संपादकों में से एक शुब्रिंग ने आगमों के पाठ में मध्यवर्ती अल्पप्राण व्यंजनों का लोप और महाप्राणों का ह कार कर दिया है । (जो अर्वाचीन प्राकृत का लक्षण है ।) तथा दूसरे मुनि श्री जम्बूविजयजी ने प्रारंभिक और मध्यवर्ती न कार के स्थान में सर्वत्र ण कार कर

दिया है, जो वास्तव में परवर्तीकाल की प्राकृत भाषा का लक्षण है ।[१२]

केवल ऐतिहातिक तथ्य पर आधारित, डॉ. के. आर. चन्द्राजी की प्रस्तुति को यदि ध्यान में नहीं लिया गया तो कोई भी व्यक्ति जैनागमों को भाषाकीय दृष्टि से इस्वीसन् । के बाद की आधुनिक रचना मानने की भूल कर लेगा । यह स्थिति स्वाभाविकरूप से ही भयावह है । और प्रस्तुत लेख के अत्यल्पज्ञ लेखक को ऐसा प्रतीत होता है कि–

'सहायक सामग्री' के रूप में 'चूर्णि' में से प्राप्त पाठ यदि उपलब्ध हस्तलिखित प्रतियों और शीलाचार्यादि की 'संस्कृत वृत्ति' से भी प्राचीन हो तो उसकी मूलपाठ के रूप में प्रतिष्ठा करनी चाहिए और वह पाठ दुर्बोध हो तो उसके अर्थघटन के लिए यत्न करना चाहिए । क्योंकि पाठसमीक्षा का एक अधिनियम यह है कि 'कठिन पाठ को प्रथम पसंद करो ।' (Prefer the harder reading) पाठपरंपरा के उपरि निर्दिष्ट वंशवृक्ष को सूक्ष्म तर्क से जाँचें तो १. 'माथुरी वाचना' जिसका पाठ देवर्धिगणि की वाचना में प्रतिबिंबित हुआ है, वह और २. नागार्जुनीय वाचना, जिसके कुछ पाठान्तरों को (ही) नोट किया गया है, इन दोनों का तुलनात्मक अध्ययन करके, पाटलिपुत्र की प्रथम बैठक के प्राचीनतम पाठ का 'अनु-सन्धान' करना चाहिए । क्योंकि उक्त वंशवृक्ष की दृष्टि से नागार्जुनीय पाठपरंपरा सीधे ही पाटलिपुत्र की पाठ-परंपरा का प्रतिनिधित्व करती है, (और वह भी वलभी में से ही प्राप्त हुई थी ।) इसलिए वह आंशिकरूप से सुरक्षित पाठ का मूल्य प्राचीनता और मौलिकता के कारण असाधारण है । अद्यावधि इस दिशा में किसी संशोधक ने प्रयास न किया हो तो वह भी करने जैसा है । इति दिक् ॥

प्राचीन भाषाकीय स्वरूप का पुनः स्थापन :

प्रोफेसर के. आर. चन्द्राजी ने 'आचारांगसूत्र' के पाठसंपादन में मुनिश्री जम्बूविजयजी के द्वारा उपयुक्त हस्तप्रतियों में सुरक्षित विविध पाठान्तरों, और सूत्रकृतांग, इसिभासियाईं, उत्तराध्ययन, दशवैकालिकादि प्राचीनतम ग्रन्थों में से प्राचीन अर्धमागधी भाषा की लाक्षणिकताओं को दिखाने का सफल और प्रशंसनीय प्रयास किया है । उन्होंने बताया है कि उनके निष्कर्ष पूर्वभारत के अशोककालीन शिलालेखों में प्राप्त भाषा के स्वरूप से समर्थित भी होते हैं ।[१३]

उनके मत से १. शब्द के मध्यवर्ती व्यंजनों क, त, द, का लोप न होकर वे व्यंजन यथावत रहते हों । २. अघोषव्यंजन, जैसे कि क, त, थ का घोषीकरण होकर अनुक्रम से ग, द और ध में परिवर्तन होता है । ३. संयुक्ताक्षर 'ज्ञ' का 'न्न' में परिवर्तन होता हो वैसे (क्षेत्रज्ञ वगैरह) शब्दों और ४. सप्तमी विभक्ति एकवचन का स्सि प्रत्यय जिसमें दिखाई देता हो वैसे शब्द (पाठान्तर) जो एक ओर आचारांगादि की किसी न किसी हस्तप्रत में प्राप्त हो, और दूसरी ओर वह ई० स० पूर्व ३०० के पूर्वभारतीय अशोककालीन शिलालेखों की भाषा के रूपों से समर्थित भी हो रहे हों । वैसे पाठान्तरों को ही प्राचीनतम अर्धमागधी का पाठ गिनकर समीक्षित आवृत्ति में स्थान देना चाहिए ।[१४]

इस तरह से, जैनागमों की वाचना में प्राचीन अर्धमागधी के भाषास्वरूप की पुनः स्थापना

का प्रश्न जब उपस्थित हुआ है, तब वह विचारतंतु को तार्किक दृष्टि से विस्तृत करने का मन हो यह भी स्वाभाविक है । इसलिए एक सलाह ऐसा भी देता हूँ कि जिन संस्कृत शब्दों के तद्भव शब्द प्राकृत में भिन्न भिन्न समय में भिन्न-भिन्न स्वरूप में उपयोग में लिए गए हैं, उनमें से ध्वनिशास्त्र की दृष्टि से जो प्राचीन और प्रथम तद्भवरूप का विशेष आदर करना, और जो रूप निश्चितरूप से उत्तरवर्ती 'काल का तद्भवरूप हो उसका अस्वीकार करना चाहिए । उदाहरण के तौर पर संस्कृत दक्षिण शब्द लें । उसके दक्खिण, दाखिण और दाहिणो ऐसे विभिन्न प्राकृतरूप उपलब्ध होते हैं । तो इन तीनों वैकल्पिक रूपों में से कालानुक्रम की दृष्टि से जो ध्वनिशास्त्रीय दृष्टि से प्रथम रूपान्तर हो (यानि कि दक्खिण) उसीका पाठपसंदगी में आदर करना चाहिए ।

जैनागमों के वर्तमान में प्राप्त पाठांतर अधिकतर ध्वनिशास्त्रीय दृष्टि से प्राकृत भाषा के ऐसे वैकल्पिक रूप हैं । अतः उनकी पसंदगी में भी कालानुक्रम की दृष्टि से जो प्रथम परिवर्तन हो उसका विशेष आदर करना ही युक्तिसंगत है ।

इस सन्दर्भ में और भी एक स्पष्टता करना आवश्यक है कि उपलब्ध जैनागमों में ऐसे वैकल्पिक रूपों में से जो उत्तरवर्तीकाल में विकसितरूप (उदा. के तौर पर दाहिण) हो उसे सांख्यिक दृष्टि से अधिक बार प्रयुक्त हुआ हो और पूर्वकालिक रूपांतर (उदा. दक्खिण) एक ही बार प्रयुक्त हुआ हो तो भी उस पूर्वकालिक रूप का ही स्वीकार करना चाहिए क्योंकि पाठसमीक्षा का यह सिद्धान्त है कि "हस्तप्रतियों की संख्या को नहीं किन्तु आंतरिक और अनुलेखनीय संभावना को ध्यान में लें ॥"

□ □ □

याकोबी के आचारांग और अन्य आचारांग के संस्करणों की पिशल के व्याकरण के साथ भाषाकीय तुलनात्मक अध्ययन

शोभना आर. शाह

पिशल महोदय ने याकोबी के आचारांग के संस्करण का तथा उनके द्वारा दी गई अर्धमागधी व्याकरण की दोनों की सहायता लेने का उल्लेख अपने तुलनात्मक प्राकृत व्याकरण में किया है । फिरभी याकोबी के पाठों में जो प्रयोग पालि के समान (अर्थात् मध्यवर्ती व्यंजनों में किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं होता) मिलते हैं, उनका अपने प्राकृत व्याकरण में अर्धमागधी प्राकृत के अन्तर्गत उल्लेख ही नहीं किया है, परन्तु ऐसे प्रयोगों का जो महाराष्ट्री प्राकृत से प्रभावित हो गए थे, उनका ही उल्लेख किया है । इस शैली से अर्धमागधी प्राकृत की मौलिकता को बड़ी ही हानि हुई है और अर्धमागधी आगम ग्रंथों के पाश्चात्य संपादकों ने पाठों के चुनाव में गलती कर दी । अर्थात् मूल अर्धमागधी प्रयोगों के बदले में महाराष्ट्री प्राकृत से प्रभावित प्रयोगों को उन्होंने जैन आगमों के अपने संस्करणों में प्राथमिकता देकर मूल अर्धमागधी भाषा के विषय में एक भ्रान्त धारणा उपस्थित कर दी । जैसाकि जैन आगमों के गहन अध्येता आगमप्रभाकर मुनिश्री पुण्यविजयजी के मन्तव्य से (देखिए, उनके द्वारा सम्पादित कल्पसूत्र की प्रस्तावना) भी यही प्रमाणित हो रहा है । अतः अर्धमागधी प्राकृतभाषा (जो सबसे प्राचीन प्राकृतभाषा है) ध्वनिपरिवर्तन सम्बन्धी व्याकरण संशोधित करके पुनः लिखा जाना चाहिए, क्योंकि कइ विद्वानों की दृष्टि में अर्धमागधी भाषा को पालि भाषा के समान होना बताया गया है । इसी सम्बन्ध में हम याकोबी के आचारांग के संस्करण और अन्य संस्करणों तथा पिशल के प्राकृत के तुलनात्मक व्याकरण से कुछ शब्द-प्रयोगों के उदाहरण प्रस्तुत कर रहे हैं । इससे हमारा मन्तव्य स्पष्ट हो जायेगा ।

यहाँ पर मात्र मध्यवर्ती त, द, ध व्यंजनों के ही उदाहरण दिये गए हैं, परंतु अन्य व्यंजनों के इसी तरह के उदाहरण प्रस्तुत किये जा सकते हैं ।

मध्यवर्ती-त

याकोबी[1]	**सूत्र नं.**	**शुब्रिंग**[2]	**मजैवि**[3]	**पिशल**[4]	**पेरा नं.**
अच्चेति	२.१.३	अच्चेइ	अच्चेति	अच्चेइ	१६३, ४९३
अन्नतरीओ	१.१.२,४	अन्नयरीओ	अन्नतरीतो	अन्नयरीओ	४३३

आतुरा	१.२.१	आउरा	आतुरा	आउरं	५९३
आगतो	१.१.१	आगओ	आगतो	आगओ	३७५
अणुदिसाओ	१.१.१	अणुदिसाओ	अणुदिसातो	दिसाओ, अणुदिसाओ	३७५, ४१३
—एते	१.१.७, २.६,६,६ ७.५, २.६, ६; २.१.५, २.३, ४.२.१, ५.२.४	एए	—एते	एए	१७४
अणुसंचरइ	१.१.४	अणुसंचरइ	अणुसंचरति	अणुसंचरइ	१६९
इच्चेतावंति	५.६.४	इच्चेयावन्ति	इच्चेतावंति	इच्चेयावन्ति	१७४
एयावंति	१.१.७	एयावन्ती	एतावंति	एयावन्ति	३५७, ३९६
उवरते	५.५.१	उवरए	उवरए, उवरते	-उवरए	१७२
किट्टति	५.४.३.	किट्टइ	किट्टति	किट्टइ	२८९
कंदति	२.५.५	कन्दइ	कंदति	कन्दइ	५९३
करेति	२.५.६	करेइ	करेइ	करेइ	५०९
कत्थति	२.६.५,५,५,५	कत्थइ	कत्थति	कत्थइ	५४३
खेतन्ने	७.३.२	खेयन्ने	खेतण्णे	खेयन्न	२७६
गाहावतिं	७.२.२	गाहावइं	गाहावतिं	गाहावइ	३९६
जीवितुं	१.७.१	जीविउं	जीविउं	जीवीउं	५७६
जाणति	१.१.१; २.५.४; ३.४.१, ५.६.२	जाणइ	जाणति	जाणइ	५१०
जग्गावती	८.२.५	जग्गावइ	जग्गावतीय	जग्गावइ	५५६
पकुव्वति	६.१.४	पकुव्वइ	पकुव्वति	पकुव्वइ, कुव्वति	५०८
परिवुसिते	६.२.३; ७.१.४, ५.१, ६.१, ७.१	परिवुसिए	परिवुसिते	परिवुसिय	३३७
पग्गहिततरं	७.८.११	पग्गहीयतरं	पग्गहिततरगं	पग्गहियतर	४९४

पाणजाति	४.१.२	पाणजाइ	पाणजाती	पाणजाइ	३६४
भवति	१.१.१, २,४; २.४, २.३, ५,५; ४.२.२, ५.१.१,१, २, २.४, ३.१, ४.१, ५.३, ६.३; २, ४.१,३, ५.४; ७.६.१,१,१, २,३,७.७.१,१, २,२,५; ७.१.३, ३,४.१,१,२, ५.१,१,१	भवइ	भवति	भवइ	२०३
परितावेंति	१.२.१	परियावेन्ति	परितावेंति	परियावेन्ति	४९०
पवुच्चति	१.५.१,१,६.१; २.२.१, ६.४; ४.१.२	पवुच्चइ	पवुच्चति	पवुच्चइ	५४४
पवेदितं	२.३.६,५.३; ४.२.१; ५.२.२ ३.२.४.४,५.२; ६.१.३,३.२; ७.१.३,२.४,५, ४.१,५.१,६.१,२, ७.१	पवेइयं	पवेदितं	पवेइयं	३४९
पिड्डुति	२.५.४	पिट्टइ	पिड्डुति	पिड्डुइ	५४३
पासति	२.५.५; ५.१.१ ६.२	पासइ	पासति	पासइ	६३, ५६१
पमुच्चति	३.१.३,२.१, ३.५	पमुच्चइ	पमुच्चति	पमुच्चइ	५४२
परिकहिज्जति	४.१.३,३	परिकहिज्जइ	परिकहिज्जइ	परिकहिज्जइ	५४३
परिविचिट्ठति	४.२.२,२	चिट्ठइ	परिविचिट्ठति	परिविचिट्ठइ	४८३
परिन्नाते	५.१.१,१	परिन्नाय	परिण्णात	परिन्नाय	५९१

पगब्भति	५.३.३	पगब्भई	पगब्भति	पगब्भइ	२९६
नातं	१.१.२,४	नायं	णातं	नायं	३४९
नाभिजाणति	२.४.३	नाभिजाणइ	णाभिजाणति	नाभिजाणइ	१७०
ना'तिवत्तती	८.१.६	नाइवत्तई	णाइवत्तती	नाइवत्तइ	१७०
दुरतिक्कमा	२.५.४	दुरइक्कमा	दुरतिक्कमा	दुरइक्कम	३४१
धूता	२.१.१	धूया, धूयाणं	धूता, धूताणं	धूया, धूयाणं	३९२
तम्हातिविज्जो	३.२.१;४.३.३	तम्हा'इविज्जो	तम्हाऽतिविज्जो	तम्हाइविज्जो	१७२
भगवता	१.१.७; २.३.५; ६.३.२, ७.१.३, ४.१,५.१,६.१,२, ७.१, ८.१.२२, २.१६, ३.१४,४.१७	भगवया	भगवता	भगवया	३९६, ५१९
भिज्जति	३.३.२	भिज्जइ	भिज्जति	भिज्जइ	५४६
भगवतो	६.३.३	भगवओ	भगवतो	भगवओ	३९८
भूताइं	६.५.४; ७.२.१	भूयाइं	भूताइं	भूयाइं	३६७
मुच्छति	१.५.३	मुच्छइ	मुच्छति	मुच्छइ	५६१
मतिमया	७.१.४; २.५	मइमया	मतिमया	मइमया	३९६
मन्नति	३.२.१	मन्नइ	मण्णति	मण्णइ	४८९
महता	५.४.१	महया	महता	महया	३९६
मातरं	६.४.३	मायरं	मातरं	मायरं	३९२
रातो	८.२.११	राओ	रातो	राओ	३८६
विहिंसति	१.५.४,६.३	विहिंसइ	विहिंसति	विहिंसइ	५०७
विगिंचति	३.४.३,३	विगिञ्चइ	विगिंचइ	विगिञ्चइ	५६१
विजाणति	५.५.५	विजाणइ	विजाणति	जाणइ	५१०
सोणीतं	७.८.९	सोणीयं	सोणियं	सोणियं	७३
सहेति	१.१.६	सहेइ	सहेति	सहइ	७३

समारंभावेति	१.३.५	समारम्भावेइ	समारभावेति	समारम्भावेइ	५५२
समणुजाणंति	१.३.५	समणुजाणइ	समणुजाणति	समणुजाणइ	५१०
सुणेति	१.५.२	सुणइ	सुणेति	सुनेइ	५६१
सीतोसिण–	३.१.२	सीओसिण–	सीतोसिण–	सीयोसिण	१३३
समिता	४.४.४	समिया	समिता	समियं	७५
हम्मति	३.३.२	हम्मइ	हम्मति	हम्मइ	५४०
हितं	७.८.२५	हियं	हितं	हियं	४१३
सिया	१.२.२	सिया	सिता	सिया	९४, १३४, १४१, ४१७, ४६४ ४६५, ४९८,

मध्यवर्ती–द

याकोबी[1]	सूत्र नं.	शुब्रिंग[2]	मडोवि[3]	पिशल[4]	पे रा नं.
आदाय	२.३.६	आयाय	आदाय	आयाए, समायाए	५९३
इदाणि	६.२.१	इयाणिं	इदाणिं	इयाणि	१४४
उदाहु	२.४.४; ५.२.३,३	उयाहु	उदाहु	उयाहु	८५
धम्मविदु	३.१.२; ४.३.,१	धम्मविउ	धम्मविदु	–धम्मविऊ	४११
पवयमाणा	१.६.३	पवयमाणे	पवदमाणा	पवदेमाण	२१८
पवेदितं	२.३.६, ५.३; ४.१; ४.२.१; ५.२.२,३.२,४.४, ५.२; ६.१.३,३. २,७.१३, २.४.५,४.१, ५.१,६.१.२, ७.१	पवेइयं	पवेदितं	पवेइयं	३४९
पवेइया	१.६.४	पवेइया	पवेदिता	पवेइयं	३४९
पडिसंवेदयति	४.२.२	पडिसंवेएइ	पडिसंवेदयंति	पडिसंवेययन्ति	४९०.

वेदवी	४.४.३; ५.६.२; ६.५.२	वेयवी	वेदवी	वेयवी	४१३
हरदे	५.५.१	हरए	हरदे	हरए	३६६

मध्यवर्ती-ध

याकोबी[१]	सूत्र नं.	शुब्रिंग[२]	मडोवि[३]	पिशल[४]	पे रा नं.
अहेदिसाओ	१.१.२	अधेदिसातो	अधेदिसातो	अहेदिसाओ	३४५, ४१३
अधं	१.५.२,३	अहं	अहं	अहं	३४५

पादटीप :

१. યાકોબીના આચારાંગના સૂત્ર નં. લેવામાં આવ્યા છે.

२. Ācārańga–Sūtra, Erster Srutaskandha, Text, Analyse and Glossar Walther Schubring. Leip-zig : Brockhaus, 1910.

३. आयारंगसुत्तं, प्रथम श्रुतस्कंध, मुनि जम्बूविजयः, श्री महावीर जैन विद्यालय, ई० स० १९७७ ।

४. R. Pischel, A Grammar of the Prākrit Languages, Subhadra Jhā, M.L.B.D. Publishers Private Limited, Delhi, 1999.

□ □ □

निर्युक्ति की संख्या एवं उसकी प्राचीनता

समणी कुसुमप्रज्ञा

जैन आगमों के व्याख्या ग्रंथ मुख्यत: चार प्रकार के हैं—निर्युक्ति, भाष्य, चूर्णि और टीका। निर्युक्ति प्राचीनतम पद्यबद्ध व्याख्या है। आचार्य भद्रबाहु ने आवश्यकनिर्युक्ति (गा० ८८) में निर्युक्ति का निरुक्त इस प्रकार किया है—'**निज्जुत्ता ते अत्था जं बद्धा तेण होइ निज्जुत्ती**' जिसके द्वारा सूत्र के साथ अर्थ का निर्णय होता है, वह निर्युक्ति है। निश्चय रूप से सम्यग् अर्थ का निर्णय करना तथा सूत्र में ही परस्पर संबद्ध अर्थ को प्रकट करना निर्युक्ति का उद्देश्य है।[१] आचार्य हरिभद्र के अनुसार क्रिया, कारक, भेद और पर्यायवाची शब्दों द्वारा शब्द की व्याख्या करना या अर्थ प्रकट करना निरुक्ति / निर्युक्ति है।[२] एक प्रश्न सहज उपस्थित होता है कि जब प्रत्येक सूत्र के साथ अर्थागम संबद्ध है तब फिर अलग से निर्युक्ति लिखने की आवश्यकता क्यों पड़ी ? इस प्रश्न के उत्तर में निर्युक्तिकार स्वयं कहते हैं '**तह वि य इच्छावेइ विभासिउं सुत्तपरिवाडी**' (आवनि ८८) सूत्र में अर्थ निर्युक्त होने पर भी सूत्रपद्धति की विविध प्रकार से व्याख्या करके शिष्यों को समझाने के लिए निर्युक्ति की रचना की जा रही है। इसी गाथा की व्याख्या करते हुए विशेषावश्यक भाष्यकार कहते हैं कि श्रुतपरिपाटी में ही अर्थ निबद्ध है अत: अर्थाभिव्यक्ति की इच्छा नहीं रखने वाले निर्युक्तिकर्त्ता आचार्य को श्रोताओं पर अनुग्रह करने के लिए वह श्रुतपरिपाटी ही अर्थ-प्राकट्य की ओर प्रेरित करती है।[३] उदाहरण देते हुए भाष्यकार कहते हैं कि जैसे मंख—चित्रकार अपने फलक पर चित्रित चित्रकथा को कहता है तथा शलाका अथवा अंगुलि के साधन से उसकी व्याख्या करता है, उसी प्रकार प्रत्येक अर्थ का सरलता से बोध कराने के लिए सूत्रबद्ध अर्थों को निर्युक्तिकार निर्युक्ति के माध्यम से अभिव्यक्त करते हैं।[४] जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण ने '**इच्छावेइ**' शब्द का दूसरा अर्थ यह किया है कि मंदबुद्धि शिष्य ही सूत्र का सम्यग् अर्थ नहीं समझने के कारण गुरु को प्रेरित कर सूत्रव्याख्या करने की इच्छा उत्पन्न करवाता है।[५] आचार्य हरिभद्र ने भी यही व्याख्या की है। (आवहाटी १ पृ० ४५) निष्कर्षत: कहा जा सकता है कि निर्युक्ति जैन आगमों के पारिभाषिक शब्दों की व्याख्या प्रस्तुत करने एवं अर्थ-निर्धारण करने का महत्त्वपूर्ण उपक्रम हैं।

आवश्यकनिर्युक्ति में आचार्य भद्रबाहु ने १० निर्युक्तियाँ लिखने की प्रतिज्ञा की है।[६] उनका क्रम इस प्रकार है :— १. आवश्यक, २. दशवैकालिक, ३. उत्तराध्ययन, ४. आचारांग, ५.

सूत्रकृतांग, ६. दशाश्रुतस्कंध, ७. बृहत्कल्प, ८. व्यवहार, ९. सूर्यप्रज्ञप्ति, १०. ऋषिभाषित। हरिभद्र ने '**इसिभासियाणं च**' शब्द की व्याख्या में देवेन्द्रस्तव आदि की निर्युक्ति का भी उल्लेख किया है।[७] वर्तमान में इन दस निर्युक्तियों में केवल आठ निर्युक्तियाँ ही प्राप्त हैं। ऐसा संभव लगता है कि भद्रबाहु ने आवश्यकनिर्युक्ति में दस निर्युक्तियाँ लिखने की प्रतिज्ञा की लेकिन वे आठ निर्युक्तियों की रचना ही कर सके। दूसरा संभावित विकल्प यह भी स्पष्ट है कि अन्य आगम साहित्य की भांति कुछ निर्युक्तियाँ भी काल के अंतराल में लुप्त हो गयीं। इसके अतिरिक्त पिंडनिर्युक्ति, ओघनिर्युक्ति, पंचकल्पनिर्युक्ति और निशीथनिर्युक्ति आदि का भी स्वतंत्र अस्तित्व मिलता है। डा० घाटगे के अनुसार ये क्रमशः दशवैकालिकनिर्युक्ति, आवश्यकनिर्युक्ति, बृहत्कल्पनिर्युक्ति और आचारांगनिर्युक्ति की पूरक निर्युक्तियाँ हैं। इस संदर्भ में विचारणीय प्रश्न यह है कि ओघनिर्युक्ति, पिंडनिर्युक्ति और निशीथनिर्युक्ति जैसी स्वतंत्र एवं बृहत्काय रचना को आवश्यकनिर्युक्ति, दशवैकालिकनिर्युक्ति और आचारांगनिर्युक्ति का पूरक कैसे माना जा सकता है ? इस विषय में कुछ बिंदुओ पर विचार करना आवश्यक लगता है।

१. यद्यपि आचार्य मलयगिरि पिंडनिर्युक्ति को दशवैकालिकनिर्युक्ति का अंग मानते हुए कहते हैं कि दशवैकालिकनिर्युक्ति की रचना चतुर्दश पूर्वधर आचार्य भद्रबाहु ने की। दशवैकालिक के पिंडैषणा नामक पाँचवें अध्ययन पर बहुत विस्तृत निर्युक्ति की रचना हो जाने के कारण इसको अलग स्वतंत्र शास्त्र के रूप में पिंडनिर्युक्ति नाम दे दिया गया। इसका हेतु बताते हुए आचार्य मलयगिरि कहते हैं कि इसीलिए पिंडनिर्युक्ति के आदि में मंगलाचरण नहीं किया गया क्योंकि दशवैकालिक के प्रारम्भ में मंगलाचरण कर दिया गया था। (पिनिटी ५.१) लेकिन इस संदर्भ में स्पष्ट रूप से कहा जा सकता है कि मंगलाचरण की परम्परा बहुत बाद की है। छेदसूत्र और मूलसूत्रों का प्रारम्भ भी नमस्कारपूर्वक नहीं हुआ है। मंगलाचरण की परम्परा विक्रम की तीसरी शताब्दी के बाद की है। दूसरी बात मलयगिरि की टीका के अतिरिक्त ऐसा उल्लेख कहीं नहीं मिलता अतः स्पष्ट है कि केवल इस एक उल्लेख मात्र से पिंडनिर्युक्ति को दशवैकालिकनिर्युक्ति का पूरक नहीं माना जा सकता है। दूसरी बात दशवैकालिक निर्युक्ति के मंगलाचरण की गाथा केवल हारिभद्रीय टीका में मिलती है। स्थविर अगस्त्यसिंह तथा जिनदास महत्तरकृत दशवैकालिक की चूर्णियों में इस गाथा का कोई संकेत नहीं हैं। इससे भी स्पष्ट है कि मंगलाचरण की गाथा बाद में जोडी गयी है। ऐसा अधिक संभव लगता है कि विषय-साम्य की दृष्टि से पिंडनिर्युक्ति को दशवैकालिकनिर्युक्ति का पूरक मान लिया गया।

२. दशवैकालिकनिर्युक्ति में द्रव्यैषणा के प्रसंग में कहा गया है कि यहाँ पिंडनिर्युक्ति कहनी चाहिए।[८] इस उद्धरण से स्पष्ट है कि भद्रबाहु ने पिंडनिर्युक्ति की रचना दशवैकालिकनिर्युक्ति से पूर्व कर दी थी।

३. पिंडनिर्युक्ति आचार्य भद्रबाहु कृत है इसका एक प्रमाण यह है कि निभा (४३९२) पिंडनिर्युक्ति की गाथा है। चूर्णिकार ने इस गाथा के लिए '**एसा भद्दबाहुकया निज्जुत्तिगाहा**' का उल्लेख किया है।

४. दशवैकालिकनिर्युक्ति में निर्युक्तिकार ने लगभग अध्ययन के नामगत शब्दों की व्याख्या अधिक की है । अन्य अध्ययनों की भाँति पाँचवें अध्ययन में भी 'पिंड' और 'एषणा' इन दो शब्दों की व्याख्या की है । यदि पिंडनिर्युक्ति दशवैकालिकनिर्युक्ति की पूरक है तो अलग से निर्युक्तिकार यहाँ गाथाएँ नहीं लिखते तथा पिंड शब्द के निक्षेप भी पिंडनिर्युक्ति में पुनरुक्त नहीं करते ।

५. ओघनिर्युक्ति और पिंडनिर्युक्ति को कुछ जैन सम्प्रदाय ४५ आगमों के अंतर्गत मानते हैं अत: इस बात से स्पष्ट होता है कि आचार्य भद्रबाहु द्वारा इसकी स्वतंत्र रचना की गयी होगी । ओघनिर्युक्ति की द्रोणाचार्य की टीका में भी उल्लेख मिलता है कि साधुओं के हित के लिए चतुर्दश पूर्वधर भद्रबाहु ने नवम पूर्व की तृतीय आचार-वस्तु से इसका निर्यूहण किया ।[१]

६. ओघनिर्युक्ति को आवश्यकनिर्युक्ति का पूरक नहीं कहा जा सकता क्योंकि आवश्यकनिर्युक्ति की अस्वाध्याय निर्युक्ति का पूरा प्रकरण ओघनिर्युक्ति में है । यदि यह आवश्यकनिर्युक्ति का पूरक ग्रंथ होता तो इतनी गाथाओं की पुनरुक्ति नहीं होती ।

७. निशीथ आचारांग की पंचम चूला के रूप में प्रसिद्ध है किन्तु आज इसका स्वतंत्र अस्तित्व मिलता है । आचारांगनिर्युक्ति की अंतिम गाथा में निर्युक्तिकार स्पष्ट उल्लेख करते हैं कि पंचमलूचा निशीथ की निर्युक्ति मैं आगे कहूँगा । निशीथ चूर्णिकार ने भी अपनी मंगलाचरण की गाथा में कहा है **'भणिया विमुत्ति चूला अहुणावसरो निसीहचूलाए'** उनके इस कथन से इस ग्रंथ का पृथक् अस्तित्व स्वत: सिद्ध है अन्यथा वे ऐसा उल्लेख न कर आचारांगनिर्युक्ति के साथ ही इसकी रचना कर देते ।

८. इस संदर्भ में एक संभावना यह भी की जा सकती है कि आचारांग की चार चूलाओं की निर्युक्ति तो अत्यंत संक्षिप्त शैली में है किन्तु निशीथनिर्युक्ति अत्यंत विस्तृत है । इसकी रचना शैली भी अन्य निर्युक्तियों से भिन्न है अत: बहुत संभव है कि भद्रबाहु द्वितीय ने इसे विस्तार देकर इसका स्वतंत्र महत्त्व स्थापित कर दिया हो । आचार्य भद्रबाहु जहाँ दस निर्युक्तियाँ लिखने की प्रतिज्ञा करते हैं, वहाँ निशीथ का नामोल्लेख नहीं है । यह चिंतन का प्रारम्भिक बिन्दु है । अभी इस बारे में और अधिक गहन चिंतन की आवश्यकता है ।

९. पंचकल्पनिर्युक्ति को भी बृहत्कल्पनिर्युक्ति की पूरक निर्युक्ति नहीं माना जा सकता है । ऐसा अधिक संभव लगता है कि आचार्य भद्रबाहु ने **'कप्प'** शब्द से पंचकल्प और बृहत्कल्प इन दोनों निर्युक्तियों का समावेश कर दिया हो ।

निर्युक्ति की प्राचीनता

किसी भी ग्रंथ के रचनाकाल का निर्धारण अपना विशिष्ट महत्त्व रखता है । रचनाकाल के निर्धारण में लेखक के जीवन का गहरा संबंध रहता है । रचनाकार का समय निर्धारित होने के बाद उसकी कृति का रचना-काल निर्धारित करना कठिन नहीं होता । भद्रबाहु नाम के दो आचार्य विशेष रूप से प्रसिद्ध हैं । दोनों ने ही साहित्य-सृजन के क्षेत्र में कार्य किया इसलिए

प्रामाणिक स्रोत के बिना आज यह निश्चय कर पाना अत्यन्त कठिन है कि मूल निर्युक्तिकार कौन हुए ? व्याख्या-साहित्य में अनेक ऐसे प्रमाण मिलते हैं, जो भद्रबाहु प्रथम को निर्युक्तिकार सिद्ध करते हैं। पाश्चात्य विद्वान् विंटरनित्स और हीरालाल कापडिया[१०] भद्रबाहु प्रथम को निर्युक्तिकार के रूप में स्वीकार करते हैं। निर्युक्ति की विषय-वस्तु एवं ऐतिहासिक घटना प्रसंगों के आधार पर कुछ विद्वानों का मंतव्य है कि निर्युक्तियों के रचनाकार भद्रबाहु द्वितीय होने चाहिए। उनका मानना है कि भद्रबाहु द्वितीय से पूर्व निर्युक्तियों का कोई व्यवस्थित रूप नहीं था। प्रकीर्णक रूप से गुरु अपने शिष्य को मूल सूत्र का ज्ञान कराने के लिए पद्यबद्ध व्याख्या कर देते लेकिन भद्रबाहु द्वितीय ने उन्हें व्यवस्थित करके ग्रंथ का आकार दिया। इस संदर्भ में पंडित दलसुखभाई मालवणिया का मंतव्य भी पठनीय है।[११] हमारे अभिमत से मूल निर्युक्तिकार भद्रबाहु प्रथम थे। भद्रबाहु द्वितीय ने उसको विस्तार या व्यवस्थित रूप प्रदान किया। इस अभिमत की पुष्टि में नीचे कुछ हेतु प्रस्तुत किए जा रहे हैं –

१. मूलाचार में आवश्यकनिर्युक्ति की अनेक गाथाएँ पायी जाती हैं। आचार्य वट्टकेर ने स्पष्ट रूप से आवश्यकनिर्युक्ति का उल्लेख किया है–

आवस्सयनिज्जुत्ती, वोच्छामि जहाकमं समासेणं।
आयरियपरंपराए, जहागदा आणुपुव्वीए ॥ (मूला. ५०३)

उक्त उल्लेख से स्पष्ट है कि आचार्य परम्परा से उन्हें जो आवश्यकनिर्युक्ति प्राप्त हुई है, उसका उल्लेख उन्होंने मूलाचार में किया है। मूलाचार में स्पष्ट कहा है कि निर्युक्ति की निर्युक्ति (अर्थात् आवश्यक निर्युक्ति की संक्षिप्त निर्युक्ति) मेरे द्वारा कही गयी है। विस्तार से जानने के लिए अनियोग (अर्थात् अनुयोग) से जानना चाहिए।[१२] यहाँ अनियोग शब्द आवश्यकनिर्युक्ति के लिए प्रयुक्त हुआ है, ऐसा प्रतीत होता है क्योंकि आवश्यकनिर्युक्ति में अनुयोग के द्वारा ही हर विषय की व्याख्या हुई है।

मूलाचार में निर्युक्ति साहित्य एवं प्रकीर्णक की अनेक गाथाएँ शब्दशः मिलती हैं। केवल शौरसेनी भाषा का प्रभाव उन गाथाओं में स्पष्ट दिखाई देता है। पंडित सुखलालजी संघवी ने मूलाचार को संग्रह ग्रंथ माना है।[१३] नरोत्तमदास ने इसे संपादित ग्रंथ माना है, जिसका काल तीसरी शताब्दी के लगभग स्वीकार किया है।[१४] मुनि दर्शनविजयजी ने मूलाचार को श्वेताम्बर जैन ग्रंथों से उद्धृत माना है।[१५] इन अभिमतों से स्पष्ट है कि भद्रबाहु प्रथम द्वारा रचित आवश्यकनिर्युक्ति से आचार्य वट्टकेर ने सामायिकनिर्युक्ति की गाथाएँ ली हैं। इसके अतिरिक्त महावीर के बाद आचार्य भद्रबाहु ऐसे आचार्य हुए जिन्हें दोनों परम्पराएँ समान रूप से महत्त्व देती हैं अतः यह तो संभव लगता है कि भद्रबाहु प्रथम की गाथाओं को वट्टकेर ने अपनी रचना में स्थान दिया हो पर वट्टकेर की रचना को भद्रबाहु द्वितीय ने लिया हो, यह बात तर्क-संगत नहीं लगती क्योंकि उस समय तक संघभेद स्पष्ट रूप से हो गया था अतः आदान-प्रदान की स्थिति संभव नहीं थी।[१६]

२. निर्युक्तियाँ आगमों की प्रथम व्याख्या है। निर्युक्तियों के बाद भाष्य, चूर्णि, टीका आदि

लिखे गये । अत: निर्युक्ति और अन्य व्याख्या साहित्य के बीच में समय का पर्याप्त अंतराल होना चाहिए । क्योंकि उस समय आज की भाँति प्रकाशन एवं प्रचार-प्रसार की सुविधा नहीं थी । मौखिक परम्परा या हस्तप्रतियों के आधार पर किसी भी ग्रंथ का ज्ञान किया या कराया जाता था । ऐसी स्थिति में हस्तलिखित किसी भी ग्रंथ को प्रसिद्ध होने में कम से कम एक शताब्दी का समय लग ही जाता है । भाष्य का रचनाकाल चौथी-पाँचवीं शताब्दी माना जाता था ।[१७] जब भाष्य का रचनाकाल विक्रम की चौथी शताब्दी का है फिर निर्युक्तियों का काल छठी शताब्दी कैसे हो सकता है क्योंकि निर्युक्तियाँ भाष्य से पूर्व की रचना है । अत: कहा जा सकता है कि निर्युक्ति का समय वीर-निर्वाण की दूसरी शताब्दी, भाष्य का समय विक्रम की चौथी-पाँचवीं, चूर्णि का सातवीं तथा टीका का आठवीं से तेरहवीं शताब्दी का समय युक्तिसंगत प्रतीत होता है । आचार्य सिद्धसेन क्षमाश्रमण का समय पाँचवीं शताब्दी के आसपास माना जाता है । जब कि भद्रबाहु द्वितीय का समय छठी शताब्दी है ।

३. निशीथ चूर्णि[१८] में निर्दिष्ट **'जे भणिया भद्दबाहुकयाए गाहाए सच्छंदगमणाइया तिण्णि पगारा ते चेव सिद्धसेणखमासमणेहिं फुडतरा करेंतेहिं इमे भणिता'** उल्लेख से स्पष्ट है कि भद्रबाहु कृत गाथा पर सिद्धसेन क्षमाश्रमण व्याख्या कर रहे हैं । यदि भद्रबाहु द्वितीय को मूल निर्युक्तिकार माना जाए तो फिर यह अहं प्रश्न खड़ा होता है कि भद्रबाहु द्वितीय की रचना पर उनसे पूर्ववर्ती आचार्य सिद्धसेन क्षमाश्रमण व्याख्या या भाष्य कैसे लिख सकते हैं ?

४. भद्रबाहु द्वितीय ने निर्युक्ति की रचना की, ऐसा उल्लेख स्पष्टत: कहीं नहीं मिलता किन्तु चतुर्दश पूर्वधर भद्रबाहु का निर्युक्तिकार के रूप में अनेक स्थानों पर उल्लेख मिलता है । मलधारी हेमचन्द्र, आचार्य मल्लवादी, आचार्य मलयगिरि, आचार्य शीलांक और क्षेमचन्द्रसूरि ने चतुर्दशपूर्वी भद्रबाहु का निर्युक्तिकार के रूप में उल्लेख किया है । दर्शन परीषह के संदर्भ में निर्युक्तिकार ने आषाढभूति का उदाहरण दिया है । टीकाकार शान्त्याचार्य ने स्पष्ट उल्लेख किया है कि इन २२ परीषहों के उदाहरणों में कुछ उदाहरण निर्युक्तिकार के पश्चाद्भावी हैं । किन्तु उनके आधार पर यह आशंका नहीं करनी चाहिए कि ये किसी अन्य व्यक्ति द्वारा रचित है । इसका हेतु देते हुए शान्त्याचार्य कहते हैं कि आचार्य भद्रबाहु चौदह पूर्ववित् और श्रुतकेवली थे अत: वे त्रैकालिक विषयों के ज्ञाता थे ।[१९]

५. विंटरनित्स के अनुसार दशाश्रुतस्कंध के अतिरिक्त सभी निर्युक्तियाँ चतुर्दशपूर्वी प्रथम भद्रबाहु द्वारा लिखी गयीं । इसका कारण बताते हुए वे कहते हैं कि इसकी प्रथम गाथा में भद्रबाहु प्रथम को वंदना की गयी है । भद्रबाहु द्वितीय को निर्युक्तिकार मानने वालों का भी सबसे प्रबल प्रमाण यही है कि दशाश्रुतस्कंधनिर्युक्ति की प्रथम गाथा **वंदामि भद्दबाहुं.** में भद्रबाहु प्रथम को वंदना की गयी है । यदि वे स्वयं निर्युक्तिकार होते तो स्वयं को वंदना कैसे करते ? इस प्रश्न के समाधान में यदि आगम-साहित्य को देखें तो ज्ञात होता है कि मंगलाचरण की परम्परा बहुत बाद की है यदि कहीं है तो वह भी लिपिकर्त्ताओं द्वारा लिखा गया प्रतीत होता है ।

दूसरी बात आचार्य भद्रबाहु ने आवश्यकनिर्युक्ति में पंचज्ञान के माध्यम से मंगलाचरण

कर दिया। अन्य निर्युक्तियों की मंगलाचरण की गाथाएँ द्वितीय भद्रबाहु या उनके बाद के आचार्यों द्वारा जोड़ी गयी प्रतीत होती हैं। आचारांगनिर्युक्ति के मंगलाचरण की प्रथम गाथा चूर्णि में व्याख्यात नहीं है तथा टीकाकार शीलांक ने **'अणुयोगदायगे'** का अर्थ चतुर्दश पूर्वधर निर्युक्तिकार किया है। दशवैकालिक के मंगलाचरण की गाथा भी अगस्त्यसिंह और जिनदास द्वारा व्याख्यात नहीं है। इसके अतिरिक्त उत्तराध्ययन, निशीथ आदि निर्युक्तियों में मंगलाचरण की गाथाएँ मिलती ही नहीं हैं। इन सब प्रमाणों से संभव लगता है कि मंगलाचरण की गाथाएँ द्वितीय भद्रबाहु की हैं और यह बहुत अधिक संभव है कि (वंदामि भद्दबाहुं) वाली गाथा पंचकल्पभाष्य से लेकर प्रसंगवश दशाश्रुतस्कंध की निर्युक्ति में जोड दी गयी है क्योंकि छेद सूत्रों की अन्य तीन निर्युक्तियाँ–निशीथ, व्यवहार और बृहत्कल्प तो भाष्य में मिल गयीं किन्तु दशाश्रुतस्कंध की निर्युक्ति स्वतंत्र रही। दशाश्रुतस्कंध के रचयिता स्वयं भद्रबाहु प्रथम थे अतः मंगलाचरण के रूप में गाथा लिपिकर्त्ताओं या बाद के आचार्यों द्वारा इस निर्युक्ति में जोड दी गई है। पंचकल्पभाष्य में इस गाथा की प्रासंगिकता भी लगती है तथा इस गाथा की विस्तृत व्याख्या भी मिलती है। इस विषय में और भी अधिक गहन चिन्तन आवश्यक है।

६. भद्रबाहु द्वितीय को निर्युक्तिकार मानें तो वे मंगलाचरण के रूप में आवश्य किसी इष्ट की स्मृति या उन्हें वंदना करते क्योंकि विक्रम की तीसरी शताब्दी में मंगलाचरण की विधिवत् परम्परा प्रारम्भ हो गई थी। उमास्वाति ने जिस प्रकार 'सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः' से तत्त्वार्थ सूत्र का प्रारम्भ किया वैसे ही भद्रबाहु प्रथम ने आवश्यकनिर्युक्ति में पंचज्ञान के वर्णन को ही मंगलाचरण के रूप में प्रस्तुत किया है। ग्रंथ के प्रारम्भ में मंगलाचरण के इस रूप को देखकर भी कहा जा सकता है कि यह भद्रबाहु प्रथम की रचना होनी चाहिए।

७. ओघनिर्युक्ति के प्रारम्भ में मंगलाचरण के रूप में अर्हत्, चौदहपूर्वी, ग्यारह अंगों के धारक और सब साधुओं को वंदना की गयी है। गाथा की व्याख्या में टीकाकार द्रोणाचार्य ने एक प्रश्न उठाया है कि भद्रबाहु स्वामी चतुर्दशपूर्वी थे फिर उन्होंने अपने से न्यून दशपूर्वी आदि को वंदना क्यों की? प्रश्न को समाहित करते हुए वे स्वयं कहते हैं कि दशपूर्वी आदि श्रुत-परम्परा की अव्यवच्छित्ति में योगभूत बनते हैं अतः गुणाधिक्य के कारण उन्हें नमस्कार करना दोषयुक्त नहीं है। पुनः टीकाकार ने प्रश्न उपस्थित किया कि ग्यारह अंगों के धारकों को नमस्कार क्यों किया गया है? इसके समाधान में वे कहते हैं कि ओघनिर्युक्ति चरणकरणात्मक है। ग्यारह अंगों के धारक चरणकरण युक्त होते हैं क्योंकि अंग चरणकरणानुयोग के अंतर्गत हैं। उपयोगिता के कारण उनको नमस्कार करना उचित है। साधुओं को नमस्कार इसलिए किया गया है चूंकि वे चरणकरण के निष्पादक हैं।[२०] सामान्य दृष्टि से भी यह बात असंभव नहीं लगती क्योंकि आज भी आचार्य, उपाध्याय नमस्कारमंत्र में अपने से छोटे पद (मुनि) को नमस्कार करते हैं। उपर्युक्त उद्धरण से यह तो स्पष्ट है कि द्रोणाचार्य के समय तक निर्युक्ति के रचनाकार विवादास्पद हो गए थे। चतुर्दशपूर्वी भद्रबाहु को निर्युक्तिकार न मानने की परम्परा भी थी। किन्तु टीकाकार द्रोणाचार्य ने अत्यंत विस्तार से इस मत का निराकरण करके भद्रबाहु प्रथम को ही निर्युक्तिकार के रूप में स्थापित किया है।

इन उद्धरणों को प्रस्तुत करने का तात्पर्य यह नहीं है कि भद्रबाहु प्रथम ने ही निर्युक्तियाँ लिखीं। इस संदर्भ में हमारा स्पष्ट अभिमत है कि भद्रबाहु प्रथम द्वारा लिखित संक्षिप्त निर्युक्तियों को व्यवस्थित रूप देने तथा कुछेक प्रासंगिक गाथाओं की पद्यबद्ध व्याख्या करने का सारा श्रेय भद्रबाहु द्वितीय को ही है। इस तथ्य की पुष्टि में कुछ हेतु प्रस्तुत हैं :-

१. उत्तराध्ययन निर्युक्ति में बावीस परीषहों की कथा का संकेत एवं व्याख्या मिलती है। पंडित दलसुखभाई के अनुसार ८८ एवं ८९-ये दो गाथाएँ ही मूल निर्युक्ति की हैं क्योंकि इनमें २२ परिषहों की कथा का संकेत है। ९०-१४१ तक की ५१ गाथाओं का विस्तार बाद में किया गया प्रतीत होता है क्योंकि निर्युक्तिकार किसी भी कथा या विषय का इतना विस्तार नहीं करते। टीकाकार शान्त्याचार्य ने अनेक स्थलों पर इन गाथाओं के लिए निर्युक्तिकृद् का उल्लेख किया है। जैसे **इदानीं निर्युक्तिकार एव...क्षुत्परीषहोदाहरणमाह**[२१] टीकाकार के इस उद्धरण से स्पष्ट है कि शान्त्याचार्य के समय तक ये गाथाएँ निर्युक्ति के रूप में प्रसिद्ध हो चुकी थीं। यहाँ यह स्पष्ट संभावना की जा सकती है कि भद्रबाहु द्वितीय ने इन कथा-संकेतों के आधार पर शिष्यों की स्पष्टता के लिए इन गाथाओं की बाद में रचना की हो।

२. निशीथ चूर्णि में अनेक स्थलों पर यह उल्लेख मिलता है कि '**इमा भद्दबाहुसामिकता वक्खाणगाहा**' (निभा २९२) निशीथभाष्य में २०५ की गाथा द्वारगाथा है जो संभवतः प्रथम भद्रबाहु द्वारा रचित है। लेकिन इसकी व्याख्या द्वितीय भद्रबाहु ने की है। गा० २०७ की उत्थानिका में चूर्णिकार कहते हैं-'**सागणियणिक्खित्तदाराणं दोण्ह वि भद्दबाहुसामिकता प्रायश्चित्तव्याख्यानगाथा** २०८वीं गाथा की उत्थानिका में भी '**भद्दबाहुसामिकता वक्खाणगाहा**' का उल्लेख है। यहाँ यह संभावना की जा सकती है कि प्रथम भद्रबाहु की द्वारगाथा पर द्वितीय भद्रबाहु ने व्याख्यानगाथा लिखी हो।

३. निशीथ भाष्य ५४५ की उत्थानिका का उल्लेख भी इस दिशा में सोचने के लिए प्रेरित करता है। वहाँ स्पष्ट उल्लेख है कि सिद्धसेणायरिएण **जा जयणा भणिया तं चेव संखेवओ भद्दबाहू भणणति** इस उद्धरण से स्पष्ट है कि यहाँ द्वितीय भद्रबाहु की ओर संकेत है। प्रथम भद्रबाहु तो सिद्धसेन की रचना की व्याख्या नहीं कर सकते क्योंकि वे उनसे बहुत प्राचीन हैं। बृहत्कल्पभाष्य में भी गा० २६११ के पूर्व टीकाकार उल्लेख करते हैं-'**या भाष्यकृता सविस्तरं यतना प्रोक्ता तामेव निर्युक्तिकृदेकगाथया संगृह्याह**' यह उद्धरण विद्वानों के चिन्तन या ऊहापोह के लिए प्रस्तुत है। इसके आधार पर यह स्पष्ट संभावना की जा सकती है कि आचार्य सिद्धसेन द्वितीय भद्रबाहु से पूर्व पाँचवीं शती के उत्तरार्ध में हो गए थे। द्वितीय भद्रबाहु के समक्ष निर्युक्तियाँ तथा उन पर लिखे गये कुछ भाष्य भी थे।

४. बृहत्कल्प और निशीथ भाष्य में अनेक स्थानों पर '**पुरातणी गाहा**' या '**चिरंतणा गाहा**' का संकेत मिलता है। ये गाथाएँ भद्रबाहु प्रथम की प्रतीत होती हैं। निशीथ में एक स्थान पर उल्ख मिलता है कि एसा चिरंतणा गाहा, एयाए चिरंतणगाहाए इमा भद्दबाहुसामिकता वक्खाणगाहा इस उद्धरण से स्पष्ट है कि भद्रबाहु द्वितीय से पूर्व उनके सामने संक्षेप में समस्त

निर्युक्तियाँ थीं । चिरंतन एवं पुरातन विशेषण प्राचीनता का द्योतक है अत: यह भी भद्रबाहु प्रथम का संकेत देता है । ऐसा संभव लगता है कि नाम साम्य के कारण दोनों भद्रबाहु में अंतर स्पष्ट नहीं हो सका ।

५. दशवैकालिक के प्रथम अध्ययन की निर्युक्ति की अंतिम गाथा (१२४) में कहा है कि द्रुमपुष्पिका की संक्षिप्त निर्युक्ति और (विभाषा) भाष्य वर्णित किया गया है । जिन और (सर्वाक्षरसन्निपातलब्धि से युक्त) चतुर्दशपूर्वी विस्तार से इसका अर्थ कथन करते हैं । इस गाथा की अनुप्रेक्षा करने से यह स्पष्ट है कि गाथा के पूर्वार्द्ध में '**निज्जुत्तिसमासो**' और '**विभासा**' इन दो शब्दों का प्रयोग हुआ है । य च का वाचक है अत: यह विभासा को निर्युक्ति से अलग करता है । यहाँ विभासा शब्द भाष्य का वाचक है । ऐसा अधिक संभव लगता है कि प्रथम अध्ययन की निर्युक्ति का विस्तार और भाष्य द्वितीय भद्रबाहु द्वारा लिखा गया है । चूर्णि में प्रथम अध्ययन की केवल ५५ गाथाएँ ही हैं जबकि टीका में लगभग १५१ गाथाएँ हैं । इस गाथा से स्पष्ट है कि भद्रबाहु द्वितीय ने ही भद्रबाहु प्रथम की रचना की संक्षेप में व्याख्या एवं भाष्य किया है ।

६. भद्रबाहु प्रथम की रचना को ही भद्रबाहु द्वितीय ने विस्तार दिया इस तर्क के समर्थन में यह हेतु भी विद्वानों को कुछ सोचने को मजबूर करता है । आचारांगनिर्युक्ति की अंतिम तीन गाथाओं के बारे में चूर्णि में कोई संकेत या व्याख्या नहीं है । आचारांगनिर्युक्ति गा० ३६६ में उल्लेख है कि '**पंचमचूलनिसीहं तस्स य उवरिं भणीहामि**' इसमें निशीथनिर्युक्ति लिखने की प्रतिज्ञा का संकेत है । आवश्यकनिर्युक्ति में जहाँ निर्युक्ति कथन की प्रतिज्ञा है वहाँ निशीथनिर्युक्ति का उल्लेख नहीं है । अधिक संभव लगता है कि अंतिम तीन गाथाएँ भद्रबाहु द्वितीय द्वारा निर्मित हों तथा निशीथनिर्युक्ति लिखने का संकल्प भी उन्होंने किया हो । निशीथनिर्युक्ति की रचना शैली अन्य निर्युक्तियों से बिल्कुल भिन्न है । अत: बहुत संभव है कि यह भद्रबाहु द्वितीय द्वारा लिखी गयी हो ।

७. मुनि श्री पुण्यविजयजी ने अनेक प्रमाणों के आधार पर यह सिद्ध किया है कि उपलब्ध निर्युक्तियों के कर्त्ता भद्रबाहु प्रथम नहीं अपितु प्रसिद्ध ज्योतिर्विद् वराहमिहिर के भाई द्वितीय भद्रबाहु हैं ।[२२] फिर भी वे इस बात को स्वीकार करते हैं कि जब मैं यह कहता हूँ कि उपलब्ध निर्युक्तियाँ द्वितीय भद्रबाहु की हैं, श्रुतकेवली भद्रबाहु की नहीं तब इसका तात्पर्य यह नहीं कि श्रुतकेवली भद्रबाहु ने निर्युक्तियाँ लिखी नहीं । मेरा तात्पर्य केवल इतना ही है कि जिस अंतिम संकलन के रूप में आज हमारे समक्ष निर्युक्तियाँ उपलब्ध हैं, वे श्रुतकेवली भद्रबाहु की नहीं है । इसका अर्थ यह नहीं कि द्वितीय भद्रबाहु के पूर्व कोई निर्युक्तियाँ थी ही नहीं । निर्युक्ति के रूप में आगम व्याख्या की पद्धति बहुत पुरानी है । इसका पता हमें अनुयोगद्वार से चलता है । वहाँ स्पष्ट कहा गया है कि अनुगम दो प्रकार का होता है । 'सुत्ताणुगम और निज्जुत्तिअणुगम ।' पाक्षिक सूत्र में भी 'सनिज्जुत्तिए' ऐसा पाठ मिलता है ।... ऐसी स्थिति में श्रुतकेवली भद्रबाहु ने निर्युक्तियों की रचना की, इस परम्परा को निर्मूल मानने का कोई कारण

नहीं है ।[२३]

नंदी सू० के हारिभद्रीय टिप्पणक (पृ० १६१) में उल्लेख है कि भद्रबाहु स्वामी आदि स्थविरों ने आवश्यकनिर्युक्ति आदि श्रुतग्रंथों की रचना की । इस कथन से ऐसा ध्वनित होता है कि केवल भद्रबाहु ने ही निर्युक्ति की रचना नहीं की अन्य आचार्यों की भी इसकी रचना में सहभागिता रही है । निर्युक्ति-साहित्य में आर्य वज्र, पादलिप्त, कालकाचार्य, सिंहाचार्य, सोमदेव, फल्गुरक्षित आदि का वर्णन बाद में जोड़ा गया है । इसके संवर्धन में द्वितीय भद्रबाहु के अतिरिक्त अन्य आचार्यों का योग भी संभावित है ।

नैमित्तिक भद्रबाहु निर्युक्तियों के कर्त्ता नहीं है इस पक्ष में डॉ० सागरमलजी जैन का यह तर्क भी अत्यंत महत्त्वपूर्ण है —'यदि निर्युक्तियाँ नैमित्तिक भद्रबाहु की (विक्रम की छठीं सदी उत्तरार्द्ध) की रचनाएँ होती तो उनमें विक्रम की तीसरी सदी से लेकर छठीं सदी के बीच के किसी न किसी आचार्य एवं घटना का उल्लेख भी, चाहे संकेत रूप में ही क्यों न हो, अवश्य होता । अन्य कुछ भी नहीं तो माथुरी एवं वलभी वाचना के उल्लेख अवश्य होते, क्योंकि नैमित्तिक भद्रबाहु उनके बाद ही हुए है । वे वलभी वाचना के आयोजक देवर्द्धिगणि के तो कनिष्ठ समकालिक हैं, अत: यदि वे निर्युक्तिकर्त्ता होते तो वलभी वाचना का उल्लेख निर्युक्तियों में अवश्य करते ।[२४]

आचारांगनिर्युक्ति गा० २२३, २२४ में गुणश्रेणी विकास की दस अवस्थाओं का वर्णन है । आचारांगनिर्युक्ति से ही यह प्रकरण तत्त्वार्थसूत्र (९/४७) में संक्रांत हुआ है, गुणश्रेणी विकास की दस अवस्थाओं का वर्णन भी निर्युक्ति की प्राचीनता को सिद्ध करता है क्योंकि विक्रम की तीसरी शताब्दी तक गुणस्थानों का व्यवस्थित विकास हो गया था । किन्तु निर्युक्ति साहित्य में १४ गुणस्थानों का कोई उल्लेख नहीं मिलता । डॉ० सागरमलजी जैन का अभिमत है कि आचारांग में गुणश्रेणी विकास संबंधी ये दोनों गाथाएँ पूर्वसाहित्य या कर्म साहित्य के किसी प्राचीनग्रंथ से अवतरित प्रतीत होती हैं । आचारांगनिर्युक्ति से ये गाथाएँ षट्खंडागमकार ने ली हैं क्योंकि षट्खंडागम यापनीय कृति है । यापनीयों में निर्युक्तियों के अध्ययन की परम्परा थी जैसे मूलाचार आदि में आवश्यक निर्युक्ति की अनेक गाथाएँ हैं ।

भाषा-शैली की दृष्टि से भी निर्युक्ति की गाथाएँ प्राचीन सिद्ध होती हैं । निर्युक्ति साहित्य में निक्षेप पद्धति का विशेष रूप से उपयोग हुआ है, यह व्याख्या की प्राचीन पद्धति रही है । इसे छठी शताब्दी की व्याख्या शैली का अंग नहीं माना जा सकता ।

निष्कर्ष की भाषा में कहा जा सकता है कि वीर-निर्वाण की दूसरी शताब्दी तक निर्युक्ति साहित्य की रचना प्रारम्भ हो गयी थी । उसका विस्तार बाद के आचार्यों द्वारा भी हुआ, जिसमें भद्रबाहु द्वितीय का नाम प्रमुखता से लिया जा सकता है ।

संदर्भ स्थल :-

१. क. विभा १०८६ : जं निच्छइया ज़ुता, सुत्ते अत्था इमीए वक्खाया । तेणेयं निज्जुत्ती, निज्जुत्तत्थाभिहाणाओ ॥

ख. सूटी पृ० १ : योजनं युक्तिः अर्थघटना निश्चयेनाधिक्येन वा युक्तिः निर्युक्तिः—सम्यगर्थप्रकटनम् । निर्युक्तानां वा सूत्रेष्वेव परस्परसम्बद्धानामर्थानामाविर्भावनं युक्तशब्दलोपान्निर्युक्तिः ।

ग. आवमटी पृ० १०० : सूत्रार्थयोः परस्परं निर्योजनं—संबंधनं निर्युक्तिः ।

घ. ओनिटी पृ० ४ : निःआधिक्ये, योजनं युक्तिः सूत्रार्थयोर्योगो नित्यव्यवस्थित एवास्ते वाच्यवाचकतयेत्यर्थः, अधिका योजना निर्युक्तिरुच्यते, नियता निश्चिता वा योजनेति ।

२. आवहाटी पृ० ३६३ ।

३. विभा १०८८ : तो सुत्तपरिवाडिच्चिय, इच्छावेइ तमणिच्छमाणं पि ।
निज्जुत्ते वि तदत्थे, वोत्तुं तदणुग्गहट्ठाए ॥

४. विभा १०८९ : फलयलिहियं पि मंखो, पढइ पभासइ तहा कराईहिं ।
दाएइ य पइवत्थुं, सुहबोहत्थं तह इहं पि ॥

५. विभा १०९१ : इच्छह विभासिउं मे, सुयपरिवाडिं न सुट्ठु बुज्झामि ।
नातिमई वा सीसो, गुरुमिच्छावेइ वोत्तुं जे ॥

६. आवनि ८४, ८५ : आवस्सगस्स दसकालियस्स तह उत्तरज्झमायारे । सूयगडे निज्जुत्तिं, वुच्छामि तहा दसाणं च ॥
कप्पस्स य निज्जुत्तिं, ववहारस्सेव परमणिउणस्स । सूरियपण्णत्तीए, वुच्छं इसिभासियाणं च ॥

७. आवहाटी १ पृ० ४१ : ऋषिभाषितानां च देवेन्द्रस्तवादीनां निर्युक्ति......

८. दशनि २१८/४ : भावस्सुवगारित्ता, एत्थ दव्वेसणाएँ अहिगारो । तीए पुण अत्थजुत्ती, वत्तव्वा पिंडनिज्जुत्ती ॥

९. आनिद्रोटी पृ० ३, ४ ।

१०. A history of canonical literature of the Jains p. 172

११. गणधरवाद, प्रस्तावना पृ० १०; भद्रबाहु चाहें छठी शताब्दी में हुए हों, किन्तु प्रश्न यह है कि उनकी लिखी हुई निर्युक्तियों में कोई प्राचीन भाग सम्मिलित है अथवा नहीं । श्री कुन्दकुन्द आदि के ग्रंथों में बहुत सी गाथाएँ निर्युक्ति की हैं, भगवती आराधना और मूलाचार में भी हैं, अतः यह कैसे कहा जा सकता है कि उपलब्ध निर्युक्ति की समस्त गाथाएँ केवल छठी शताब्दी में ही लिखी गई हैं । यदि पुरानी गाथाओं का समावेश कर नई कृति उपलब्ध रूप में उस समय बनी तो समग्र निर्युक्ति को छठी शताब्दी की ही कैसे माना जाए ? इसमें संदेह नहीं कि हम यह निश्चय नहीं कर सकते कि पुरानी गाथाएँ कौन-कौन सी और कितनी है ? फिर भी निर्युक्ति की व्याख्यान-पद्धति अत्यंत प्राचीन प्रतीत होती है । अनुयोगद्वार प्राचीन है, उसकी गाथाएँ भी निर्युक्ति में हैं । अतः यदि छठी शताब्दी के भद्रबाहु ने उपलब्ध रचना लिखी हो, तो भी यह मानना पड़ता है कि प्राचीनता की परम्परा निराधार नहीं ।

१२. मूला गा० ६९१ : निज्जुत्ती निज्जुत्ती, एसा कहिदा मए समासेणं । अह वित्थारपसंगोऽणियोगदो होदि णादव्वो ॥

१३. सन्मति प्रकरण, प्रस्तावना पृ० ४८ ।

१४. गुरु गोपालदास वरैया स्मृति ग्रंथ पृ० ३८४ ।

१५. श्री जैन सत्य प्रकाश (मासिक पत्रिका), वर्ष ६, अंक १, क्रमांक ६१, पृ० ७ ।

१६. अ० डा० फूलचंदजी प्रेमी इस बात से सहमत नहीं है कि मूलाचार में आवश्यक निर्युक्ति से गाथाएँ संगृहीत की गयी हैं । उनका मानना है कि ये गाथाएँ दोनों ही परम्पराओं में इतनी प्रसिद्ध हो गयी थीं कि

आचार्य क्रम से वट्टकेर ने अपने ग्रंथ में ले लीं। लेकिन यहाँ विचारणीय प्रश्न यह है कि वट्टकेर ने आवश्यकनिर्युक्ति या सामायिकनिर्युक्ति का उल्लेख क्यों किया ? आवश्यकनिर्युक्ति स्पष्ट रूप से एक ग्रंथ का वाचक शब्द है।

ब. मूलाचार में दस स्थितकल्प का वर्णन करने वाली गाथाएँ भी स्पष्ट संकेत करती हैं कि वट्टकेर समन्वयवादी उदार आचार्य थे। वे श्वेताम्बर ग्रंथों एवं उसकी परम्परा से प्रभावित थे।

१७. जैन आगम साहित्य में भारतीय समाज पृ० ३५, ३६।

१८. निशीथ चूर्णि, भाग ४ पृ० १२१।

१९. उशांटीप १३९, १४० : न च केषांचिदिहोदाहरणानां निर्युक्तिकालादर्वाक्कालभावितेत्यन्योक्तमाशंकनीयं, स भगवांश्चतुर्दशपूर्ववित् श्रुतकेवली कालत्रयविषयं वस्तु पश्यत्येवेति कथमन्यकृतत्वाशंकेति।

२०. ओनिटी पृ० ३. गुणाधिकस्य वंदनं कर्त्तव्यं, न त्वधमस्य यद् उक्तम् 'गुणाहिए वंदणयं' भद्रबाहुस्वामिनश्चतुर्दश-पूर्वधरत्वात् दशपूर्वधरादीनां च न्यूनत्वात्तत्कि तेषां नमस्कारमसौ करोति ? इति, अत्रोच्यत, गुणाधिका एव ते, अव्यवच्छित्तिगुणाधिक्यात्, अतो न दोष इति। एवं व्याख्याते सत्याह परः- एकादशांगसूत्रार्थधारकाणां किमर्थं क्रियते ? इति, उच्यते, इह चरणकरणात्मिका ओघनिर्युक्तिः, एकादशांगसूत्रार्थधारिणश्च चरणकरणवन्त एव, एकादशानामङ्गानां चरणकरणानुयोगत्वात्, उपयोगित्वेनांशेन तेषां नमस्कार इति। साधूनां किमर्थमिति चेत्, ते तु चरणकरणनिष्पादकाः, तदर्थं चायं सर्वएव प्रयास इति।

२१. उशांटी पृ० ८४।

२२. बृहत्कल्पभाष्य भा ६, प्रस्तावना।

२३. मुनि हजारीमल स्मृति ग्रंथ, ७१८, ७१९।

२४. दशाश्रुतस्कंध निर्युक्तिः एक अध्ययन, भूमिका पृ० १६।

□ □ □

प्राचीन अर्धमागधी की खोज में डॉ० चन्द्र का अवदान

रंजनसूरिदेव

संस्कृत और प्राकृत के पाणिनिकल्प महावैयाकरण आचार्य हेमचन्द्र ने अपने कालोत्तीर्ण व्याकरण-ग्रन्थ 'सिद्धहेमशब्दानुशासन' के प्रारम्भ (सूत्र सं० ३) में ही लिखा है कि 'आर्षे हि सर्वे विधयो विकल्प्यन्ते', अर्थात् ऋषिप्रोक्त होने के कारण प्राकृत भाषा में सभी विधियों का विकल्पन, यानी प्रयोग-वैविध्य के स्वातन्त्र्य का अवकाश रहता है। इसीलिए अर्धमागधी प्राकृत ही क्यों, महाराष्ट्री और शौरसेनी प्राकृत में भी प्रयोग की विविधता और विचित्रता सहज ही परिलक्षित होती है।

संस्कृत के समानान्तर प्रवाहित होती हुई प्राकृत-भाषा चूँकि लोकजीवन के बीच से गुजरनेवाली भाषा रही है, इसीलिए इसमें विभिन्न प्रदेशों की लोकभाषाओं की, प्रकृतियों और प्रवृत्तियों का समावेश होने से प्रयोगबाहुल्य अस्वाभाविक नहीं है। विशेषतः प्राचीनकाल के शिलालेख, जिनमें अशोक के शिलालेख अतिशय महार्घ हैं, प्रायः जनजीवन में सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चारित्र के उन्नयन के निमित्त उत्कीर्ण कराये जाते थे, इसीलिए उनमें लोक-व्यवहार के उपयुक्त भाषिक प्रयोगों के प्रति अधिक आग्रह रहता था, इसलिए भी तद्विषयक प्राकृतों में प्रायोगिक विविधता का सहज समावेश हुआ। कदाचित् इन्हीं तत्त्वों को लक्ष्य कर आचार्य हेमचन्द्र ने लिखा कि 'आर्षं प्राकृतं बहुलं भवति।' जो हो, भाषाओं के प्रयोग-वैविध्य और प्रयोग-वैचित्र्य का आग्रह अध्ययन और अनुशीलन भाषाशास्त्रियों के लिए पुराकाल से ही एक रोचक प्रसंग रहा है।

आन्तरिक प्रसन्नता की बात है कि प्राकृत के मर्मज्ञ मनीषी डॉ० के० आर० चन्द्र ने जैनागमों की भाषा अर्धमागधी के प्रयोग-वैविध्य की गहराई से खोज-बीन करने के अपने सारस्वत संकल्प को क्रियान्वित करने का अतिशय सफल और प्राकृत-भाषा के शोध-अधीतियों के लिए सहज अनुकरणीय विशिष्ट मौलिक प्रयत्न किया है। इनका यह प्रयत्न 'प्राचीन अर्धमागधी की खोज में' नाम से ग्रन्थाकार प्रकाशित हुआ है। अवश्य ही, डॉ० चन्द्र का इस कृति के माध्यम से प्राचीन अर्धमागधी के शोधगर्भ अध्ययन, रून्वेषण के क्षेत्र में किया गया यह भाषिक पदनिक्षेप डॉ. पिशेल के एतद्विषयक अध्ययन को आगे बढ़ानेवाला तो है ही, अपने-अपने क्रोशशिलात्मक और एतिहासिक महत्त्व भी रखता है।

भाषाव्यसनी विद्वान् डॉ० चन्द्र की अपनी सार्थक संज्ञा से समन्वित यह शोधगर्भ कृति

प्राचीन अर्धमागधी की खोज के सन्दर्भ में लिखे गये शोधपूर्ण नातिदीर्घ आठ लेखों का महत्त्वपूर्ण संकलन है, जिसमें उनका मूल लक्ष्य प्रायः अशोक के शिलालेखों की भाषा के साथ 'आचारांग' की भाषा के तुलनात्मक अध्ययन तक केन्द्रित है और इस सन्दर्भ में उन्होंने अशोक के शिलालेख, पालिपिटक तथा जैनागम 'आचारांग' की भाषाओं का समेलित और व्यतिरेकी दोनों प्रकार के अनुशीलन का वैदुष्यपूर्ण और आशंसनीय चेष्टा की है ।

डॉ० चन्द्र की इस अध्ययन-परम्परा को सुश्री शोभना आर. शाह ने ईसवी पूर्व द्वितीय-प्रथम शती के खारवेल के प्राचीन शिलालेख (उत्कल के हाथीगुम्फा में प्राप्त) की भाषा के साथ 'आचारांग' और 'प्रवचनसार' की भाषा की तुलना करके ततोऽधिक विकसित किया है और सिद्ध किया है कि आचारांग की अर्धमागधी भाषा और खारवेल के शिलालेख की भाषा में बहुत कुछ सादृश्य है ।

प्राचीन अर्धमागधी की भाषिक प्रकृति और प्रवृत्ति का पुंखानुपुंख अध्ययन ही डॉ० चन्द्र की उक्त कृति का प्रमुख लक्ष्य है । इस कृति में यथासंकलित आलेखों के विषय-शीर्ष इस प्रकार हैं : । १. 'जैन आगम ग्रन्थों के विविध संस्करणों में अर्धमागधी की स्थिति, २. 'अर्ध मागधी में प्राचीन भाषाकीय तत्त्व, ३. अर्धमागधी आगम-ग्रन्थों की प्राचीनता और उनकी रचना का स्थल', ४. 'आचार्यश्री हेमचन्द्र के प्राकृत-व्याकरण की अर्धमागधी भाषा', ५. 'प्राचीन अर्धमागधी प्राकृत की मुख्य लाक्षणिकताएँ,' ६. 'क्षेत्रज्ञ' शब्द का अर्धमागधी रूप', ७ 'आचारांग के उपोद्घात के वाक्य का पाठ' तथा ८. 'मूल अर्धमागधी की पुनः रचना : एक प्रयत्न' ।

यथोक्त आलेखों के सटीक शीर्षकों से उनमें प्रतिपादित विषयों का प्रतिपाद्य स्वतः स्पष्ट है । इस क्रम में डॉ० चन्द्र ने अर्धमागधी के तद्धितीय और कृदन्तीय दोनों प्रकार के शब्दों का व्यापक पाठालोचन किया है और पाठालोचन के प्रसंग में उन्होंने भाषाविज्ञान के प्रायः सभी आयामों का—जैसे ध्वनि-परिवर्तन, वर्णलोप, वर्ण-विपर्यय, उद्वृत्तस्वर, स्वरभक्ति, श्रुतिभिन्नता, उच्चारण-प्रयत्न आदि का उपयोग करते हुए उन पर सूक्ष्मेक्षिकापूर्वक विचार किया है और इस भाषिक विवेचन के निमित्त उन्होंने जैन विश्वभारती, लाडनूँ, आगमोदय समिति, मेहेसाणा, महावीर जैन विद्यालय, बम्बई (अवि मुम्बई), एम० ए० मेहेण्डले, जे शार्पेण्टियर, डॉ० वाल्थेट शुब्रिंग, डॉ० पिशेल, लुडविग ऑल्सडोर्फ आदि द्वारा स्वीकृत पाठभेदों को विवेच्य के आधार के रूप में स्वीकार किया है ।

कृतविद्य भाषाशास्त्री डॉ० चन्द्र ने अपने स्वीकृत शोध-श्रम के प्रति पूरी ईमानदारी से काम लिया है और इस क्रम में जैनागमों—'आचारांग,' 'सूत्रकृतांग', 'स्थानांग', व्याख्याप्रज्ञप्ति', 'ज्ञातृधर्मकथा', 'कल्पसूत्र', 'उपासकदशासूत्र', 'औपपातिक सूत्र', 'उत्तराध्ययन', 'दशवैकालिक', 'ऋषिभाषित' आदि तथा पालि-आगमों—'सुत्तनिपात' आदि के गहन अध्ययन का विस्मयकारी परिचय दिया है । इसके अतिरिक्त शोधश्रमी लेखक ने अपने भासिक अध्ययन के उपजीव्य के रूप में शिलालेखों को भी अपेक्षित मूल्य दिया है । अशोक के शिलालेखों को मूल्य देते हुए उन्होंने प्रत्यासत्त्या शहबाजगढ़ी, धौली, मानसेहरा, गिरनार, जौगड़, कालसी आदि शिलालेखों

का भी यथोचित परिशीलन किया है ।

डॉ० के० आर० चन्द्र की अर्धमागधी की खोज के सन्दर्भ में उनकी कई उपलब्धियाँ ध्यातव्य हैं । जैसे : उन्होंने पहली बार अशोक के शिलालेखों की भाषा के साथ आचारांग की भाषा की तुलना शास्त्रीय पद्धति से की है । भगवान् महावीर की उपदेश-भाषा अर्धमागधी के मूलस्वरूप का निर्धारण उनका उपलब्धिमूलक दूसरा प्रयत्न है । उन्होंने प्रकाशित जैन आगमों— 'आचारांग', 'सूत्रकृतांग', 'उत्तराध्ययन', 'आचारांग-निर्युक्ति', 'ऋषिभाषित' आदि के पाठों की परम्परा परित : परीक्षण किया है और प्रमाणित किया है कि जैनागमों का प्रकाशन भाषा के मूल स्वरूप को अपेक्षित रूप से जाने विना ही हुआ है । यह भी उनकी एक विशिष्ट वैचारिक उपलब्धि है । इन उपलब्धियों के अतिरिक्त उन्होंने आचार्य हेमचन्द्र के प्राकृत-व्याकरण का नई दृष्टि से अध्ययन अपने इस ग्रन्थ में किया है । इस सन्दर्भ में डॉ० चन्द्र द्वारा किया गया 'आचारांग' के प्रथमश्रुतस्कन्ध में प्रयुक्त 'क्षेत्रज्ञ' शब्द के अर्धमागधी रूप का भाषिक अध्ययन उनकी नई शोधोपलब्धि के रूप में स्वीकार्य है ।

डॉ० चन्द्र की विचार-प्रणाली में पूर्वपक्ष और उत्तरपक्ष दोनों को समान मूल्य दिया गया है । वह पहले पूर्व पक्ष को उपस्थापित करते हैं, तदनन्तर उत्तरपक्ष प्रस्तुत करते हैं । 'क्षेत्रज्ञ', शब्द के विवेचन के क्रम में उन्होंने पूर्व पक्ष के विवेचन को विशदता से उपन्यकृत किया है और अपने उत्तरपक्ष को सार रूप में उपस्थित करते हुए लिखा है कि अर्धमागधी भाषा में मूलत: 'खेत्तन्न' शब्द ही था, जो 'क्षेत्रज्ञ' अर्थात् 'आत्मज्ञ' अर्थ से सम्बद्ध था । 'खेत्तन्न' का 'खेदज्ञ' के रूप में प्रस्तवन परवर्ती काल की देन है । इन प्रसंग में उनका सहज ग्राह्य तर्क है कि बदलती हुई प्राकृत-भाषा की, ध्वनि-परिवर्तन की प्रवृत्ति के प्रभाव से 'खेत्तन्न' शब्द ने कालानुक्रम से अनेक रंग-रूप बदले और वे सभी रूपान्तर 'आचारांग' के विभिन्न संस्करणों प्राप्य हैं । किन्तु निष्कर्षरूप में डॉ० चन्द्र का मानना है कि 'खेत्तन्न' (क्षेत्रज्ञ) पाठ ही उचित, उपयुक्त और प्राचीन माना जाना चाहिए ।

डॉ० चन्द्र ने अपनी गर्वोक्ति का परिहार करते हुए निरहंकार भाव से कहा है कि उनका प्राचीन अर्धमागधी का यह अन्वेषण हस्तलिखित प्रतियों, शिलालेखों और प्राचीन जैनागमों पर आधृत है । उनका खयाल है कि इस सन्दर्भ में अभी और आगे कार्य करने की आवश्यकता है । किन्तु, इस बात से इनकार नहीं किया जा सकता कि डॉ० चन्द्र की यह कृति पार्यन्तिक न होकर भी जैनागमों की संशोधन प्रक्रिया को एक नई दिशा देती है । इस प्रकार, उन्होंने जैनागमों के शोधानुशीलन-क्षेत्र का बहुत ही उपकार किया है, जिसके लिए तद्विषयक शोधकर्त्ता उनका सदा कृतज्ञ रहेगा ।

अर्धमागधी के सम्बन्ध में उसकी भाषिक स्थिति को स्पष्ट करते हुए डॉ० चन्द्र ने बड़े महत्त्व की बात लिखी है कि अर्धमागधी के आगम ग्रन्थों के सम्पादकों की सम्पादन-पद्धति एक समान नहीं रही है । सम्पादकों ने विभक्तियों और प्रत्ययों में कभी प्राचीनता को मूल्य दिया है तो कभी परवर्ती काल के प्रभाव को । यहाँ ज्ञातव्य यह है कि अर्धमागधी एक प्राचीन

प्राकृत-भाषा है, जो महाराष्ट्री प्राकृत से बहुत पुरानी है। प्राचीन अर्धमागधी आगम-साहित्य का सर्जन भारत के पूर्व क्षेत्र में हुआ है और आगमों की प्रथम वाचना का समय अशोक के शिलालेखों से पूर्ववर्ती है। इस दृष्टि से अर्धमागधी का महाराष्ट्रीकरण निर्विवाद है। इस प्रकार, आगम-ग्रन्थों में अर्धमागधी की स्थिति की विवेचना करते हुए डॉ० चन्द्र ने निष्कर्ष रूप में अपना यह पूर्वाग्रह रहित सर्वजनग्राह्य मत व्यक्त किया है कि भाषिक विकास की दृष्टि से यथाप्राप्य प्राचीन पाठों को भी अपनाया जाना चाहिए, ताकि उसकी (अर्धमागधी की) प्राचीनता सुरक्षित रह सके।

डॉ० चन्द्र ने अर्धमागधी की प्राचीनता की ओर संकेत करते हुए अपना यह तर्क प्रस्तुत किया है कि प्राचीन प्रयोग अर्धमागधी की प्राचीनता सिद्ध करते हैं और कभी कभी तो वे प्रयोग उसकी पालिभाषा से समानता की सी प्रतीति कराते हैं। मूलतः अर्धमागधी-साहित्य की शतियों पहले (ईसवी-पूर्व चतुर्थ शती) हुई थी, इसीलिए इसमें पालि के समान एवं अन्य प्रकार के भी भाषिक प्रयोग उपलब्ध होते हैं। यह अर्धमागधी भाषा निश्चय ही महाराष्ट्री और शौरसेनी से पूर्वकालीन है। इसमें वर्तनी और ध्वनिगत परिवर्तन (मध्यवर्ती व्यंजनों का लोप इत्यादि) कालान्तर में घटित हुए हैं।

कुल मिलाकर, अर्धमागधी के भाषिक अध्ययन-अनुशीलन के अधीतक प्रमाण-पुरुष डॉ० चन्द्र की प्राचीन अर्धमागधी की खोज से सम्बद्ध यह अद्वितीय कृति अर्धमागधीनिबद्ध जैनागमों के पाठालोचन और पाठ-सम्पादन के क्षेत्र में सर्वथा नवीन अवदान के रूप में स्वीकरणीय है। प्रज्ञावान् लेखक का यह प्रयास निश्चय ही आशंसनीय है।

डॉ० चन्द्र प्राकृत-भाषाओं के प्रमुख अध्येताओं में अन्यतम हैं और अर्धमागधी का अध्ययन उनके भाषिक वाङ्मयतप की साधना से जुड़ा हुआ है। उनकी उल्लेखनीय भाषाशास्त्रीय कृति 'प्राचीन अर्धमागधी की खोज में' का प्रकाशन प्राकृत-भाषा के अध्ययन की दृष्टि से एक महत्त्वपूर्ण घटना है, इसलिए कि इससे प्राचीन अर्धमागधी के मूल स्वरूप पर प्रकाश पड़ता है। भाषाशास्त्र के अध्ययन की प्रातिभ शक्ति से सम्पन्न डॉ० चन्द्र ने भाषिक प्रतिभा, साहित्यिक चेतना और सारस्वत श्रम के विनियोग द्वारा अर्धमागधी की प्राचीनता के अन्वेषण को अनेक नये आयाम दिये हैं। अवश्य ही यह एक ऐतिहासिक मूल्य का कार्य है।

प्रस्तुत कृति में अर्धमागधी-भाषा के प्रकृतिगत और प्रवृत्तिगत अध्ययन के अन्तस्तल तक पहुँचने का मूल्यवान् प्रयास परिलक्षित होता है। इस प्रकार, यह कृति भाषिक मूल्यों के आकलन के सन्दर्भ में अर्धमागधी का विशिष्ट दृष्टिकोण प्रस्तुत करती है।

□ □ □

आचार्य हरिभद्र की समन्वयात्मक दृष्टि

जिनेन्द्र जैन

आचार्य हरिभद्र जैनधर्म, दर्शन, योग आचार, उपदेश, व्यंग्य और चरित तथा कथाकाव्यों के सृजन में अपना विशेष स्थान रखते हैं। संस्कृत, प्राकृत भाषाओं में प्राप्त इनका साहित्य उनके बहुआयामी व्यक्तित्व एवं मौलिक सर्जना शक्ति का परिचायक है। जैनागमों पर लिखे गये व्याख्या साहित्य और स्वतंत्र दर्शन विषयक चिंतन से उनके तलस्पर्शी अध्ययन / ज्ञान का बोध होता है। आचार्य हरिभद्र ने दर्शन के चिंतन में जहाँ खण्डन-मण्डन की शैली को अपनाया, वहीं उदारता, सहिष्णुता, समदर्शिता, समभाव और समन्वयात्मक दृष्टिकोण उनके व्यक्तित्व को वृद्धिंगत करते हैं। हरिभद्र के लिए विद्या विवादाय न होकर सत्यान्वेषण की पृष्ठभूमि से आप्लावित कही गई है। इसलिए आचार्य हरिभद्र पक्षाग्रही न होकर सत्याग्रही प्रतीत होते है। **लोक-तत्त्वनिर्णय, षड्दर्शनसमुच्चय, शास्त्रवार्त्तासमुच्च. संबोधप्रकरण, धूर्ताख्यान, अनेकान्तजयपताका** और आगमों पर व्याख्याएँ प्रमुख ऐसे ग्रंथ हैं, जिनमें समन्वयात्मक दृष्टिकोण के संदर्भ अंकित हैं। उन्होंने भ्रमर की तरह अनेक धार्मिक एवं दार्शनिक परम्पराओं से बहुत कुछ लिया और उसे जैन परम्परा में अनेकान्तिक दृष्टि के अन्तर्गत समाहित भी किया।

आचार्य हरिभद्र की समन्वयात्मक दृष्टि का मूल्यांकन करने के लिए आवश्यक है कि हम उनके धर्म और दर्शन के क्षेत्र में दिये गये योगदान पर चर्चा करें। इसके प्रमुख विचारणीय बिन्दु इस प्रकार हैं—

धर्म एवं दर्शन विषयक परम्पराओं का निष्पक्ष प्रस्तुतीकरण, अन्य दर्शनों की समीक्षा में भी शिष्ट भाषा का प्रयोग तथा अन्य धर्मों एवं दर्शनों के प्रवर्तकों के प्रति बहुमानवृत्ति, शुष्क दार्शनिक समालोचनाओं के स्थान पर उन अवधारणाओं के सार-तत्त्व और मूल उद्देश्यों को समझने का प्रयत्न, अन्य दार्शनिक मान्यताओं में निहित सत्यों एवं इनकी मूल्यवत्ता को स्वीकार करते हुए जैन दृष्टि के साथ उनके समन्वय का प्रयत्न, अन्य दार्शनिक परम्पराओं के ग्रंथों का निष्पक्ष अध्ययन करके उन पर व्याख्या और टीका का प्रणयन करना, उदार और समन्वयवादी दृष्टि रखते हुए पौराणिक अंधविश्वासों का निर्भीक रूप से खण्डन करना, दर्शन और धर्म के क्षेत्र में आस्था या श्रद्धा की अपेक्षा तर्क एवं युक्ति पर अधिक बल, किन्तु शर्त यह कि तर्क और युक्ति का प्रयोग अपने मत की पुष्टि के लिए नहीं, अपितु सत्य की खोज के लिए हो, धर्म साधना को कर्मकाण्ड के स्थान पर चरित्र की निर्मलता के साथ जोड़ने का प्रयत्न, मुक्ति के सम्बन्ध में एक

उदार और व्यापक दृष्टिकोण, उपास्य के नाम-भेद को गौण मानकर उसके गुणों पर बल आदि दार्शनिक और धार्मिक परम्पराओं का अध्ययन मुख्यतः दो दृष्टियों से किया जाता है-एक तो उन परम्पराओं की आलोचना करने की दृष्टि से और दूसरा उनका यथार्थ परिचय पाने और उनमें निहित सत्य को समझने की दृष्टि से । आलोचना एवं समीक्षा की दृष्टि से लिखे गये ग्रन्थों में भी आलोचना के शिष्ट और अशिष्ट ऐसे दो रूप मिलते हैं ।

यद्यपि हरिभद्र ने भी अपनी कुछ कृतियों में अन्य दर्शनों एवं धर्मों की समीक्षा की है । अपने ग्रंथ धूर्ताख्यान में वे धर्म और दर्शन के क्षेत्र में पनप रहे अन्धविश्वासों का सचोट खण्डन भी करते हैं, फिर भी इतना निश्चित है कि वे न तो अपने विरोधी विचारों को भ्रान्त रूप में प्रस्तुत करते हैं और न उनके सम्बन्ध में अशिष्ट भाषा का प्रयोग ही करते हैं । यह उनके दार्शनिक समन्वयात्मक दृष्टि का परिचायक है । वैचारिक समन्वयशीलता और धार्मिक उदारता की जिस ऊँचाई का स्पर्श हरिभद्र ने अपनी कृतियों में किया है वैसा उनके पूर्ववर्ती जैन एवं जैनेतर दार्शनिकों में हमें परिलक्षित नहीं होता । यद्यपि हरिभद्र के परवर्ती जैन दार्शनिकों में हेमचन्द्र, यशोविजय, आनन्दघन आदि अन्य धर्मों और दर्शनों के प्रति समभाव और उदारता का परिचय देते हैं, किन्तु उनकी यह उदारता उनकी यह उदारता उन पर हरिभद्र के प्रभाव को ही सूचित करती है ।

"लोकतत्त्वनिर्णय" नामक ग्रंथ में आचार्य हरिभद्र कहते है-

पक्षपातो न मे वीरे न द्वेषः कपिलादिषु ।
युक्तिमद्वचनं यस्य तस्य कार्यः परिग्रहः॥३८॥

आचार्य हेमचंद्र पर उक्त श्लोक का स्पष्टतः प्रभाव दृष्टिगोचर होता है जहाँ वे ब्रह्मा, विष्णु, महेश अथवा जिन (तीर्थकर) को नमस्कार करते हुए कहते है-

भव-बीजांकुर जनना, रागाद्याक्षयमुपागता यस्य ।
ब्रह्मा वा विष्णुर्वा हरो जिनो वा नमस्तस्मै ॥ महादेव-स्तोत्र ४४ ॥

वस्तुतः २५०० वर्ष के सुदीर्घ जैन इतिहास में ऐसा कोई भी समन्वयवादी उदारचेता व्यक्तित्व नहीं है, जिसे हरिभद्र के समतुल्य कहा जा सके । यद्यपि हरिभद्र के पूर्ववर्ती और परवर्ती अनेक आचार्यों ने जैन की अनेकान्त दृष्टि के प्रभाव के परिणामस्वरूप उदारता का परिचय अवश्य दिया है फिर भी उनकी सृजनधर्मिता उस स्तर की नहीं है जिस स्तर की हरिभद्र की है । उनकी कृतियों में दो चार गाथाओं या श्लोकों में उदारता के चाहें संकेत मिल जाएँ किन्तु ऐसे कितने हैं जिन्होंने समन्वयात्मक और उदारदृष्टि के आधार पर **षड्दर्शनसमुच्चय, शास्त्रवार्त्तासमुच्चय** और **योगदृष्टिसमुच्चय** जैसी महान् कृतियों का प्रणयन किया हो ।

दर्शन संग्राहक ग्रंथों की परम्परा में आचार्य हरिभद्र एक ऐसे महान् दार्शनिक व्यक्तित्व हैं, जिन्होंने पूर्ण निष्पक्षता एवं उदारतापूर्वक बिना किसी खण्डन-मण्डन के निरपेक्ष भाव से दार्शनिक सिद्धान्तों का प्रस्तुतीकरण किया । जैनेतर दार्शनिक ग्रंथ आचार्य शंकर विरचित

'सर्वसिद्धांत संग्रह' को लें अथवा माध्वाचार्य कृत 'सर्वदर्शन संग्रह' को, साथ ही जैन परम्परा के राजशेखरकृत (वि० सं० १४०५) **षड्दर्शनसमुच्चय**, आचार्य मेरुतुंगकृत **षड्दर्शननिर्णय**, जिनदत्तसूरि के '**विवेक-विलास**', अज्ञातकर्तृक '**सर्वसिद्धांत प्रवेशक**' आदि सभी पश्चात्वर्ती आचार्यों को लें, उन सभी की कृतियों में दर्शन के क्षेत्र में आचार्य हरिभद्र के **षड्दर्शनसमुच्चय**, जैसी उदारता, निरपेक्षभाव एवं समन्वयवादी दृष्टिकोण का पूर्णतः अभाव परिलक्षित होता है ।

अपने परवर्ती ग्रंथों में वे अन्य परम्पराओं और उनके प्रवर्तकों के प्रति अत्यन्त शिष्ट भाषा का प्रयोग करते हैं तथा उनके प्रति बहुमान सूचित करते हैं । अपने ग्रंथ 'शास्त्रवार्त्ता समुच्चय' के प्रारम्भ में ही ग्रंथ-रचना का उद्देश्य स्पष्ट करते हुए वे लिखते हैं—

यं श्रुत्वा सर्वशास्त्रेषु प्रायस्तत्त्वविनिश्चयः ।
जायते द्वेषशमनः स्वर्गसिद्धिसुखावहः ॥

अर्थात् इसका अध्ययन करने से अन्य दर्शनों के प्रति द्वेष-बुद्धि समाप्त होकर तत्त्व का बोध हो जाता है । इस ग्रंथ में वे कपिल को दिव्य पुरुष एवं महामुनि के रूप में सूचित करते हैं :—

कपिलो दिव्यो हि स महामुनिः (शास्त्रवार्त्तासमुच्चय, २३७)

इसी प्रकार वे बुद्ध को भी अर्हत्, महामुनि, सुवैद्य आदि विशेषणों से अभिहित करते हैं :—

यतो बुद्धो महामुनिः सुवैद्यवत् (शास्त्रवार्त्तासमुच्चय, ४६५-६६)

यहाँ हम देखते हैं कि जहाँ एक ओर अन्य दार्शनिक अपने विरोधी दार्शनिकों का खुलकर परिहास करते हैं, यथा-न्यायदर्शन के प्रणेता महर्षि गौतम को गाय का बछड़ा या बैल और महर्षि कणाद को उल्लू कहते हैं, वहीं दूसरी ओर हरिभद्र अपने विरोधियों के लिए महामुनि और अर्हत् जैसे सम्मानसूचक विशेषणों का प्रयोग करते हैं । इस प्रकार आचार्य हरिभद्र ने अन्य परम्पराओं के प्रति जिस शिष्टता और आदरभाव का परिचय दिया है, वह हमें जैन और जैनेतर किसी भी परम्परा के अन्य ग्रंथों में उपलब्ध नहीं होता ।

आचार्य हरिभद्रसूरि ने ईश्वरवाद की अवधारणा में भी कुछ महत्त्वपूर्ण तथ्यों को देखने का प्रयास किया हैं । उन्होंने ईश्वर कर्त्तृत्ववाद की अवधारणा को अपने ढंग से स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है । वे कहते हैं कि जो व्यक्ति आध्यात्मिक निर्मलता के फलस्वरूप अपने विकास की उच्चतम भूमिका को प्राप्त हुआ हो वह असाधारण आत्मा है और वही ईश्वर या सिद्ध पुरुष है । उस आदर्श स्वरूप को प्राप्त करने के कारण कर्त्ता तथा भक्ति का विषय होने से वह उपास्य है ।[१] इस कथन से स्पष्ट है कि वे मानव मन की शरणागति की मूलभावना में कसी तरह का ठेस नहीं पहुँचाना चाहते, बल्कि ईश्वरवादी अवधारणा का समन्वयात्मक दृष्टि से विवेचन करते हैं । इसके साथ ही हरिभद्र यह भी मानते हैं कि प्रत्येक जीव तत्त्वतः अपने शुद्ध रूप में परमात्मा और भविष्य का निर्माता है और इस दृष्टि से यदि विचार करें तो वह 'ईश्वर' भी है और 'कर्त्ता'

भी है । इस प्रकार ईश्वर-कर्तृत्ववाद भी समीचीन सिद्ध होता है ।[२] उन्होंने सांख्य दर्शन के प्रकृतिवाद की समीक्षा करते हुए प्रकति को जैन परम्परानुसार कर्मप्रकृति माना है और समन्वयात्मक दृष्टिकोण रखते हुए प्रकृतिवाद (कर्म प्रकृति) को उचित ठहराया है, क्योंकि उसके (प्रकृति) वक्ता कपिल दिव्य-पुरुष व महामुनि हैं ।[३]

यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि अन्य दार्शनिक अवधारणाओं की समीक्षा का उनका प्रयत्न समीक्षा के लिए ही है । उन्होंने **शास्त्रवार्त्तासमुच्चय** में कहा भी है कि इस ग्रंथ का उद्देश्य अन्य परम्पराओं के प्रति द्वेष का उपशमन करना और सत्य का बोध करना है ।[४]

जैन परम्परा में साधना के अंगों के रूप में दर्शन (श्रद्धा), ज्ञान और चरित्र (शील) को स्वीकार किया गया है । हरिभद्र भी धर्म-साधना के क्षेत्र में इन तीनों का स्थान स्वीकार करते हैं, किन्तु वे मानते हैं कि न तो श्रद्धा को अन्धश्रद्धा बनना चाहिए, न ज्ञान को कुतर्क आश्रित होना चाहिए और न आचार को केवल बाह्य कर्मकाण्डों तक सीमित रखना चाहिए । वे कहते हैं कि 'जिन' पर मेरी श्रद्धा का कारण राग-भाव नहीं अपितु उनके उपदेश की युक्तिसंगतता है । हरिभद्र के अनुसार अन्धश्रद्धा से मुक्त होने के लिए तर्क एवं युक्ति को सत्य का गवेषक होना चाहिए, न कि खण्डन-मण्डनात्मक । खण्डन-मण्डनात्मक तर्क या युक्ति साधना के क्षेत्र में उपयोगी नहीं है । इस तथ्य की विस्तृत चर्चा उन्होंने अपने ग्रंथ **'योगदृष्टि समुच्चय'** में की है ।[५] वस्तुतः वे सम्यग्ज्ञान और तर्क में एक अन्तर स्थापित करते हैं । तर्क केवल विकल्पों का सृजन करता है, अतः उनकी दृष्टि में निरी तार्किकता आध्यात्मिक विकास में बाधक ही है ।

हरिभद्र के समस्त उपदेशात्मक साहित्य को देखने पर ऐसा लगता है कि श्रावक एवं मुनि आचार के सम्बन्ध में वे हमेशा सदाचार पर अधिक बल देते रहे हैं । उन्होंने मुख्यतया व्यक्ति की चारित्रिक निर्मलता और कषायों के शमन का निर्देश ग्रंथों में किया है । साधनागत विविधताओं के बीच समन्वय स्थापित करते हुए वे लिखते हैं कि- जिस प्रकार राजा के विभिन्न सेवक अपने आचार और व्यवहार में अलग-अलग होकर भी राजा के सेवक है, उसी प्रकार सर्वज्ञों द्वारा प्रतिपादित आचार पद्धतियाँ बाह्यतः भिन्न-भिन्न होकर भी तत्त्वतः एक ही हैं । सर्वज्ञों की देशना में नाम आदि का भेद होता है, तत्त्वतः भेद नहीं होता ।[६] वे पुनः कहते हैं कि ऋषियों के उपदेश की भिन्नता, उपासकों की प्रकृतिगत भिन्नता अथवा देशकालगत भिन्नता के आधार पर होकर तत्त्वतः एक ही होती है ।[७] उनकी दृष्टि में धर्म साधना का अर्थ है :-

अध्यात्मं भावना ध्यानं समता वृत्तिसंक्षयः ।
मोक्षेण योजनाद्योग एष श्रेष्ठो यथोत्तरम् ॥ योगबिन्दु, ३१

वस्तुतः हरिभद्र की मान्यता है कि व्यक्ति अपने जीवन में वासनाओं का कितना शमन कर सका है और उसके जीवन में समभाव और अनासक्ति कितनी सधी है ।

मुक्ति के संदर्भ में आचार्य हरिभद्र अन्य आचार्यों के समान यह अभिनिवेश नहीं रखते हैं कि मुक्ति केवल हमारी साधना पद्धति या हमारे धर्म से ही होगी । उनकी दृष्टि में मुक्ति केवल

हमारे धर्म में है- ऐसी अवधारणा ही भ्रान्त है। वे स्पष्ट रूप से कहते हैं कि :–

नाशाम्बरत्वे ना सिताम्बरत्वे, ना तर्कवादे न च तत्त्ववादे ।
ना पक्षासेवाश्रयेन मुक्तिः, कषायमुक्तिः किल मुक्तिरेव ॥

अर्थात् मुक्ति न श्वेताम्बर, न दिगम्बर, न तार्किक वाद-विवाद और न ही तत्त्वचर्चा से हो सकती है। किसी एक सिद्धान्त विशेष में आस्था रखने या किसी व्यक्ति विशेष की सेवा करने से भी मुक्ति असंभव है। मुक्ति तो वस्तुतः कषायों से मुक्त होने में है, मुक्ति का आधार कोई धर्म, सम्प्रदाय अथवा विशेष वेशभूषा आदि नहीं है बल्कि जो समभाव की साधना, वीतराग दशा को प्राप्त करेगा, वही मुक्त होगा। वे कहते हैं :–

सेयंबरो य आसंबरो य, बुद्धो य अहव अण्णो वा ।
समभावभावि अप्पा लहइ मुक्खं न संदेहो ॥

योगदृष्टिसमुच्चय में वे लिखते है :–

सदाशिवः परं ब्रह्म सिद्धात्मा तथेतेती च ।
शब्देस्तद् उच्यतेऽन्वर्थाद् एकं एवैवमादिभिः ॥८

अर्थात् सदाशिव, परमब्रह्म, सिद्धात्मा, तथागत आदि नामों में केवल शब्द भेद है, उनका अर्थ तो एक ही है। जो उस परमतत्त्व की अनुभूति कर लेता है उसके लिए यह शब्दगत समस्त विवाद निरर्थक हो जाते हैं।

आचार्य हरिभद्रसूरि में यद्यपि एक धार्मिक की श्रद्धा है, किन्तु वे श्रद्धा को तर्क विरोधी नहीं मानते हैं। वे स्पष्ट रूप से यह कहते है कि बुद्धि और तर्क का उपयोग केवल अपनी मान्यताओं की पुष्टि के लिए ही नहीं किया जाना चाहिए, अपितु सत्य की खोज के लिए किया जाना चाहिए –

आग्रही वत ! निनीषति युक्तिं तत्र यत्र तस्य मतिर्निविष्टा ।
निष्पक्षपातस्य तु युक्तिर्यत्र तत्र तस्य मतिरेति निवेशम् ॥९

अर्थात् आग्रही व्यक्ति अपनी युक्ति (तर्क) का भी प्रयोग वही करता है, जिसे वह सिद्ध अथवा खंडित करना चाहता है। जबकि अनाग्रही या निष्पक्ष व्यक्ति जो उसे युक्ति संगत लगता है, उसे स्वीकार करता है। सत्य के गवेषक एवं साधना के पथिकों को पूर्वाग्रहों से युक्त होकर विभिन्न मान्यताओं की समीक्षा करनी चाहिए और उनमें जो भी युक्ति संगत लगे उसे स्वीकार करना चाहिए। इस प्रकार वे शुष्क तार्किर्क न होकर सत्यनिष्ठ तार्किक थे।

अनेकान्तिक एवं समन्वयात्मक दृष्टि के कारण अन्य दर्शनों के गम्भीर अध्ययन की परम्परा का विकास सर्वप्रथम जैन दार्शनिकों ने किया है। ऐसा लगता है कि हरिभद्र ने समालोच्य प्रत्येक दर्शन का ईमानदारीपूर्वक गम्भीर अध्ययन किया था, क्योंकि इसके बिना वे न उन दर्शनों में निहित सत्यों को समझा सकते थे, न उनकी स्वस्थ समीक्षा ही कर सकते थे और न उनका

जैन मन्तव्यों के साथ समन्वय कर सकते थे। हरिभद्र अन्य दर्शनों के अध्ययन तक ही सीमित नहीं रहे, अपितु उन्होंने उनके कुछ महत्त्वपूर्ण ग्रंथों पर तटस्थ भाव से टीकाएँ भी लिखी। दिङ्नाग के '**न्यायप्रवेश**' पर उनकी टीका महत्त्वपूर्ण मानी जाती है। पतञ्जलि के 'योगसूत्र' का उनका अध्ययन गंभीर प्रतीत होता है, जिसके आधार पर नवीन दृष्टिकोण से उन्होंने **योगदृष्टिसमुच्चय**, **योगबिन्दु**, **योगविंशिका** आदि ग्रंथों की रचना की थी। इस तरह आचार्य हरिभद्र जैन-जैनेतर परम्पराओं के गंभीर अध्येता एवं व्याख्याकार भी है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि उदारचेता, समन्वयशील और सत्यान्वेषी आचार्यों में हरिभद्र के समतुल्य किसी अन्य आचार्य को खोज पाना कठिन है। अपनी इन्हीं विशेषताओं के कारण भारतीय दार्शनिकों के इतिहास में वे अद्वितीय व अनुपम हैं।

संदर्भ :

१. ततश्चेश्वर कर्तृत्त्ववादोऽयं युज्यते परम्।
सम्यग्न्यायाविरोधेन यथाऽऽहुः शुद्धबुद्धतः॥
ईश्वरः परमात्मैव तदुक्तव्रतसेवनात्।
यतो मुक्तिस्ततस्तस्याः कर्त्ता स्यादुणभावतः॥
तदनासेवनादेव यत्संसारोऽपि तत्त्वतः।
तेने तस्यापि कर्तृत्वं कल्प्यानं न दुष्यति॥ **शास्त्रवार्त्तासमुच्चय**, २०३-२०५॥

२. परमैश्वर्ययुक्तत्वान्मतः आत्मैव चेश्वरः।
स च कर्त्तेति निर्दोषः कर्तृवादो व्यवस्थितः॥ **शास्त्रवार्त्तासमुच्चय** २०७॥

३. प्रकृतिं चापि सन्न्यायात्कर्मप्रकृतिमेव हि॥
एवं प्रकृतिवादोऽपि विज्ञेयः सत्य एव हि।
कपिलोक्तत्वतश्चैव दिव्यो हि स महामुनिः॥ **शास्त्रवार्त्तासमुच्चय** २३६, २३७॥

४. (क) **शास्त्रवार्त्तासमुच्चय** २१।
(ख) **योगदृष्टिसमुच्चय**, ८६-१०१।

५. **योगदृष्टिसमुच्चय**, ८६-१०१।

६. **योगदृष्टिसमुच्चय**, १०७-१०९।

७. **योगदृष्टिसमुच्चय** १३८।

८. **योगदृष्टिसमुच्चय**, १३०।

९. योगशतकम्-गाथा ८९, की स्वोपज्ञ टीकान्तर्गत।

□ □ □

अलंकारदप्पण : प्राकृत भाषा का एकमेव अलंकारग्रन्थ – परिचय और कुछ विशेषताएँ

पारुल मांकड

उपलब्ध संशोधन-सामग्री के अनुसार संस्कृत-अलंकारशास्त्र की धारा संभवतः भरतमुनि से भी पूर्व प्रवाहित हुई है। अन्य भारतीय प्रादेशिक भाषाओं में जो भी ग्रंथ अलंकारशास्त्र के संदर्भ में रचे गये हैं वे सभी संस्कृत-काव्यशास्त्र का ही अनुमोदन-अनुसरण और अनुप्रवर्तन करते हैं।

पालि और प्राकृत भाषा भी संस्कृत की ही तरह प्राचीन है, किन्तु यह साश्चर्य उल्लेखनीय है कि इन भाषाओं का अलंकारशास्त्र में बहुत कम योगदान रहा है। इस संदर्भ में प्राकृत में 'अलंकारदप्पण'[१] (= अ० द०) और पालि में 'सुबोधालंकार'[२] नामक ग्रन्थ प्राप्त होते हैं।

जैनाचार्यों के द्वारा काव्यशास्त्र में योगदान के अन्तर्गत 'अलंकारदप्पण' संभवतः प्रथम ग्रन्थ है। वैसे आचार्य हेमचन्द्र से जैनाचार्यों की लेखनी ने भी काव्यशास्त्र को अपनाना शुरु किया था, किन्तु हेमचन्द्र से ले कर भावदेव सूरि तक सभी ग्रन्थों की भाषा संस्कृत ही रही है। अलंकारदप्पण प्राकृत का तो एकमात्र अलंकारग्रन्थ है ही, किन्तु पूरा संभव है कि प्रस्तुत रचना भी जैनाचार्य की ही रही होगी, क्योंकि आरंभ में श्लेषालंकार के माध्यम से कविता की प्रशंसा और 'श्रुतदेवता' की वंदना की गई है।

सुंदर पअअ-विण्णासं विमलालंकार-रेहिअ-सरीरं।
सुइ-देविअं च कव्वं च पणविअ पवर-वण्णड्ढं ॥[३]

अ० द० के कर्ता के विषय में अद्यावधि कोई जानकारी उपलब्ध नहीं हो पाई है, फलतः अ० द० अज्ञातनामा कृति सिद्ध होती है। डॉ० ह० भायाणी का अनुमान है कि अ० द० पर रुद्रट के 'काव्यालंकार' का प्रभाव है, अतः यह ग्रन्थ ९वीं शताब्दी के उत्तरार्ध का हो सकता है। अपभ्रंश भाषा के कवि स्वयंभू ने व्याकरण, छन्द और अलंकार पर अपनी लेखनी चलाई थी इसलिए प्रस्तुत रचना स्वयंभू कवि की हो सकती है।[४] परंतु ठोस प्रमाणों के अभाव में निश्चित रूप से कुछ भी सिद्ध नहीं किया जा सकता।

अन्तरंग अभ्यास से पता चलता है कि अ० द० के कर्ता अलंकारपरंपरा के भारी प्रशंसक

व समर्थक भी रहे होंगे। यदि इनका समय हेमचन्द्र से पूर्व मानें, जैसा कि डॉ० भायाणी ने अनुमान किया है (ई० स० ९वीं) परंतु आचार्य हेमचन्द्र ने अपने काव्यानुशासन में अहीं भी अ० द० को निर्दिष्ट नहीं किया यह आश्चर्य का विषय है। वैसे तो हेमचन्द्र ने सभी पूर्वाचार्यों के ग्रन्थों को नज़रअंदाज़ किया ही है। और भी हेमचन्द्र प्राकृत भाषा (=जैनीं वाचं) के भारी समर्थक, प्रशंसक और सारस्वत भी है। अ० द० में प्राप्त 'असम' अलंकार संस्कृत अलंकार ग्रन्थों में सर्व प्रथम शोभाकरमित्र के अलंकाररत्नाकर (ई० स० १२वीं शती) में भी मिलता है। तो ऐसी प्रावाहिक परिस्थिति में हम अ० द० का समय ई० स० ९ से लेकर १३वीं तक अनुमानित कर सकते हैं।

प्रस्तुत ग्रन्थ में १३४ गाथाओं में शब्द और अर्थ के अलंकारों का निरूपण भामह, दण्डी, रुद्रट, (संभवतः) भोज जैसे पूर्वाचार्यों का अनुसरण करते हुए किया गया है। शब्दार्थालंकारों का कोई निश्चित क्रम या वर्गीकरण (=classification) प्राप्त नहीं होता है। अलंकारशास्त्र की परिभाषा में इसको **प्रकरणग्रन्थ** कहा जाना चाहिए क्योंकि काव्यशास्त्र के विविध तत्त्वों में से सिर्फ शब्द और अर्थ के कुल मिलाकर ४२ अलंकारों का एक ही अलंकार तत्त्व का प्रतिपादन हुआ है।[५]

प्रकरणग्रन्थ-खास करके शब्दार्थालंकारों पर लिखने का प्रारंभ संभवतः उद्भर ने किया है। उद्भट के 'काव्यालंकारसार' की ही प्रणाली का अनुसरण और कुछ हद तक अनुमोदन करते हुए रुय्यक का 'अलंकारसर्वस्व' रचा गया था। तत्पश्चात् शोभाकरमित्र का 'अलंकाररत्नाकर' और दीक्षितजी का 'कुवलयानन्द' तथा विश्वेश्वर का 'अलंकारकौस्तुभ' रचा गया है। इन ग्रन्थों में अ० द० की गौरवपूर्ण कडी भी निःसंदेह जुड़ती है। आगे चलकर हम इस परंपरा में अलंकार और उनके चढाव-उतार की चर्चा को भी शामिल करेंगे।

अ० द० के प्रारंभ में 'अलंकारपरंपरा' की स्तुति की है।

अच्चंत-सुंदरं पि हु णिरलंकारं जणंमि कीरंतं।
कामिणिमुहं व कव्वं होइ पसण्णं पि विच्छाअं॥

—(अ० द० ३)

काव्य और सुन्दरी का मुख भले ही सुन्दर और प्रसन्न हो, किन्तु अलंकाररहित हो तो लोगों को शोभारहित ही लगते हैं।[६]

अ० द० अलंकारों की अनन्तता दंडी की तरह ही मानता है।[७]

अ० द० ने अलंकारों का आरंभ उपमा से किया है। उपमालक्षण पर भामह का प्रभाव स्पष्ट है।[८] अ० द० ने उपमा के १७ भेद निरूपित किये हैं।[९] अ० द० के उपमा भेद प्रतिवस्तूपमा, असमोपमा, केशोपमा आदि भेद अनुगामी आलंकारिकों में स्वतंत्र अलंकार के रूप में निरूपित किये हैं। असमोपमा ही शोभाकर और जगन्नाथ में 'असम' नामक स्वतंत्र अलंकार में परिवर्तित हुआ है।[१०] अ० द० के अन्य उपमा भेदों पर दण्डी का प्रभाव स्वयं स्पष्ट है। अ० द० (३६)

अतिशयोक्ति को ही अतिशयोपमा मानता है। उदाहरण में व्यतिरेक, भ्रान्तिमान्, निगरणमूलक अतिशयोक्ति का संमिश्रण है। अ० द० की गुणकलिता किंचित् नवीन है। (अ० द० १७) एकक्रमा, ललितोपमा, और विगुणोपमा अ० द० की सर्वथा नवीन उपलब्धि है। (३९-४०) रूपक पर भामह का (४३, २/११) प्रभाव है उसी प्रकार उत्प्रेक्षा पर भी उनका (अ० द० ११२, २/९३) प्रभाव है।

अ० द० में प्राप्त अतिशय अलंकार के उदाहरण से मीलित अलंकार की प्रतीति होती है। दण्डी के का० द० (२/२१५) के अतिशयोक्ति का उदाहरण कुछ इस तरह का ही है। अन्तर इतना है कि यहाँ भेदकतत्त्व मधुमक्खी का प्रतिपादन है, इससे नायिका के कपोल और स्वर्णमय चंपक पुष्प का भेद परखा जाता है। (अ० द० ५५)

अपह्नुति, दीपक, और अर्थान्तन्यास अलंकार भामह के उक्त लक्षणों पर आधारित है। (अ० द० ८८, ८९, का० लं० २/२१, अ० द० ४५-४६, का० लं० २/२५-२६, अ० द० ४२, भामह २/७१)

परिकर को अ० द० **अन्यपरिकर** नाम से निर्दिष्ट करते हैं (अ० द० ८३)। पूर्व कथित सदृश का वैसा कथन करना परिकर अलंकार है। वैसे यह लक्षण सर्वथा अलग है। अन्य आलंकारिकों ने परिकर का लक्षण साभिप्रायविशेषण माना है। इतना उल्लेखनीय है कि अर्थान्तरन्यास के बिलकुल विपरीत स्वरूप को अ० द० ने 'परिकर' माना है। 'अण्णो' से अन्य परिकर ही समझा जा सकता है।

अ० द० ने समासोक्ति का निर्देश नहीं किया, परंतु बहुत संभव है कि अ० द० के भावालंकार का दूसरा प्रकार जो अन्यापदेश नामक है, वही समासोक्ति है। भले ही उन्होंने समासोक्ति का नामनिर्देश न किया हो। अ० द० अन्य व्यपदेश में एक से दूसरा अर्थ-अभिप्राय निकलने की बात करते हैं। (अ० द० ४० ए) अमृतानन्दयोगी समासोक्ति का दूसरा नाम अन्यापदेश बताते हैं।[११]

अ० द० में व्यतिरेक अलंकार का स्वरूप एकदम भिन्न है। उपमेय उपमान से ज्यादा उत्कृष्ट हो—यह प्रचलित स्वरूप से काफ़ी अलगरूप अ० द० कार ने निर्धारित किया है। तदनुसार जाति अर्थात् स्वभावोक्ति अलंकार में कुछ विशेषता हो तो व्यतिरेक अलंकार होता है।[१२]

अ० द० तुल्ययोगिता को संयोगिता नाम से पहचानता है। स्वरूपसाम्य तुल्ययोगिता से ही मेलजोल रखता है। एक ही काल और क्रिया में न्यून का विशिष्ट के साथ गुणसाम्य जो स्थापित किया जाता है, वह संयोगिता है।[१३]

उपमारूपक को अ० द० में स्वतंत्र अलंकार माना गया है। यह अलंकार भामह और वामन में भी था, किन्तु वामन ने उसे संसृष्टि के अन्तर्गत रखा है। (का० लं० ३/३५ का० लं० सू० ४/३/३२)

विरोधमूलक वर्ग में अ० द० कार विरोध, विभावना और विशेषोक्ति ये तीन अलंकारों को स्वीकार करते हैं ।

विरोध में 'आभास' की कोई बात नहीं बताई हालाँकि 'आभास' ही विरोध का प्राण है । (७१) उदाहरण आभासात्मक विरोध का जरूर है । (७३)

अ० द० के अनुसार जहाँ गुण में वैकल्य हो किन्तु दूसरे गुण से उसका वैशिष्ट्य दिखाया जाय वहाँ विशेषालंकार कहा जाता है । (=विशेषोक्ति) (५०) यह विशेष या विशेषोक्ति, वामनादि की विशेषोक्ति से मिलती है । इसमें फलाभाव का कोई निर्देश नहीं, इसलिए परवर्ती आलंकारिक इसे रूपकालंकार का एक भेद ही समझते हैं । जिसे दृढारोपरूपक कहा जा सकता है ।[१४]

तर्कन्यायमूलक वर्ग में अनुमान और हेतु अलंकार समाविष्ट होते हैं । हेतु का दूसरा नाम काव्यलिंग भी है । मम्मटादि हेतु को काव्यलिंग में ही अंतर्भावित करते हैं । हेतु, सूक्ष्म और केश को भामह ने इनकार दिया है । अ० द० कार भी उक्त अलंकारों का स्वीकार नहीं करते । अ० द० कार का अनुमान लक्षण भोज से मिलता-जुलता हैं ।[१५]

वाक्यन्यायमूलक वर्ग में यथासंख्य अलंकार प्रथम क्रम में आता है । अ० द० के मत में जब क्रम से पदार्थ निबद्ध किये जाते हैं तथा यथासंख्य सिद्ध होता है ।

अ० द० ने जो पर्याय अलंकार दिया है (६४) वह भामह और रुद्रटोक्त पर्यायोक्त ही है । (३/८ और ७/४२) मम्मट रुय्यकादि तो पर्याय से क्रम से वर्णित वस्तु समझते हैं । इस तरह यहाँ भी अ० द० प्राचीन परंपरा को ही ज़ारी करता है ।

लोकन्यायमूलक वर्ग में मीलितादि अलंकारों का समावेश होता है, किन्तु अ० द० इनका स्वीकार नहीं करता ।

गूढार्थप्रतीतिमूलक वर्ग में से अ० द० कार स्वभावोक्ति और उदात्त अलंकार को स्वीकार करते हैं । अ० द० कार स्वभाव-वर्णन को 'जाई' कहते हैं । जाति (६१)के उदाहरण सिर-धरिअ-कलसा० इत्यादि में ग्रामकन्याओं की गति का सहज वर्णन है । (६२)

उदात्त के दो भेद अ० द० बाताता है—रिद्धि उदात्त और महानुभाव के वर्णन । (९२)

यही पूर्वाचार्यों का ऋद्धिमत् उदात् है । दूसरा उदात्त अंगभूत महापुरुषों का वर्णन है । 'किन्तु यहाँ रस के अंगभूत होने का निर्देश नहीं ।

चित्तवृत्तिमूलक अलंकार में रसवत्, प्रेय, ऊर्जस्वी और समाहित का समावेश होता है । अ० द० भामह-दण्डी इत्यादि पूर्वाचार्यों के मत का अनुसरण करता है और प्रधान रस, भाव, भावाभास तथा शम को अनुक्रमेण रसित, प्रेमातिशय, ऊर्जा और समाहित नाम से निर्दिष्ट किया है । अ० द० का 'रसिअ' का लक्षण भामहानुसारी हैं—रसवद्दर्शित स्पष्टशृंगारादिरसं यथा । (३।६) और फुड सिंगाराइ-रसो सो रसिओ-(६४) ऐसे ही प्रेमातिशय (८९), ऊर्जा (८७) तथा (७१) आदि का निरूपण है ।

ऊर्जस्वी अलंकार के भामहादि के उदाहरणों में गर्व का भाव व्यक्तिगत है, ताकि अ० द० के उदाहरण में वह सामूहिक गर्व है । यह भाव अनौचित्यप्रेरित है, यह बात अ० द० ने नहीं बताई ।

अचानक बढ़िया सहाय मिलने से समाहित होता है । (७१) पूर्वाचार्यों का यह समाहित ही कार्य सुकरतारूप समाधि का बीज है ।

एक और तथ्य ध्यानार्ह कि रसवत्, आदि चतुर्विध अलंकार रसादि मुख्यरूप में प्रधानरूप में हो तभी रहते है । ध्वनिवादी की तरह गौणरूप में कभी नहीं । यहाँ भी अ० द० पूर्वाचार्यों की परंपरा का अनुसरण करता है ।

मिश्रालंकार वर्ग में संसृष्टि और संकर अलंकार समाविष्ट होते हैं । अ० द० में संसृष्टि की स्वीकृति है । (११५)

इन अलंकारों के अलावा आशी, भाव, रोध, एवं उत्तरालंकार तथा उद्भेद, व्यपदेशस्तुति, वलित और आदर्श को भी अ० द० में निर्दिष्ट किया गया है ।

भाव में गूढ भाव रुद्रट के भाव पर आधारित है और अन्यापदेश भाव समासोक्ति ही है ।

रोध को आक्षेप से पृथक् नहीं माना जा सकता । (५०)

उत्तर (९६) में गूढोत्तर को अनुगामी अप्पय्य दीक्षित ने स्वीकारा है ।

उद्भेद को भोज और नरेन्द्रप्रभ भाविक का ही एक भेद बताते हैं । (१२३)

अ० द० का० आदर्श का उदाहरण अपह्नुति से मिलता है ।

व्यपदेश व्याजस्तुति का ही भेद प्रतीत होता है ।

अ० द० कार अनुप्रास और यमक दो शब्दालंकार भी निर्दिष्ट करते हैं । उन्होंने शब्दालंकारों को अर्थालंकारों के साथ साथ ही निरूपित किये हैं, अलग से नहीं ।

फलश्रुति

अ० द० की अलंकार संबन्धी विशेषताएँ निबद्ध करने के बाद निम्नोक्त मुद्दे सामने उभरते हैं ।

१. अ० द० पर भामह, उद्भट और रुद्रट का प्रभाव स्वयंस्पष्ट है ।

२. अ० द० का समय निश्चित रूप से निर्धारित नहीं किया जा सकता, फिरभी भोज के सरस्वतीकण्ठाभरण से अ० द० का वैचारिकसाम्य देखा जा सकता है ।

३. ध्वनि संबन्धी कोई ईषत् उल्लेख या चर्चा का इसमें अभाव है ।

४. अ० द० में संभवत० अपने उदाहरण के साथ अन्य के उदाहरण भी उट्टंकित है, आम तौर पर व्यावहारिक उद्धरण प्रतीत होते हैं ।

५. अ० द० के अनन्वयोपमा, असम जैसे कई उपमा प्रकार मम्मट, शोभाकर इत्यादि के अलंकारग्रन्थों में स्वतंत्र सादृश्यमूलक अलंकार के रूप में स्वीकृत हुए ।

६. अ० द० के गुणकलिता आदि उपमाभेद सर्वथा नवीन है । कुछ भेद की पश्चात् काल में नामादि से रद्दोबदल हुई है । जैसे अ० द० की शृंखलोपमा ही रसनोपमा है । गुणकलिता, विगुणरूपा, श्रुतिमिकिता, एकक्रमा, तलिलप्सा आदि अ० द० के उपमाभेद अनुगामियों ने रद्द कर दिये हैं । अ० द० की विकल्पिता ही कल्पितोपमा है । आगे देखा कि, विशेषालंकार वास्तव में एक गुणहानिरूपा विशेषोक्ति है ।

७. द्रव्योत्तर आदि उत्तर के भेद और आदर्श अलंकार अ० द० तक ही सीमित रहें ।

८. 'अलंकार परंपरा' की यह अनूठी कृति है । अलंकार के व्यापक अर्थ 'काव्यसौन्दर्य' को अ० द० भी मानता-जानता है ।

इति शिवम् ।

अ० द० में उल्लिखित अलंकारों की वर्गानुसार तालिका

अलंकारवर्ग	अ० द० में निरूपित अलंकार	विशेषतः उल्लेखनीय
१. शब्दालंकार	अनुप्रास, बहुश्लेष, यमक	अर्थालंकारों के बीच में ही उसकी चर्चा अलग से निर्देश नहीं ।
अर्थालंकार		
सादृश्यमूलक	उपमा (१७ प्रकार), रूपक, अपह्नुति, प्रतिवस्तूपमा, (प्रकाररूप),	अनन्वय, प्रतिवस्तूपमा को अ०द०कार उपमा में ही अंतर्भावित करना चाहते हैं । अ० द०
की अतिशयोपमा		
	उत्पेक्षा, अतिशय, दीपक, अर्थान्तरन्यास, संदेह, परिकर, सहोक्ति, समासोक्ति (अन्यापदेश, भाव का दूसरा प्रकार), अप्रस्तुतप्रशंसा, व्यतिरेक, रोध, आक्षेप, (निदर्शन), संयोगिता (तुल्ययोगिता), श्लेषा, व्यपदेश स्तुति, उपमारूपक, उत्प्रेक्षावयव	ही अतिशयोक्ति है ।

२.	विरोधमूलक	विरोध, विभावना, विशेष	अ० द० कार का विशेष प्राचीनों का दृढारोपरूपक प्रकार ही है ।
३.	शृंखलामूलक	नहीं है —	—
४.	तर्कन्यायमूलक	अनुमान (आदर्श ?)	हेतु का भामह की ही तरह अस्वीकार
५.	वाक्यन्यायमूलक	यथासंख्य, पर्याय, परिवृत्ति	पर्याय अलंकार पर्यायोक्त जैसा ही है, परंतु क्रमशः निरूपण का कोई निर्देश नहीं ।
६.	लोकन्यायमूलक	नहीं है ।	—
७.	गूढार्थप्रतीतिमूलक	जाति (स्वभावोक्ति), उदात्त	इस वर्ग के 'सूक्ष्म' का उल्लेख नहीं । कदाचित् भामह का प्रभाव रहा होगा ।
८.	चित्तवृत्तिमूलक	रसित, प्रेमातिशय, ऊर्जा, समाहित	स्वरूप भामह और दण्डी इत्यादि पूर्वाचार्यों जैसा ही है ।
	मिश्र	संसृष्टि	भाव, उद्भेद, वलित, उपमारूपक, उत्प्रेक्षावयव तथा आशी, नामक ओर भी अलंकार है ।

तालिका-: २

उपमाप्रकार

नाम	विशेषतः उल्लेखनीय
१. प्रतिवस्तूपमा, २. गुणकलिता, ३. असमा, ४. माला, ५. विगुणरूपा, ६. संपूर्णा, ७. गूढा, ८. शृंखला, ९. श्लेषा, १०. ईषद्विकला, ११. अन्योन्या, १२ प्रशंसा, १३. तल्लिप्सा, १४. निन्दिता, १५. अतिशया, १६. श्रुतिमीलिता, १७. विकल्पिता,	प्रतिवस्तूपमा और अतिशया तथा अन्योन्या को अनुगामी प्रतिवस्तूपमा, अतिशयोक्ति और उपमेयोपमा नाम से स्वतंत्र अलंकार के रूप में निर्देश करते हैं । शृंखला ही रसनोपमा है। अ० द० की गुणकलिता गूढा और तल्लिप्सा आदि उपमाभेद सर्वथा नवीन है । प्रतिवस्तूपमादि दण्डी में भी है । अ० द० की असमोपमा 'असम' नामक अलंकार के रूप में शोभाकर में तो थी ही,

जगन्नाथ में भी वह असमालंकार नाम से स्वीकृत है ।

पादटीप :

१. अगरचन्द नाहटा-प्राकृत भाषा का एकमात्र आलंकारिक ग्रन्थ : अलंकारदप्पण' –श्री रत्नमुनि स्मृतिग्रन्थ, पृ० ३९४ गुरुदेव स्मृतिग्रंथ प्रकाशक समिति, जैन भवन, लोहामंडी, आगरा, ई० स० १९६४ ।

२. भरतसिंह उपाध्याय—पालि साहित्य का इतिहास पृ० ५५९ हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग - १९४९. और राहुल सांकृत्यायन-पालि साहित्य का इतिहास, हिन्दी समिति, लखनऊ, १९६३

३. See p-7, Alaṃkāra-Dappaṇa ed. H. C. Bhayani, L. D. Series-120, L. D. Institute of Indology, Ahmedabad 1999.

४. Dr. H. Bhayani, अ० द० Introduction-P. 102.

५. द्रष्टव्य तालिका नं० १ ।

६. तुलना करें—वामन काव्यालंकार ३।१/२ वृत्ति सं० केदारनाथ शर्मा, चौखम्बा अमरभारती प्रकाशन वाराणसी, १९९७ ।

७. अ० द० -४ ।

८. अ० द० ११, भामह काव्यालंकार २/३० ।

९. तालिका नं० २ ।

१०. अलंकाररत्नाकर चू० १०, रसगंगाधर पृ० ९६६ ।

११. अलंकारसंग्रह, ५/२९ ।
अडियार लायब्रेरी, मद्रास ।

१२. होइ सहाओ जाई वइरेगो उण-विसेस-करणेण । —अ० द० /६१ ।

१३. गुणसरिस-त्तण तणहाइ जत्थ हिणस्स गुरुएण समं ।
होइ समकाल किरिया जा सा समजोइआ साहु ॥ अ० द० /१०५ ।

१४. अलंकारसर्वस्व पृ० ४७७, सं० रेवाप्रसाद द्विवेदी, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, ई० स० १९७२ ।

१५. अणुमाणं लिङ्गेण लिङ्गी साहिज्जए अ० द० १०८ ।

अन्य संदर्भग्रन्थ

१. अलंकाररत्नाकर, सं० सी देवधर, ओरियन्टल बुक एजन्सी, पूणे, १९४२ ।

२. अलंकारसंग्रह, अड्या लायब्रेरी, मद्रास ई० स०

३. काव्यालंकार, भामह, सं० देवेन्द्रनाथ शर्मा, राष्ट्रभाषा परिषद, पटना १९६२ ।

४. काव्यालंकार, रुद्रट, सं० रामदेव शुक्ल चौखम्बा, वाराणसी, ई० स० १९६६ ।

५. रसगंगाधर, पं० मदनमोहन झा, चौखम्बा, विद्याभवन, वाराणसी, ई० स० १९६९ ।

जैनों की सैद्धांतिक धारणाओं में क्रम-परिवर्तन

नंदलाल जैन

जैन धर्म और दर्शन के अध्ययन से ऐसा लगता है कि जन्मना जैन बने रहना अत्यंत सरल है, किन्तु कर्मणा जैन बन पाने का प्रयत्न ऊहापोह का शिकार बनता दिखता है। विभिन्न युगों में धर्म की परिभाषाओं के विकास का अध्ययन करने पर ज्ञात होता है कि यह क्रियाकांड, ज्ञानयुग, भक्तियुग एवं वैज्ञानिक युग के परिवर्तनों से गुजरा है। इसमें 'सर्वजन हिताय' से 'व्यक्ति हिताय' का चरण आया और अब फिर 'बहुजन हिताय' की झलकियाँ दिखने लगी हैं। वस्तुत: धर्म का जो स्वरूप ज्ञानवादी और वैज्ञानिक युगों में निखरता दिखा है, उसने नयी पीढ़ी को आकर्षित किया है। इससे नई पीढ़ी की ओर परम्परावादियों की आँखे भी उठी हैं, पर वह उसकी परवाह किये बिना धार्मिक मान्यताओं का विश्लेषणात्मक परीक्षण करते हुए उसे व्यावहारिक और वैज्ञानिक रूप देने में लगी हुई है।

कार्ल सागन ने बताया है कि पुरातन धार्मिक मान्यताओं या विश्वासों के मूल में बौद्धिक छानबीन के प्रतिरोध की धारणा पाई जाती है। यही वृत्ति वर्तमान धार्मिक अनास्था का कारण है। इसी कारण, गैलीलियो, स्पिनोजा, व्हाइट आदि जिन पश्चिमी अन्वेषकों ने ऐसी खोजें कीं जो प्रचलित धार्मिक मान्यताओं के विरोध में थीं, उन्हें दंडित किया गया। यह भाग्य की बात है कि विश्व के पूर्वी भाग में ऐसा नहीं हुआ। परंतु यह माना जाता है कि अनेक प्राचीन धार्मिक मान्यतायें प्रचलित सामाजिक, राजनीतिक (जैसे राजा के दैवी अधिकार आदि) एवं आर्थिक (गरीब और धनिकों का अस्तित्व आदि) स्थिति को यथास्थिति बनाये रखने में सहायक रही हैं। जो धर्मसंस्थायें इनमें होने वाले परिवर्तनों के प्रति संवेदनशील नहीं होतीं, वे जीवन्त और गतिशील नहीं रह पातीं। जो धर्मसंस्थायें बौद्धिक एवं वैज्ञानिक विश्लेषण पर जितनी ही खरी उतरती हैं, वे उतनी ही दीर्घजीवी होती हैं। उनमें उतना ही सत्यांश होता है।

आधुनिक तर्कसंगत विश्लेषण एवं अनुगमन के युग में सागन का मत जैन मान्यताओं पर पर्याप्त मात्रा में लागू होता है। यही कारण है कि उसकी मान्यताओं में समय-समय पर परिवर्धन, विस्तारण एवं संक्षेपण हुए हैं और वह युगानुकूल बना रहा है। इस दृष्टि से यह सचमुच आश्चर्य की बात है कि अनेक धार्मिक संत और विद्वान् धार्मिक सिद्धांतों की त्रैकालिक सत्यता एवं अपरिवर्तनीयता के मापदण्ड को आधार बनाकर उसमें वैज्ञानिकता, परिवर्तनशीलता या संवर्धनशीलता की उपेक्षा कर देते हैं। अभी एक पुस्तक प्रकाशित हुई है, 'साइंटिफिक

कन्टेंट्स इन प्राकृत कैनन्स' । इसमें धार्मिक साहित्य में वर्णित विचार, आचार एवं घटनाओं में क्रमपरिवर्तन, नामभिन्नता, नाम एवं क्रमभिन्नता, संख्यात्मक एवं अवधारणात्मक भिन्नता तथा भौतिक निरीक्षणों की विविधता के तीस संदर्भ दिये हैं । यह भिन्नता परिवर्तन, संशोधन, विस्तारण या संक्षेपण की प्रतीक तो मानी ही जानी चाहिए । शास्त्रपारंगत विद्वानों से चर्चा करने पर यह मनोरंजक तथ्य सामने आता है कि वे उन भिन्नताओं को परिवर्तन मानने को तैयार ही नहीं लगते । आज का विद्यार्थी जानता है—जहाँ प्रवाह नहीं, वहाँ प्रगति नहीं । फिर भी, इन भिन्नताओं के परिप्रेक्ष्य में वे ज्ञान को प्रवाह रूप मानने को तैयार नहीं है । इसी कारण विश्वधर्म की क्षमता (प्रशास्ता, पवित्र पुस्तक, उत्तमता) रखने वाले जैन तंत्र के अनुयायी इस भूतल पर केवल ०.००४ प्रतिशत ही बने हुए हैं । किसी भी तंत्र की प्रवाहशीलता को न मानना उसकी प्रगति में बाधक ही सिद्ध होता है ।

इसी पृष्ठभूमि में कुछ ऐसे प्रकरण प्रस्तुत किये जा रहे हैं जो धार्मिक आचार-विचारों से सम्बन्धित है और जिनसे यह प्रवाह अवरुद्ध या प्रगत हुआ होगा । यह अवरोध या प्रगति ही इस तंत्र की वैज्ञानिकता को व्यक्त करती है और इसके सिद्धांतों को विचारणीय परीक्षण के क्षेत्र में ला देती है । इन प्रकरणों में परिवर्तन का आधार क्या रहा होगा, और क्रम-परिवर्तन का क्या प्रभाव पड़ा है, उसके संबंध में कुछ विचार-बिंदु यहाँ प्रस्तुत किये जा रहे हैं ।

१. ज्ञान-दर्शन-चारित्र या दर्शन-ज्ञान-चारित्र ?

आ० उमास्वाति के तत्त्वार्थ सूत्र का पहला सूत्र है-'सम्यक्-दर्शन-ज्ञान-चारित्राणि मोक्षमार्ग:' । यहाँ श्रद्धापूर्वक दर्शन, ज्ञान और चारित्र को प्रशस्त माना गया है । यह तीसरी-चौथी सदी के प्रारंभ का ग्रन्थ है । उसके पूर्ववर्ती स्थानांग (३.५०९ एवं ३.४८९) आदि सूत्रों के तथा षट्खंडागम के समान प्राचीन कर्मवाद के ग्रंथों में ज्ञान-दर्शन-चारित्र का क्रम बताया है । इस प्राचीन क्रम के परिवर्तन का आधार क्या हो सकता है ? क्या इसे बुद्धिवाद पर व्यक्तिवाद के प्रारंभ की विजय माना जाए जिसमें दर्शन के कारण (नि:शंकित अंग ?) ज्ञान पूर्वाग्रही हो जावे । दर्शन का पहला अंग ही जिज्ञासा, शंका या संदेह का ऊर्ध्वगमन है । इसे बुद्धिवादी जगत् स्वीकार करने में अपने को असमर्थ पाता है । मुझे लगता है कि ज्ञान-दर्शन-चारित्र का क्रम अधिक मनोवैज्ञानिक है । ज्ञानी की श्रद्धा भी बलवती होती है ।

२. मन-वचन-काय या काय-वचन-मन ?

हम सभी प्राय: मन-वचन काय की चर्चा करते हैं । इससे प्रकट होता है कि सोचकर बोलो और करो । यह क्रम प्राचीन और आगमिक है । गुप्ति, दंड, गर्हा आदि के प्रकार इसी क्रम के निरूपक हैं (स्थानांग, पेज १६१-१६२), पर आ० उमास्वाति ने वहाँ भी क्रमपरिवर्तन किया है -"काय-वाङ्-मन: कर्मयोग:" । इस क्रम-परिवर्तन का आधार भी विचारणीय है । मन बडा है या काय ? क्रिया बड़ी है या विचारणा, जिसके आधार पर क्रिया की जाती है । कर्म के विकास, आस्रव एवं कर्म बंध की अवधारणा के इतिहास के विकास की दृष्टि से आ. उमास्वाति परंपरावादी सिद्ध होते हैं क्योंकि जैन धर्म में कुंदकुंद के युग से पूर्व भी भाव या

मन की प्रधानता या प्राथमिकता की चर्चा चल पड़ी थी। मन भावों, विचारों, आवेगों आदि का आधार है। क्या उमास्वाति मन की गौणता स्वीकार कर भक्तिवाद की प्रस्तावना के रूप में मन को अंतिम स्थान देते हैं ? बुद्धिवादी युग मनपूर्वक क्रिया का समर्थक है। पश्चिमी विचारक भी इस क्रम के व्यत्यय पर विचार करने लगे हैं। फलतः यह क्रमव्यत्यय भी विचारणीय है।

३. संरंभ-समारंभ-आरंभ या संरंभ-आरंभ समारंभ ?

कर्मवाद और कषायवाद जैनों के दो प्रमुख सिद्धांत हैं। माला के १०८ मणियों का आधार कषायवाद का विस्तार है ४ × ३ × ३ × ३ (संरंभ आदि) इनमें संरंभ, समारंभ और आरंभ का क्रम आगमों में भन्न है और दिगम्बर ग्रंथों में भिन्न है। क्रमभिन्नता से किसी पद की अर्थ-भिन्नता भी हो गई है। (समारंभ)। श्वेतांबर ग्रंथों में (स्थानांग ३.१६ या ७-८४-८९) यह क्रम निम्न है :

१. आरंभ, संरंभ, समारंभ (परिताप पश्चात्ताप)

यहाँ क्रिया के आधार पर संकल्प के होने की सूचना है। साथ ही, यदि क्रिया अशुभ है, तो उसके लिये स्वाभाविक परिताप के मनोभाव होने का संकेत है। इस प्रकार, यहाँ कर्म-मन-मनोवेग के आधार पर मन की अंतिम प्रमुखता बताई है। यह पूर्वोक्त आगमिक मान्यता के विपर्यास में लगती है एवं मन-काय के संबंध में प्रचलित दो परंपराओं का संकेत देती है। यह क्रम प्रक्षिप्त भी हो सकता है। इसके विपर्यास में, उमास्वाति ने (६.८ में) संरंभ-समारंभ-आरंभ का क्रम दिया है (विचार, तैयारी और क्रिया) जो व्यावहारिक एवं वैज्ञानिक दृष्टि से अधिक तर्क संगत लगता है। पर यहाँ भी, मन की मूलभूतता (६.१ के) मन की गौणता की तुलना में विचारणीय हो गई है। दिगंबर ग्रंथों का यह क्रम मन-वचन-काय के क्रम का प्रतिष्ठापक है जो (६.१ के) विपर्यास में है। यहाँ 'समारंभ' शब्द भौतिक क्रिया हेतु तैयारी के अर्थ में आया है, मनोवेगों के अर्थ में नहीं।

आगमों में मनःप्रधान (बुद्धिवादी) वर्णन है, अतः उनका क्रम बुद्धिवादी चिंतन कहा जा सकता है। परिणमजन्य मनोवेग जीवन में सुधार भी ला सकते हैं। उसके विपर्यास में, दिगंबरों का क्रम व्यावहारिक अधिक है। इसमें शुभता की वृत्ति प्रच्छन्न ही है।

४. प्रदेश-प्रकृति-स्थिति-अनुभाग बंध या प्रकृति-स्थिति-अनुभाग-प्रदेश बंध ?

आगमिक युग में एवं आ. कुंदकुंद के समय में कर्म-बंध के चार प्रकारों का क्रम प्रदेश, प्रकृति स्थिति, अनुभाग के रूप में रखा गया है। इसके विपर्यास में, षट्खंडागम एवं तत्त्वार्थ सूत्र में इस क्रम में व्यत्यय हुआ है (समयसार २९० कुंदकुंद भारती संस्करण, तत्त्वार्थ सूत्र ८.३)। वस्तुतः पहला क्रम अधिक वैज्ञानिक लगता है। बिना प्रदेशों की संख्या के कर्म प्रकृतियों का निर्माण कैसे हो सकता है ? आ. विद्यानंद ने अपनी टीका में इस क्रम में किंचित् परिवर्तन व्यक्त किया है। इस व्यत्यय की व्याख्या अपेक्षित है।

५. सात तत्त्वों एवं नव पदार्थों का क्रम

आगमों और कुंदकुंद के ग्रंथों में नौ, दस, ग्यारह या बारह तक तत्त्व बताये गये हैं जिनका श्रद्धान और ज्ञान अतिशय चारित्र का कारण होता है। लेकिन इनका क्रम जैनेतर तत्त्वों के अधिक अनुरूप है और बौद्धों के, चार आर्यसत्यों के विपर्यास में, पंच-युगली सत्यों के अनुरूप है। क्या तत्त्व योजना जैनों की अपनी मौलिक नहीं है ? इनके क्रमों में बंध-मोक्ष अंत में आते हैं। संभवत: जैन ज्ञानों के विकास का आधार अन्य तंत्रों की मान्यताएँ रही हों। इनके प्राचीन क्रम पर इनका प्रभाव स्पष्ट व्यक्त होता है जैसा के. के. दीक्षित भी मानते हैं। इस क्रम के विपर्यास में, आ. उमास्वाति का तत्त्वक्रम है जहाँ न केवल तत्त्व संख्या ही निर्धारित की गई है, अपितु उनका क्रम भी परिवर्तित किया गया है। उत्तरवर्ती आचार्यों ने भी इसे माना है। ऐसा प्रतीत होता है कि तत्त्वों का प्राचीन क्रम बौद्धिक दृष्टि से उतना मनोवैज्ञानिक और तर्कसंगत नहीं लगता। इसके विपर्यास में, उमास्वाति के क्रम में ये दोनों ही गुण पाये जाते हैं। यह व्यवस्थित भी है। उनके द्वारा इस क्रम परिवर्तन का आधार क्या रहा होगा, यह विचारणीय है। वन्य व्यत्ययों के विपर्यास में, यह व्यत्यय उनके स्वतंत्रचेता होने का प्रचंड संकेत देता है।

६. बारह भावनाओं और दस सत्यों का क्रम

जैनों में अध्यात्मपथ की ओर बढ़ने के लिये ध्यान और भावनाओं का बड़ा महत्त्व है। विभिन्न ग्रंथों में उनके नामों और क्रमों में अंतर पाया जाता है। इनमें परिवर्तन भी पाया जाता है। स्थानांग (पेज १२२) एवं राजवार्तिक के विवरणों से दस सत्यों के नाम, क्रम और अर्थभेद स्पष्ट हैं।

७. नयों का क्रम

जैनों में नय सिद्धांत का क्रमिक विकास हुआ है, ऐसा प्राय: सभी विद्वान् स्वीकार करते हैं। बालचंद्र शास्त्री ने अपने ग्रंथ में (पेज १६७ पर) बताया है कि धवला (४/२) में नैगम, व्यवहार एवं संग्रह के रूप में नयों का क्रम है जबकि तत्त्वार्थ सूत्र (१.३३) में नैगम, संग्रह एवं व्यवहार नय का क्रम हैं।

८. इन्द्रिय और इंद्रिय विषयों का क्रम

जैन आचार-विचार में इन्द्रियजय का प्रमुख स्थान है। इन्द्रियाँ मन की सहायता से राग-द्वेष का कारण और फलत:, कर्मास्रव और कर्मबन्ध की स्रोत हैं। भगवती २.१, स्थानांग, १०.२३ और प्रज्ञापना १५.१ में इन्द्रिय और इन्द्रिय-विषयों का क्रम श्रोत्र, चक्षु, घ्राण, रसन और स्पर्शन के आधार पर दिया गया है। मूलाचार गाथा १०९१ में भी इन्द्रियों के आकार का वर्णन इसी आधार पर दिया गया है। इसके विपर्यास में, दिगंबर ग्रन्थों एवं तत्त्वार्थसूत्र में यह क्रम स्पर्शन, रसन, घ्राण, चक्षु एवं श्रोत्र के रूप में दिया गया है। प्रथम क्रम में सूक्ष्म से स्थूल की ओर वृत्ति का संकेत है जबकि द्वितीय क्रम में स्थूल से सूक्ष्म की ओर प्रवृत्ति का संकेत है। इन्द्रियाँ और उनके विषय मुख्यत: भौतिक जगत् से सम्बन्धित हैं। यहाँ स्थूल से सूक्ष्म की ओर प्रवृत्ति

सामान्य है । फलतः इस क्रमविपर्यय का कारण भी अन्वेषणीय है ।

९. दश धर्मों का क्रम एवं नाम परिवर्तन

सामान्य गृहस्थ एवं साधुओं के कार्मिक संवर एवं निर्जरा हेतु जैन तंत्र में दश धर्मों का पर्याप्त महत्त्व है । लेकिन यहाँ भी स्थानांग और तत्त्वार्थसूत्र में इनके नाम और क्रमों में अंतर है जैसा नीचे की सारणी से स्पष्ट है :–

	स्थानांग १०.१६ एवं ५.३४-३५	तत्त्वार्थ सूत्र, ९.६
०१.	क्षान्ति	क्षमा
०२.	मुक्ति (निर्लोभता)	मार्दव
०३.	आर्जव	आर्जव
०४.	मार्दव	शौच
०५.	लाघव	सत्य
०६.	सत्य	संयम
०७.	संयम	तप
०८.	तप	त्याग
०९.	त्याग	आकिंचन्य
१०.	ब्रह्मचर्य	ब्रह्मचर्य

इस क्रम से स्पष्ट है कि स्थानांग का क्रम, कषायों के क्रम के आधार पर किंचित् विपर्यास में है । साथ ही, यहाँ आकिंचन्य के बदले 'लाघव' का नाम दिया गया है । शौच के लिये मुक्ति एवं क्षमा के लिये 'क्षांति' नाम दिया गया है । इसके विपर्यास में, तत्त्वार्थ-सूत्र का क्रम अधिक संगत लगता है । कुंदकुंद ने भी बारस-अणुवेक्खा गाथा ७० में शौच के पूर्व सत्य रखकर एक नया आयाम खोल दिया है । वस्तुतः यह उचित प्रतीत नहीं होता। साथ ही, यदि इन दश धर्मों को अहिंसादि पाँच व्रतों का विस्तार माना जाय, तो भी कुंदकुंद संगत नहीं लगते क्योंकि

१. अहिंसा के रूप में (१-४) क्षमा, मार्दव, आर्जव एवं शौच आते हैं ।
२. सत्य के रूप में (५) सत्य धर्म आता है ।
३. अचौर्य के रूप में (६, ७, ८,) संयम, तप और त्याग आते हैं ।
४. ब्रह्मचर्य के रूप में (९) ब्रह्मचर्य आता है ।
५. अपरिग्रह के रूप में (१०) आकिंचन्य या लाघव आता है ।

इन धर्मों के क्रम में अपरिग्रह (आकिंचन्य) को ब्रह्मचर्य के पूर्व का स्थान भी विवेचनीय है । अन्यथा उन्हें पाँच व्रतों का विस्तार कहना समुचित न होगा । स्थानांग के 'लाघव'

की स्थिति तो और भी शोचनीय है । यदि नामों के अंतर की उपेक्षा भी कर दी जाय, तो भी क्रम परिवर्तन का सैद्धांतिक आधार विचारणीय है ।

१०. दश वैयावृत्त्यों का क्रम परिवर्तन

भौतिक और आध्यात्मिक विकास में तप का महत्त्वपूर्ण स्थान है । बाह्य तपों की तुलना में अंतरंग तप अधिक निर्जराकर होते है । छह अंतरंग तपों में वैयावृत्त्य तीसरा तप है । स्थानांग १०.१७ एवं ५.४४-४५ में तथा तत्त्वार्थसूत्र ९.२१.२४ में वैयावृत्य के दस प्रकार बतलाये गये हैं जैसा नीचे की सारणी से स्पष्ट है :

	स्थानांग १०.१७		तत्त्वार्थ सूत्र ९.२४
०१.	आचार्य	०१.	आचार्य
०२.	उपाध्याय	०२.	उपाध्याय
०३.	स्थविर	०३.	—
०४.	तपस्वी	०४.	तपस्वी
०५.	ग्लान	०५.	—
०६.	शैक्ष	०६.	शैक्ष
०७.	कुल	०७.	ग्लान
०८.	गण	०८.	गण
०९.	संघ	०९.	संघ
१०.	साधर्मिक	१०.	साधु
११.	—	११.	मनोज्ञ

इससे पता चलता है कि जहाँ तत्त्वार्थ सूत्र में 'स्थविर' और 'साधर्मिक' का नाम नहीं है, वहीं स्थानांग में 'मनोज्ञ' और 'साधु' की वैयावृत्य का नाम नहीं है । यदि साधर्मिक को 'साधु' माना जाय, तो भी 'मनोज्ञ' का अभाव तो है ही । यही नहीं, यहाँ भी क्रम परिवर्तन दृष्टव्य है । संभवत: 'गण' और 'कुल' का विपर्यय तो परिभाषा की भिन्नता के कारण हो सकता है । 'ग्लान' का क्रम भी स्थानांग में उचित लगता है । इन वैयावृत्यों के क्रम को ऐतिहासिक विकास क्रम में भी देखा जा सकता है । फलत: वैयावृत्त्य के नाम और क्रम भी तर्क-संगति चाहते है ।

११. स्वाध्याय के भेद

जैन आध्यात्मिक शास्त्र में अंतरंग तप के रूप में स्वाध्याय का अत्यंत महत्त्व है क्योंकि उत्तराध्ययन के अनुसार यह ज्ञानावरण कर्म का क्षय / क्षयोपशम करता है । स्थानांग ५.२२० और उत्तराध्ययन २९.१९ में इसके वाचना, पृच्छना, परिवर्तना (आम्नाय), अनुप्रेक्षा और धर्मकथा के

रूप में पाँच भेद बताये गये है । इसके विपर्यास में, उमास्वामी ने ९.२५ में कुछ पारिभाषिक शब्दों के अंतर के साथ अर्थसाम्य रहते हुए भी पाँच भेद तो बताये हैं पर उन्होंने तीसरे और चौथे भेद का नाम परिवर्तन (पर अर्थसमान) ही नहीं किया अपितु उनका क्रम--परिवर्तन भी किया है । उन्होंने 'परिवर्तना' (स्मरणार्थ पाठ-पुनरावृत्ति) के लिये आम्नाय पद. का प्रयोग किया है और उसे स्थानांग ५.२२० के विपर्यास में तीसरे के बदले चौथे क्रम पर रखा है । और अनुप्रेक्षा को तीसरे क्रम पर रखा है । यहाँ प्रश्न यह है कि पाठ के अच्छी तरह स्मरण होने पर (आम्नाय) उसके अर्थ पर चिंतन-मनन (अनुप्रेक्षा) किया जाना चाहिये या चिंतन के बाद स्मरणार्थ पुनरावृत्ति करनी चाहिये । आचार्य महाप्रज्ञ ने बताया है कि तार्किक दृष्टि से अच्छी तरह स्मृत पाठ पर ही अच्छा चिंतन हो सकता है । यदि अनुप्रेक्षा का अर्थ वर्णों के उच्चारण के बिना मानसिक अभ्यास लिया जाय, तो भी 'परिवर्तना' या 'आम्नाय' को तीसरे क्रम पर रखा जाना चाहिये । वचन-प्रेरित पुनरावृत्ति मानसिक पुनरावृत्ति या अभ्यास का पूर्ववर्ती चरण मानी जाती है । ऐसा प्रतीत होता है कि उमास्वामी ने यहाँ भी मन-वचन-काय (धर्मोपदेश) की परंपरा का अनुसरण किया है । यह स्वाध्याय के समान प्रकरण में उपयुक्त नहीं लगता । फलतः यह व्यत्यय भी विचारणीय है । स्वाध्याय के अंतिम भेद का नाम भी दोनों प्रकरणों में भिन्न है, पर अर्थसाम्य के कारण उसे क्रम में ही माना जा सकता है ।

१२. दर्शनावरणीय कर्म की नौ उत्तर प्रकृतियाँ

स्थानांग ९.१४ और प्रज्ञापना पद २३ में दर्शनावरणीय कर्म की उत्तर प्रकृतियों का क्रम निम्न है - निद्रा पंचक और दर्शन-चतुष्क । धवला ६.३१ में भी लगभग यही क्रम है । इसके विपर्यास में तत्त्वार्थ सूत्र ८.७ और सामान्यतः दिगम्बर परम्परा में यह क्रम दर्शन चतुष्क एवं निद्रा पंचक के रूप में है । इस क्रम के व्यत्यय का कारण भी अन्वेषणीय है । दर्शन के बाद निद्रा या निद्रा के बाद दर्शन ? वस्तुतः यदि दर्शन का सामान्य अर्थ लिया जाय, तो जहाँ निद्रादि में प्रायः पूर्ण दर्शन का प्रत्यक्ष अभाव होता है या अपूर्ण दर्शन होता है, इसे सामान्य चक्षुदर्शनावरण के भेद के रूप में लेना चाहिये । मनोवैज्ञानिक दृष्टि से अधि-दर्शन निद्रा को भी प्रेरित करता है और केंद्रित दर्शन ध्यान को भी प्रेरित करता है । इसलिये दर्शन के बाद निद्रापंचक का क्रम होना चाहिये । यह क्रम-परिवर्तन कब और कैसे हुआ, इसका स्रोत एवं व्याख्यान अन्वेषणीय है ।

१३. नोकषाय-चारित्र मोहनीय की नौ उत्तर प्रकृतियाँ

दर्शनावरणीय कर्म के समान प्रज्ञापना पद २४, स्थानांग ९.६९ एवं धवला ६.४५ में नोकषाय के हास्यादि नौ भेदों का क्रम तत्त्वार्थ सूत्र ८.९ के विपर्यास में है । जहाँ पूर्व ग्रंथों में वेदत्रिक पहले हैं, वहीं तत्त्वार्थ सूत्र में यह अंत में है । इसी प्रकार, भय और शोक के क्रम में भी अंतर है । वस्तुतः, नोकषायें मनोभावों की अभिव्यक्ति के रूप है । मनोभावों का परिणाम सुख-दुःख के रूप में अभिव्यक्त होता है । श्रमण-संस्कृति उदासीन वृत्ति का तथा मनोभावहीनता का लक्ष्य मानती है । फलतः जब तक वेदत्रिक से संबंधित मनोभाव न होंगे, तब तक उनको

अनुवर्तित करने वाली हास्यादि नोकषाये कैसे होंगी ? आखिर विशिष्ट कोटि के जीवन के अस्तित्व पर ही प्रवृत्तियाँ या अनुभूतियाँ निर्भर करती है। फलतः नोकषायों के व्यत्यय का कारण और उसकी ऐतिहासिकता विचारणीय है।

१४. सूक्ष्म के भेदों का क्रम

सामान्यतः सूक्ष्म पदार्थ वे कहलाते है जो अचाक्षुष हों, अव्याघाती हों, विप्रकृष्ट हों या जो छद्मस्थ-गम्य न हो। इनका अनुमान उनके कार्य से होता हो। सामान्यतः दिगंबर ग्रंथों में सूक्ष्म पदार्थों को परिगणित नहीं किया गया है। द्रव्य संग्रह में अवश्य चित्तवृत्तियों एवं परमाणु, कर्म आदि को सूक्ष्म बताया गया है। भगवती ८.२ में दस ज्ञेय पदार्थों को केवलि-ज्ञेय कहा गया है जिनमें शब्द, वायु, गंध, परमाणु, पुद्गल, तीन अमूर्त्यद्रव्य, मुक्त जीव आदि समाहित हैं। पर दशवैकालिक ८.१५ और स्थानांग ८.३५ में आठ प्रकार के जीवों को सूक्ष्म कहा गया है। इनमें एक नाम छोड़कर बाकी नाम एक-समान है पर उनका क्रम भिन्न है जो निम्न प्रकार है :-

	दशवैकलिक ८.१५	स्थानांग ८.३५	स्थानांग १०.२४
०१.	स्नेह (जल के प्रकार)	प्राण	प्राण
०२.	पुष्प	पनक	पनक
०३.	प्राण (कुन्थु समान जीव)	वीज	वीज
०४.	उत्तिंग (कीटिकानगर)	हरित	हरित
०५.	काई (पनक, ५ वर्ण)	पुष्प	पुष्प
०६.	वीज	अंड	अंड
०७.	हरित (अंकुरादि)	लयन	लयन
०८.	अंड	स्नेह	स्नेह
०९.	—	—	गणित
१०.	—	—	भंग

वृत्तिकारों में उत्तिंग एवं लयन को लगभग समानार्थी ही माना है। यहाँ दशवैकालिक का क्रम सूक्ष्म से स्थूल की ओर जाता है, जबकि स्थानांग का क्रम स्थूल से सूक्ष्म की ओर जाता है। यही नहीं, स्थानांग १०.२४ में गणित एवं भंग-सूक्ष्म के क्रम जोड़कर उसकी विविधा भी बढ़ा दी है। दशवैकालिक स्थानांग का पूर्ववर्ती माना जाता है। उसका सूक्ष्म-स्थूल-मुखी क्रम स्थानांग काल में कैसे परिवर्तित हो गया-यह विचारणीय है। पर सामान्य जन के लिये स्थानांग का क्रम अधिक वैज्ञानिक भी लगता है। इसमें अजीव सूक्ष्म कैसे छूट गये, यह भी एक विचारणीय बिन्दु है। गाथा-छंद-बद्धता को निश्चित रूप से इसका कारण नहीं माना जा सकता। फिर स्थानांग में ही गणित-सूक्ष्म एवं भंग सूक्ष्म का समाहारण भी एक प्रश्न ही है।

संभवतः गणित सूक्ष्म मानसिक प्रवृत्तियों के रूप में ही समाहित हुआ हो। इस प्रकार, इस प्रकरण में क्रम-व्यत्यय, सूक्ष्म भेदाधिक्य एवं वैज्ञानिकता-ये सभी तथ्य तर्क-संगतता चाहते हैं।

१५. अनुयोगों का क्रम

सामान्यतः यह माना जाता है कि जैन परम्परा में विविध विषयों के पृथक् रूप से वर्णन करने की अनुयोग परंपरा प्रायः पहली सदी (आचार्य आर्यरक्षित के समय) से प्रारंभ हुई है। पर दोनों ही परंपराओं में इनका क्रम भिन्न-भिन्न है। दिगम्बर परम्परा में यह क्रम प्रथमानुयोग, चरणानुयोग, करणानुयोग एवं द्रव्यानुयोग के रूप में है जबकि श्वेतांबर परंपरा में यह क्रम चरण-करणानुयोग, धर्मकथानुयोग, गणितानुयोग एवं द्रव्यानुयोग के रूप में है। यहाँ दिगम्बरों का प्रथमानुयोग धर्मकथानुयोग हो गया है और उसका क्रम द्वितीय हो गया है। करणानुयोग गणितानुयोग हो गया है और 'करण' का अर्थ द्वितीयक चारित्र हो गया है। चरणानुयोग प्रथम स्थान पर आया है जिसमें प्राथमिक एवं द्वितीयक चारित्र समाहित हुआ है। द्रव्यानुयोग (अध्यात्म और तत्त्व विद्या) का स्थान दोनों में अंतिम है। विचार करने पर ऐसा प्रतीत होता है कि दिगंबरों का क्रम अधिक तर्क-संगत है क्योंकि उदाहरण (प्रथमानुयोग-जीव चरितों) से चारित्र की प्रवृत्ति को प्रोत्साहन मिलता है। चारित्र की सम्यक्त्वा से तत्त्व विद्या एवं प्रामाणिकता के प्रति रुचि बढ़ती है। यद्यपि अनुयोगों का क्रम स्थूल से सूक्ष्म की ओर दोनों परंपराओं में है पर नाम क्रम की भिन्नता का स्रोत और समय अन्वेषणीय है।

१६. पुद्गल के स्पर्शादि गुणों में क्रम भेद

पुद्गल को स्पर्श चतुष्टय से परिभाषित किया जाता है। दिगंबर परंपरा के तत्त्वार्थ सूत्र आदि में उनका क्रम स्पर्श, रस, गंध एवं वर्ण के रूप में है जिसका तर्कसंगत समर्थन राजवार्तिक आदि ग्रंथों में उपलब्ध है। इसके विपर्यास में, श्वेतांबर आगमों में उनका क्रम रूप, रस, गंध एवं स्पर्श का है। यहाँ भी ऐसा प्रतीत होता है कि दिगम्बर परंपरा स्थूल से सूक्ष्म की ओर जाती है और श्वेतांबर परंपरा इसके विपरीत दिशा में जाती है। इस क्रम-व्यत्यय का स्रोत एवं समय भी विचारणीय है।

१७. सामाचारी के प्रकार

सामाचारी में साधुओं के सामान्य व्यवहारों से संबंधित प्रवृत्तियाँ निरूपित की जाती हैं। इसका विवरण एवं प्रकार अनेक दिगम्बर और श्वेताम्बर ग्रंथों में पाये जाते हैं। मूलाचार में सामाचारी के दो भेद हैं—सामान्य और विशेष तथा आवश्यक निर्युक्ति में तीन भेद हैं (१) ओघ, (२) दशविध एवं (३) पद विभाग या विशेष। मूलाचार में ओघ को ही सामान्य दशविध के रूप में निरूपित किया गया है। भगवती आराधना में भी दशविध सामाचारी है। सामान्यतः सामाचारी से दशविध सामाचारी ही माना जाता है। विशेष जानकारी तो इसी का विस्तार है। यह दशविध सामाचरी पाँच प्रमुख ग्रंथों में दी गई है जो निम्न प्रकार है :—

	स्थानांग १०.१०२ भगवती, २५.७, आ. निर्युक्ति	मूलाचार ४ (सामान्य सामाचार)	उत्तराध्ययन, २६.१.७
०१.	इच्छा	इच्छाकार	आवश्यकी
०२.	मिथ्या	मिथ्याकार	नैषेधिकी
०३.	तथाकार	तथाकार	आपृच्छना
०४.	आवश्यकी	आसिका	प्रतिपृच्छना
०५.	नैषैधिकी	निषेधिका	छंदना
०६.	आपृच्छा	आपृच्छा	इच्छाकार
०७.	प्रतिपृच्छा	प्रतिपृच्छा	मिथ्याकार
०८.	छंदना	छंदन	तथाकार
०९.	निमंत्रणा	सनिमंत्रणा	अभ्युत्थान
१०.	उपसंपदा	उपसंपद्	उपसंपदा

यह स्पष्ट है कि उत्तराध्ययन में इन सामाचारियों का क्रम अन्य ग्रंथों के क्रम से भिन्न है। नौवें नाम में भी अन्तर है। तथापि वृत्तिकारों के अनुसार, अर्थभेद समाधेय है। ऐसा माना जाता है कि यह ग्रन्थ अन्य ग्रन्थों से प्राचीन है। फलतः इनमें भी एक ही क्रम होना चाहिये था। उत्तराध्ययन की परम्परा के ग्रन्थ तत्कालीन भारत के एक ही क्षेत्र में रचे गये हैं। तब यह क्रम भिन्नता कब और कैसे आई ? दिगम्बर परम्परा ने भी स्थानांग का ही अनुकरण किया लगता है ? इससे क्या यह अनुमान लगाया जाय कि भगवती आदि के भाषा-रूपकारों को उत्तराध्ययन के विषय में जानकारी नहीं थी ? इन क्रम-भिन्नताओं के कारण जिनवाणी की परस्पर अविरोधिता की धारणा भी विचारणीय हो जाती है।

१८. प्रत्याख्यान के प्रकार

जैन आचार विधि में भौतिक आहार और उपाधि एवं भावनात्मक कषायादि बंधनों के क्रमशः या पूर्णतः त्याग आध्यात्मिक प्रगति के लिये महत्त्वपूर्ण हैं। इसका उद्देश्य अनागत दोषों का परिहार, व्रतों का निर्दोष पालन एवं भावशुद्धि है। भौतिक प्रत्याख्यान के माध्यम से भावनात्मक शुद्धि होती है। अतः इसका वर्णन अनेक ग्रंथों-भगवती ७.२. स्थानांग १०.१०१ आवश्यक निर्युक्ति ६ एवं मूलाचार ६३९.४० आदि में किया गया है। इसके दस प्रकार निर्दिष्ट हैं जो निम्न प्रकार है :

	भगवती ७.२	स्थानांग १०.१०१	मूलाचार
०१.	अनागत	अनागत	अनागत
०२.	अतिक्रांत	अतिक्रांत	अतिक्रांत

०३.	कोटिसहित	कोटिसहित	कोटिसहित
०४.	नियंत्रित	नियंत्रित	निखण्डित
०५.	साकार (सागार)	साकार (सापवाद)	साकार
०६.	अनाकार (अनागार)	अनाकार (निरपवाद)	अनाकार
०७.	परिमाण कृत	परिमाणकृत	परिमाणकृत
०८.	निरवशेष	निरवशेष	अपरिशेष
०९.	संकेत (सूचक)	संकेत	अध्वानगत (मार्गगत)
१०.	अद्धाप्रत्याख्यान (कालमानिक)	अध्वाप्रत्याख्यान	सहेतुक (उपसर्गादि)

भगवती में मूलगुण प्रत्याख्यान (पंच पाप-विरति) एवं उत्तरगुण प्रत्याख्यान की चर्चा कर उत्तरगुण प्रत्याख्यान के दस भेद बताये हैं । इन प्रकारों से यह स्पष्ट है कि मूलाचार में नवम एवं दसम प्रत्याख्यान का न केवल क्रम परिवर्तन है, आठवें नाम में भी (पर अर्थ में नहीं) अंतर है । पर उनके अर्थों में भी अंतर है । महाप्रज्ञ ने बताया है कि मूलाचार का क्रम व अर्थ अधिक स्वाभाविक एवं परंपरागत लगता है । दिगंबर परंपरा में इनका परंपरागत क्रम व्यत्यय कब, कैसे और क्यों हुआ यह समाधेय है ।

१९. उपासक या श्रावक प्रतिमा के ग्यारह प्रकार

सामान्य गृहस्थों की क्रमिक आध्यात्मिक प्रगति के लिये अनेक ग्रंथों में ग्यारह प्रतिमाओं या चरणों के पालन का उल्लेख है । इन चरणों की धारणा प्राचीन प्रतीत होती है, पर इनका नामोल्लेख सर्वप्रथम समवायांग में पाया जाता है, पर भगवती, उत्तराध्ययन आदि में नहीं है । फलतः प्रतिमाओं की अवधारणा का विकास किंचित् उत्तरवर्ती प्रतीत होता है । ये प्रतिमायें सम्यग् दर्शन और अनेक वृत्तों पर आधारित है । इनकी संख्या ग्यारह है जो स्थानांग १०.४५ में भी निर्दिष्ट है । अनेक श्वेतांबर और दिगंबर ग्रंथों में भी इन प्रतिमाओं का उल्लेख है जैसा नीचे दिया गया है :

	समवाओं ११	**अन्य ग्रन्थ**	**जैनेन्द्र सिद्धांत कोष**
०१.	दर्शन श्रावक	दर्शन श्रावक	दर्शन
०२.	कृतव्रतकर्म	कृतव्रतकर्म	व्रत
०३.	कृतसामायिक	कृतसामायिक	सामायिक
०४.	प्रोषधोपवास-निरत	प्रोषधोपवासनिरत	प्रोषधोपवास
०५.	दिवा-ब्रह्मचारी	रात्रि-भक्त परित्याग	सचित्त-त्याग
०६.	ब्रह्मचारी (पूर्ण)	सचित्त परित्याग	रात्रि-भुक्तित्याग
०७.	सचित्त परित्याग	दिवा ब्रह्मचारी	ब्रह्मचर्य
०८.	आरंभ परित्यागी	पूर्ण ब्रह्मचारी	आरंभत्याग

०९.	प्रेष्यपरित्यागी	आरंभ-प्रेषणपरित्याग	परिग्रहत्याग
१०.	उद्दिष्टभक्त-परित्यागी	उद्दिष्ट भक्त वर्जन	अनुगतित्याग
११.	श्रमणभूत	श्रमणभूत	उद्दिष्ट त्याग

इस तालिका से यह स्पष्ट है कि पहली चार प्रतिमाओं को छोड़ तीनों ही प्रकरणों में अन्य प्रतिमाओं के क्रम में अंतर है। दिगंबर परंपरा में श्रमणभूत नामक प्रतिमा ही नहीं है। इन तीनों क्रमों का विकास-काल अन्वेषणीय है। दिगंबर परंपरा में 'श्रमणभूत' प्रतिमा का विलोपन भी विचारणीय है। श्वेतांबर परंपरा मानती है कि प्रतिमाधारण जीवन के अंतिमभाग (६६ माह) में किया जाता है, पर दिगंबर परंपरा इसे कभी भी पालनीय मानती है। प्रतिमा-पालन निरपवाद होता है, व्रत सापवाद भी हो सकते हैं। प्रतिमाओं के क्रम का वैज्ञानिक, मनोवैज्ञानिक एवं आध्यात्मिक अध्ययन आवश्यक है।

उपरोक्त उन्नीस प्रकरण प्राय: पूर्णत: ही जैन सैद्धांतिक मान्यताओं से सम्बन्धित हैं। उनमें पाये जाने वाले क्रम परिवर्तनों पर टीकाकारों या विद्वानों ने विचार किया हो, यह देखने में नहीं आया। इसलिये धार्मिक आस्था को बलवती बनाने के लिये इन पर विचार करना आवश्यक है। इन क्रम व्यत्ययों के विषय में निम्न बिन्दु विचारणीय हैं :

१. ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य

जैन सिद्धांतों के विकास को ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में देखने पर यह मानना सुसंगत लगता है कि भिन्न-भिन्न समयों में इनके आयाम विस्तृत, परिवर्तित और संक्षेपित हुए हैं। इसमें प्रारंभ में लोक-अनुभव था, बाद में बुद्धिवाद आया, उत्तरकाल में व्यक्तिवाद / श्रद्धावाद आया। दर्शन-ज्ञान-चरित्र एवं काय-वचन-मन का उत्तरवर्ती क्रम इसी का प्रती माना जा सकता है।

२. बुद्धिवाद का विकास

आ० उमास्वाति का युग संभवत: संक्रमण काल रहा होगा। इसीलिये उनके सूत्रों में जहाँ भक्तिवाद के स्वर गूंज रहे हैं, वही संरंभ आदि का क्रम, जीवादि तत्त्वों तथा नयों का व्यवस्थित क्रम उनके बुद्धिवादी स्वरूप को व्यक्त करता है। हाँ, ऐसा लगता है कि वे चार बंधों के क्रम में ऐसा नहीं कर पाये।

उमास्वाति के बाद के प्राय: सात सौ वर्ष के बुद्धिवादी युग ने जैनों की प्रतिष्ठा में चार चांद लगाये। आज उसी प्रवृत्ति की आवश्यकता है। अनेकांतवाद की चौथी-पाँचवीं सदी का विकास हमें अवक्तव्यता तक तो ले जाता है, पर उसमें निर्णयात्मकता का तत्त्व कहाँ है? यह प्रश्न है।

३. परिवर्तनशीलता : वैज्ञानिकता की कसौटी

उपरोक्त क्रम-व्यत्यय आगमज्ञों की वैज्ञानिक मनोवृत्ति को प्रकट करते हैं। अत: सभी आगमिक मान्यताओं को त्रैकालिक मानना प्राय: समीचीन नहीं प्रतीत होता। ये क्रम परिवर्तन

जैनों की वैज्ञानिकता के प्रतीक हैं। क्या हम अवैज्ञानिक या परम्परावादी है ? यदि ऐसा होता, तो हम प्रत्यक्ष के दो भेद, परमाणु के दो भेद और प्रमाण की संक्षिप्त एवं विस्तृत परिभाषा न कर पाते।

४. उत्तर प्रतिपत्ति और दक्षिण प्रतिपत्ति

उपरोक्त क्रम-व्यत्यय क्या उत्तर और दक्षिण-प्रतिपत्ति के परिणाम हैं ? या दिगंबर-श्वेतांबर मतभेदों के परिणाम है ? श्वेतांबर आगम तो मुख्यत: उत्तर प्रतिपत्ति को निरूपित करते हैं और दिगंबर ग्रंथ प्राय: दक्षिण प्रतिपत्ति के प्रतीक माने जाते हैं। इनके आचार्यों में प्राचीन काल में संपर्क के अभाव में यह व्यत्यय स्वाभाविक है। यह तो ऐसा खेल प्रतीत होता है जैसे एक चक्र की प्रारंभिक चर्चा अंतिम सदस्य के पास पहुँचने तक व्युत्क्रमित हो जाती है।

५. विकास का अंतिम चरण

उपरोक्त प्रकरण जैन तंत्र के सैद्धांतिक विकास के अंतिम चरणों के विकास के प्रतीक हैं। दसवीं सदी तक ऐसी स्थिति आ गई थी कि उसके बाद उनमें विकास संभव नहीं रहा। श्रद्धावाद का युग आ गया।

इन बिन्दुओं के अतिरिक्त, इन क्रम-व्यत्ययों से यह संकेत तो मिलता ही है कि प्राचीन युग में विचार-संचरण या ग्रंथ-संसूचन की अल्पता थी, इसलिये विवरणों में एकरूपता संभव नहीं थी। इसीलिये अनेक प्रकार की असंगततायें आईं। श्रद्धावाद के युग में हमने उनकी ओर ध्यान ही नहीं दिया।

इनके और ऐसे ही अन्य प्रकरणों के कारण आज का बुद्धिवादी व्यक्ति सत्यासत्य निर्णय की अपनी क्षमता और तदनुरूप अनुकरणवृत्ति का उपयोग करना चाहता है। पर उसके सिर पर वीरसेन और वसुनंदि की तलवार लटकी हुई है—सत्यं किमिति सर्वज्ञ एव जानाति। हम तो भक्तिवादी हैं, हमें शंका या जिज्ञासा का अधिकार नहीं। इनके मत का अनुयायी बनकर हम अपनी जिज्ञासुवृत्ति को उपशांत बनाये नहीं रख सकते। ऐसे अवसरों पर हमें समन्तभद्र और सिद्धसेन भी याद आते हैं जो 'शास्त्रस्य लक्षणं परीक्षा' कहकर हमारा उत्परिवर्तन करते हैं। हमें इनका ही अनुसरण करना होगा और उपरोक्त विवरणों की संगतता को प्रतिष्ठित करना होगा। नई सदी सिद्धांत-प्रशंसन की नहीं, सिद्धांत-विश्लेषण की सदी होगी। इस विश्लेषण के आधार पर ही हम जैन सिद्धांतों पर पश्चिमी विश्लेषकों के अनेक आरोपों को निराकृत कर सकेंगे और जैन धर्म की विश्वस्तरीय प्रतिष्ठा को संवर्धित कर सकेंगे। वर्तमान संतों और विद्वानों से आशा है कि वे नयी पीढ़ी को ऐसे ऊहापोहों के विषय में मार्गदर्शन करेंगे।

□ □ □

जैनदर्शने शब्दप्रमाणस्य विभावना[1]

कमलेशकुमार छ चोकसी

प्रस्तावना :

विभिन्नेषु दर्शनसम्प्रदायेषु प्रमाणानां सङ्ख्याविषयिणी समानता नास्तीति सुप्रसिद्धमेव । जैनेतरदर्शनसम्प्रदायेषु मीमांसकाः प्रत्यक्षानुमानशब्दोपमानार्थापत्त्यभावादीनि षड् प्रमाणानि नैयायिकाः प्रत्यक्षानुमानशब्दोपमानानि चत्वारि प्रमाणानि, साङ्ख्याः प्रत्यक्षानुमानशब्दादीनि त्रीणि प्रमाणानि, वैशेषिकाः बौद्धाश्च प्रत्यक्षानुमाने द्वे प्रमाणे चार्वाकादयस्तु प्रत्यक्षैकप्रमाणमिति मन्यन्ते ।[2]

जैनसम्प्रदायस्य श्वेताम्बरपरम्परायां सुप्रसिद्धे भगवतीसूत्रे प्रत्यक्षानुमानोपमानागमाश्चेति चत्वारि प्रमाणानि स्वीकृत्य निर्दिष्टानि सन्ति ।[3] परन्त्वस्य निर्देशस्य क्रमिको विकासः पूर्वं विचारणीय इतिकृत्वाऽत्र किमपि विकासक्रमवस्तु विमृश्यते ।

क्रमिको विकासः

प्रमाणविषयिणीं विचारणामधिकृत्य जैनसाहित्यस्य कृतेनाभ्यासेनैवम्प्रतीयते यत् प्रमाणविषयकस्य खण्डनमण्डनपूर्वकस्य विमर्शस्य दार्शनिकयुगादारम्भो जात इति[4] । अत एव पूर्वजातानां कुन्दकुन्दादिप्रसिद्धदार्शनिकानां विरचितेषु ग्रन्थरत्नेषु ज्ञानज्ञेययोः सम्यग्विचारणा दृग्गोचरीभवति, तथापि तत्र प्रमाणप्रमेयादिशब्दानाम्प्रयोगो न दृश्यते । अस्मिन्नेव ग्रन्थे ज्ञानस्य द्वौ भेदौ प्रत्यक्षम् परोक्षञ्चेति स्वीकृतौ स्तः ।

कालान्तरे सूत्रशैलीप्रणीते तत्त्वार्थसूत्रनाम्न्युमास्वातिविरचिते ग्रन्थे ज्ञानमेव प्रमाणमस्तीति भणित्वा तस्य प्रमाणस्य प्रत्यक्षम् परोक्षञ्चेति द्वौ भेदौ प्रदर्शितावुपलभ्येते ।[5] जैनदर्शने प्रमाणविषयिण्याः चर्चाया इत एवारम्भो भवतीति मन्यते ।

दार्शनिकयुगादूर्ध्वं जैनसिद्धान्ते ज्ञानस्य पञ्चभेदानां मतिश्रुतावधिमनःपर्यायकेवलादीनां विचारो दृढीभूय स्थितः प्रतीयते । प्रारम्भिकजैनसाहित्यकाराणामियमेव मौलिकी परम्परा । अनुगामिनि कालेऽकलङ्कदेवनाम्ना प्रसिद्धैर्दार्शनिकप्रवरैस्तर्कशास्त्रानुसारिणीं दर्शनान्तरेषु प्रसिद्धां शैलीमनुसृत्य लघीयस्त्रये प्रमाणस्य भेदोपभेदलक्षणवती सम्यग् व्यवस्था कृतेति दिक् ।

प्रारम्भिके जैनसाहित्ये शब्दप्रमाणचर्चा

जैनागमस्य प्रारम्भिकेषु ग्रन्थेषु तदानीन्तनस्य ज्ञानस्य पश्चाद्वर्तिनः प्रमाणस्य वा

पूर्वोक्तभेदद्वयविषये सर्वेषां सम्मतिरेवास्ति । इन्द्रियाणां मनसश्च साहाय्येन विना यज्ज्ञानमात्मना जायते, तत् प्रत्यक्षम् । यच्च ज्ञानमिन्द्रियाणाम्मनसश्च साहाय्येनैव जायते, तत्परोक्षमित्याचक्षते । प्रत्यक्षनामकस्य प्रमाणस्यात्र त्रयो भेदाः सङ्कीर्तिताः । ते च अवधिः, मनःपर्यायः, केवलश्चेति । परोक्षप्रमाणस्य च मतिज्ञानं श्रुतज्ञानञ्चेति द्वौ भेदौ स्तः ।

इन्द्रियाणां मनसश्च साहाय्येन जायमानं प्राथमिकं ज्ञानं तन्मितिज्ञानम्, मतिज्ञानपूर्वकञ्च जायमानं विशिष्टं यज्ज्ञानं तत् 'श्रुतज्ञानम्' कथ्यते । इदमेव श्रुतज्ञानमुत्तरकालिकेषु ग्रन्थेषु शब्दप्रमाणस्यागमप्रमाणस्य वा स्थानापन्नं जातमिति नात्र स्पष्टीकरणस्यावश्यकता ।

जैनदर्शने प्रमाणविचारस्येयम्प्राचीनतमा परम्परा । जैनेतरदर्शनेषु प्रत्यक्षानुमान-शब्दोपमानार्थापत्तीत्यादीनि प्रमाणानि स्वीकृतानि, परन्तु न तत्र परोक्षनामकं किमपि प्रमाणमस्ति यस्यात्र जैनदर्शने स्वीकारो जातः । अथ चायमपि जैनदर्शनस्य विशेषो यदत्रानुमानादीनि नामान्यपि प्राचीनेषु ग्रन्थेषु नोपलभ्यन्ते ।

क्रमशः गच्छति काले जैनसाहित्यं यथा यथा विकासपथमारूढं तथा तथा जैनेतरदर्शने प्रचलितानां प्रमाणानामनुसारिणी कापि व्यवस्था विचारणीयेति जैनदार्शनिकैरावश्यकतानुभूता । परिणामतः जैनेतरदर्शनसम्प्रदायेषु शब्दप्रमाणत्वेन यत् स्वतन्त्रप्रमाणमासीत्तस्यैवात्र श्रुतप्रमाणरूपेण स्वीकारो जातः । तस्मिन्नेव परोक्षप्रमाणे प्रत्यक्षप्रमाणे वा दर्शनान्तरे प्रसिद्धान्यर्थापत्त्यनुमानोपमानादिप्रमाणान्यन्तर्भावितानि ।

एवं रीत्या स्पष्टमिदं प्रतिभाति यदागमकाले प्रमाणविषये स्वतन्त्रतया कृतो विचारः नोपलभ्यते, परन्तु तद्विषयकः सङ्ग्रह एव दर्शनान्तरेभ्यः सङ्गृहीत इति ।

श्रुतप्रमाणम् :-

जैनदर्शने प्रसिद्धोऽयं श्रुतशब्दः श्रवणार्थकाद्धातोः निष्पन्नः, अतः श्रुतशब्देनानेन भूतकालिकी श्रवणक्रियावगम्यते; परन्तु ज्ञानविशेषेऽत्र जैनदर्शने रूढोऽयं शब्दः मतिज्ञानपूर्वकं यज्ज्ञानं भवति तदर्थे प्रयुज्यते[६] । जैनेतरदर्शनेषु यच्छब्दप्रमाणं प्रमाणतया स्वीक्रियते, तदेवात्र जैनदर्शने श्रुतप्रमाणरूपेण जरीगृह्यते ।

श्रुतज्ञानं मतिज्ञानपूर्वकं भवतीति सिद्धान्तः । पूर्वं मतिज्ञानं जायते तदनन्तरं श्रुतज्ञानम् । इत्यत एव श्रुतज्ञानस्य मतिज्ञानं कारणमपि मन्यते । एतन्मतिज्ञानं श्रुतज्ञानञ्च सर्वेषां प्राणिनां सञ्जायते ।

मतिज्ञानेन ज्ञातेषु पदार्थेषु मनसः साहाय्येन जायमानं विशिष्टं ज्ञानं श्रुतज्ञानमाचक्षते । मतिज्ञानं पञ्चेन्द्रियैः मनसा चोत्पन्नं भवतीत्यतः तत्साहाय्येन ज्ञातस्य विषयस्यैवाश्रयमाश्रित्य श्रुतज्ञानस्य व्यापारः प्रवर्तते । अस्य श्रुतज्ञानस्य भेदद्वयमस्ति अनक्षरात्मकम्, अक्षरात्मकञ्चेति । श्रोत्रेन्द्रियेतराणामिन्द्रियाणां मनसश्च साहाय्येन जायमानं मतिज्ञानपूर्वकं यच्छ्रुतज्ञानन्तद् अनक्षरात्मकमिति कथ्यते । अथ च श्रोत्रेन्द्रियजन्यं मतिज्ञानपूर्वकं यच्छ्रुतज्ञानन्तद् अक्षरात्मकमिति कथ्यते । अनक्षरात्मकश्रुतज्ञानं केचन तार्किकाः लिङ्गजं श्रुतज्ञानमप्याचक्षन्ते ।

अकलङ्काचार्यानुसारन्तु खल्वेकमेव श्रुतज्ञानम् अक्षरात्मकमनक्षरात्मकञ्च भवति । लघीयस्त्रयनामके ग्रन्थेऽमी दार्शनिकाः कथयन्ति यत्- शब्दानां योजनायाः पूर्वं यन्मतिस्मृति-प्रत्यभिज्ञानतर्कानुमानादिकं ज्ञानं भवति, तन्मतिज्ञानमस्ति । अथ च शब्दानां योजनातः तदेव श्रुतज्ञानम्भवति । इदञ्च श्रुतज्ञानमन्यैः प्रमाणैः यदा ज्ञाता स्वयं जानाति, तदा तदनक्षरश्रुतमिति कथ्यते, तद्द्वारा च तदन्येषां कृते ज्ञानं कारयति, तदा तदक्षरश्रुतमिति कथ्यते ।[७]

श्वेताम्बरसम्प्रदायेऽपि श्रुतज्ञानविषये कृतो विस्तृतो विमर्शः समुपलभ्यते । तत्र जिनभद्रगणि-महाभागानां विशेषावश्यकभाष्यनामकः ग्रन्थः ध्यानपात्रमस्ति । तैस्तत्र श्रुतज्ञानं मतिज्ञानस्यैवैको भेद इति प्रतिपादितम् ।[८] इन्द्रियमनोनिमित्तेन जायमानं सर्वप्रकारकं ज्ञानं ते मतिज्ञानत्वेनैव स्वीकुर्वन्ति । परन्तु परोपदेशवचनैः आगमवचनैश्चोत्पन्नं ज्ञानविशेषं श्रुतज्ञानमस्तीत्यपि ते स्वीकुर्वन्ति ।

मतिश्रुतयोर्भेदस्य कारणानि प्रदर्शयन् विशेषावश्यकभाष्ये निगदितं यत्- मतेः श्रुतस्य च लक्षणं भिन्नमस्ति, मतिः कारणं श्रुतञ्च कार्यमस्ति, मतिभेदाः श्रुतभेदाश्च पृथक्, पृथक् सन्ति, श्रुतज्ञानस्येन्द्रियं श्रोत्रमेवास्ति, मतिज्ञानस्य च पुनः सर्वाणीन्द्रियाणि, मतिज्ञानं मूकमस्ति श्रुतञ्च वाचालम् । एवं मतिश्रुतयोः विविधः भेदः ।[९]

इन्द्रियमनसोः साहाय्येन शब्दानुसारि यज्ज्ञानं जायते, तत् स्वस्मिन् प्रतिभासमानस्यार्थस्य प्रतिपादने समर्थं भवति, तदेव श्रुतज्ञानं कथ्यते ।[१०] तद्यथा- 'घट' इति शब्दं श्रुत्वा घटार्थेन सह तस्य सङ्गतिः क्रियमाणे घट-घट-घट इत्यादिना शब्दोल्लेखेन सहान्तरङ्गे उत्पन्नं ज्ञानं स्वस्मिन् प्रतिभासमानस्यार्थस्य श्रुतिपारकं शब्दं जनयति, अतः तस्मादन्यं श्रोतारं बोधः सञ्जायते । अर्थात् श्रुतज्ञानद्वारा ज्ञाता स्वयमपि जानाति अन्यान् च ज्ञानं कारयति । मतिज्ञानं पुनरिन्द्रियमनसोः निमित्तेनोत्पन्नं भवति; शब्दानुसारि च तत्र भवत्येष एवोभयोः भेदः ।

एवञ्च कथनीयार्थमेव विषयीकरोत्यतः यादृशमपि श्रुतज्ञानमस्ति, तत्सर्वं शब्दस्यैव परिणामः प्रतीयते । शब्देनात्र परोपदेशरूपः शब्दः ग्रन्थरूपश्च शब्दः संगृहीतो भवति । ताभ्यामुभाभ्यां जायमानज्ज्ञानं शब्दस्यैव परिमाणरूपं भवतीति स्पष्टमेव ।

एतादृशीं श्वेताम्बरमान्यतां प्रति दिगम्बर मान्यता न किमपि विरोधं सन्दधाति । यतोहि दिगम्बरमान्यतायामपि श्रुतज्ञानं पदार्थपरप्रबोधकमस्ति । तत्र च तस्य परार्थत्वे श्रुतज्ञानस्य वचनात्मकत्वं वा शब्दात्मकं वा कारणमिति प्राहुः ।

श्वेताम्बरसम्प्रदाये श्रुतज्ञानस्याक्षररूपानक्षररूपौ च द्वौ भेदौ स्वीकृतौ स्तः । तथाप्युभावपि शब्दजावेव । तयोस्त्वियानेव भेदो यदक्षररूपं श्रुतज्ञानमक्षरात्मकेन शब्देनैवोत्पन्नं भवति, अनक्षररूपं श्रुतज्ञानं चानक्षररूपेण शब्देनोत्पन्नं भवति । परन्तु दिगम्बरपरम्परायां शब्दजं श्रुतज्ञानमक्षरात्मकश्रुतम्, लिङ्गजश्रुतज्ञानञ्चानक्षरात्मकं श्रुतज्ञानमिति मन्यते । परन्त्वत्र सुस्पष्टमेव यच्छ्रुतज्ञाने शब्दस्यैव प्रधानता वरीवर्ति-इति दिगम्बर सम्प्रदायेऽपीष्टमेवास्ति ।

श्रीगोमट्टसारस्य जीवकाण्डे श्रुतज्ञानमित्थं वर्णितमस्ति-णियमेणिह सद्दजं पमुहं ॥ अस्य व्याख्यानावसरे कथितमस्ति यत्- "श्रुतज्ञानस्य प्रकरणे शब्दजाक्षरात्मकाल्लिङ्गजानक्षरात्मकाद्भेदाच्च

वर्णपदवाक्यात्मकशब्दाज्जनितस्य श्रुतज्ञानस्य प्रधानता वर्तते; यतोहि आदानप्रदाने, पठन-पाठने वा सर्वत्र व्यवहारे वेदमेव मूलम् । यद्यपि लिङ्गजंमनक्षरात्मकं श्रुतज्ञानमेकेन्द्रियाणां पञ्चेन्द्रियाणां च जीवानां भवति तथापि व्यवहारे तदनुपयोगित्वादप्रधानमस्ति ।

अथ च श्रोत्रेन्द्रियेणास्य ग्रहणं भवतीत्यतः एवेदं श्रुतम् कथ्यते । शब्दाच्चोत्पन्नमर्थज्ञानं श्रुतज्ञानं कथ्यते-इत्यतोऽपि अक्षरात्मकस्य श्रुतज्ञानस्यैव प्राधान्यम्प्रतीयत इति ॥

दार्शनिकयुगस्य शब्दप्रमाणविमर्शः

अस्य दार्शनिकयुगस्यारम्भकाले जैनदार्शनिकेषु मूर्धन्येनाकलङ्कनामकेन दार्शनिकप्रवरेण परम्परया प्राप्तानि मतानि दर्शनान्तरसम्प्रदायगतविचारसरणिं यथानुकूलानि स्यात्तथा प्रदर्शितानि । प्रमाणसङ्ग्रहे[११] प्रथमे प्रस्तावेऽमी आचार्याः —

"प्रत्यक्षं विशदज्ञानं त्रिधा श्रुतमविप्लवम् ।
परोक्षं प्रत्यभिज्ञादि प्रमाणे इति सङ्ग्रहः ॥

प्रत्यक्षं विशदज्ञानं तत्त्वज्ञानं विशदम्, इन्द्रियप्रत्यक्षमनिन्द्रियप्रत्यक्षमतीन्द्रियप्रत्यक्षं त्रिधा । श्रुतमविप्लवम् प्रत्यक्षानुमानागमनिमित्तम् । परोक्षं प्रत्यभिज्ञादि[१२]स्मरणपूर्वकम् ।"—इत्यादिभिर्वचोभिः स्वमतानुसारिणो भेदाः प्रदर्शितवन्तः । परन्तु तदनन्तरं परम्परया प्राप्तौ प्रत्यक्षं परोक्षञ्चेति द्वौ भेदौ प्रमाणस्य स्वीकृत्यान्यैराचार्यैः तयोरूपभेदप्रदर्शनमित्थमकारि-

१. प्रमाणस्य प्रत्यक्षम्परोक्षञ्चेति द्वौ भेदौ ।

२. प्रत्यक्षप्रमाणस्य च सांव्यावहारिकं पारमार्थिकञ्चेति द्वावेवान्तर्भेदौ ।

३. सांव्यावहारिकस्य प्रत्यक्षस्य-अवग्रहः, ईहा, अवायः धारणा चेति चत्वारो भेदाः ।

४. परोक्षप्रमाणस्य स्मृतिः प्रत्यभिज्ञानम्, तर्कः, अनुमानम् आगमश्चेति पञ्च भेदाः ।

उत्तरकालिकैः सर्वैः दार्शनिकैः परोक्षप्रमाणस्यैते भेदाः स्वीकृताः । अत्र यदन्तिमो भेदस्स आगमप्रमाणम्, जैनेतरदर्शनसम्प्रदायेषु शब्दप्रमाणत्वेन स्वीकृतं प्रमाणमस्ति, तद्वर्तते ।

न्यायादिषु दर्शनेषु 'आप्तोपदेशः शब्दः ।'[१३] इत्युक्त्वा शब्दप्रमाणस्य लक्षणं लक्षितमस्ति । आप्तश्चात्र "आप्तः खलु साक्षात्कृतधर्मा यथादृष्टस्यार्थस्य चिख्यापयिषया प्रयुक्त उपदेष्टा ।"[१४] — इत्यादिना कश्चित्पुरुषविशेषो गृह्यते ।[१५]

एतत्सर्वं मनसि निधाय जैनदर्शनेऽपि 'आगमप्रमाणस्य' शब्दप्रमाणस्य वा लक्षणं लक्षितम् । तद्यथा

१. न्यायावतारे सिद्धसेनदिवाकराः प्रोचुः ।

दृष्टेष्टाव्याहताद्वाक्यात् परमार्थाभिधायिनः ।
तत्त्वग्राहितयोत्पन्नं मानं शाब्दं प्रकीर्तितम् ॥

आप्तोपज्ञमनुल्लङ्घ्यमदृष्टेष्टविरोधकम् ।
तत्त्वोपदेशकृत्सार्वं शास्त्रं कापथघट्टनम् ॥[१६]

अर्थात् प्रमाणतः निश्चितार्थात् अबाधितम् परमस्य विशिष्टस्य वाऽर्थस्याभिधायिनो वाक्यात् तत्त्वग्राहिरूपेण यत्प्रमाणमुत्पद्यते, तच्छब्दप्रमाणम् ।

तच्च लौकिकशास्त्रजभेदाद् द्विविधम् ।[१७] लौकिकम् अविप्रतारकस्य वचनादुत्पन्नं भवति, शास्त्रजञ्चाप्तोपज्ञम्, अनुलङ्घ्यम् न केनापि खण्डयितुं शक्यमिति यावत्, अदृष्टेष्टविरोधकम्, जीवादिसप्ततत्त्वानां स्वरूपस्य प्रकाशकम्, सर्वेभ्यो हितं करोति तत्, तीर्थान्तरस्य च यत् निराकर्तृ तच्छास्त्रं शब्दप्रमाणं कथ्यते ॥

अस्य न्यायावतारस्य वार्तिककाराः श्रीशान्त्याचार्या आगममित्थं व्याचक्षुः –

तापच्छेदकषैः शुद्धं वचनं त्वागमं विदुः ।
तापो ह्याप्तप्रणीतत्वमाप्तो रागादिसंक्षयात् ॥[१८]

अत्र स्पष्टमेवास्ति यच्छुद्धं वचनमेवागमप्रमाणमस्ति । २. इत उत्तरं सर्वैरपि जैनतार्किकैः न्यायादिदर्शनमनुसरद्भिः प्रमाणस्यास्य लक्षणं लक्षितमस्ति । तत्रादौ परीक्षामुखनामके स्वग्रन्थे माणिक्यनन्दिनः प्रसिद्धाः जैनतार्किकाः शब्दप्रमाणमागमप्रमाणत्वेन लक्षयन्त एवमाहुः–

आप्तवचनादिनिबन्धनमर्थज्ञानमागमः । इति[१९]

न्यायदीपिकायामपि धर्मभूषणाः इत्थमेव प्रोचुः ।[२०]

३. राजवार्तिककारास्तु–'तदुपदिष्टं बुद्ध्यतिशयर्द्धियुक्तगणधरावधारितं श्रुतम् ।''– इत्यादौ श्रुतप्रमाणरूपेण शाब्दप्रमाणं लक्षयित्वा 'शब्दप्रमाणं श्रुतमेव' इत्यादिवचनैः पर्यायत्वमाहुरुभयोः ।२१ अत्रायमाशयः– केवलिभिः भगवत्पादैः कथितम्, अतिशयबुद्धि-ऋद्धिमद्भिः गणधरैरवधारितञ्च वचनं शब्दप्रमाणम्मन्यत इति ।

यद्यप्युपर्युक्तानुसारम्भगवत्पादानान्तीर्थङ्कराणां वचांसि, तेषां संग्राहकानां साक्षाच्छिष्याणां गणधराणां वचांसि चागमत्वेन, श्रुतत्वेन शब्दप्रमाणत्वेन वा स्वीकर्तव्यानि सन्ति, तथापि नैतदात्यन्तिकम्, अन्याऽपि वाचः सन्ति यासामत्र समावेशो भवति । जैनदर्शनस्याग्रजैः दार्शनिकैः श्रीमद्भिरकलङ्काचार्यैः आप्तवचनमेव शब्दप्रमाणमित्याशयम्प्रकटयित्वाप्तलक्षणमित्थं व्याचक्षुः– ''यो यत्राविसंवादकः स तत्राप्तः, ततः परोऽनाप्तः । तत्त्वप्रतिपादनमविसंवादः, तदर्थज्ञानात् ।'' इत्यादि ।[२२]

अनेन यः कश्चिदपि यस्मिन् कस्मिन् विषयेऽविसंवादको भवति, स तस्मिन् विषये आप्त इत्यवगन्तव्यम् । अर्थादाप्तत्वनिर्णयार्थन्तद्विषयकं ज्ञानं तद्विषयिकी चाविसंवादकता अवंचकता वा स्यादित्येव प्रमुखतयापेक्षते । अतो व्यवहारेऽपि शब्दजन्यार्थबोधमप्यत्रागमप्रमाणे समाविष्टुं शक्यते । तच्च येन केनापि अविसंवादिनावञ्चकेनोच्चार्यमाणानि वचनान्यप्याप्तवचनानीति यावत् ।

आगमप्रमाणस्य भेदाः

अनुयोगद्वारनामके ग्रन्थे आगमप्रमाणस्य द्वौ भेदौ व्यवस्थितौ लौकिकम् लोकोत्तरञ्च / अलौकिकञ्चेति । लौकिकागमे जैनेतरशास्त्राणां समावेशो भवति । तद्यथा-महाभारतम्, रामायणम्, वेदाः, इत्यादयोऽन्येऽपि ग्रन्थाः । लोकोत्तरागमे जैनशास्त्राणां समावेशो भवति ।

आगमप्रमाणमेकेनान्येन प्रकारेणापि विभाजितमस्ति । तद्यथा- आत्मागमः, अनन्तरागमः, परम्परागमश्चेति त्रिधा । एतद्विभाजनं सूत्रार्थयोरपेक्षातः कृतं वर्तते । जैनसम्प्रदाये मान्यतेयमस्ति यत्तीर्थङ्कराः 'अर्थम्' उपदिशन्ति, गणधराश्च तानाश्रित्य सूत्राणि विरचयन्ति । अतोऽर्थरूप आगमः तीर्थङ्करेभ्य आत्मागमः सूत्ररूपेण च ग्रथित आगमः गणधरेभ्य आत्मागमोऽस्ति । अर्थस्य मूलतयोपदेशस्तीर्थङ्कराणामस्तीति कृत्वा गणधरेभ्यो न स आत्मागमः, परन्तु, तेभ्यस्तु अनन्तरागमः, तेभ्य एवोपदिष्टत्वात् ।

गणधराणां ये शिष्यास्सन्ति तेभ्योऽर्थरूपागमः परम्परागमो वर्तते । यतोहि तीर्थङ्करेभ्यो गणधरैः गणधरेभ्यश्च शिष्यैश्चायमागमो लब्धः । सूत्ररूपागमस्तु गणधरशिष्येभ्योऽनन्तरागम एव सूत्राणामुपदेशस्तु गणधरेभ्यः साक्षात्प्राप्त इत्यतः । गणधरशिष्यानन्तरभाविभ्य आचार्येभ्यः सूत्रार्थोभयरूपागमः परम्परागम एवास्ति ।

जैनेतरदर्शनसम्प्रदायानाम्मतानि तन्निरासश्च

जैनतार्किकैः स्वकीयदर्शनसम्प्रदाये पूर्वोक्तदिशा यदागमप्रमाणस्य विमर्शः कृतः, तत्र जैनेतरदर्शनसम्प्रदायस्य विविधानि मतानि पूर्वपक्षत्वेन संस्थाप्य खण्डितानि सन्ति । तानि च प्राधान्येनैतानि सन्ति ।

१. बौद्धादयो, ये खल्विदं शाब्दप्रमाणमेव न स्वीकुर्वन्ति, तेऽत्र प्राथम्यं लभन्ते । एतेषाम्मते तु शब्दप्रमाणम्प्रमाणमेव नास्ति, शब्दस्यार्थेन सहासम्बन्धात् । अथ च शब्दस्यार्थस्तु न विधिरूपः परन्तु अन्यापोहरूपो शब्दार्थः । अतः शाब्दं प्रमाणत्वेन स्वीकर्तुमेते नोत्सहन्ते ॥

अत्र जैनदार्शनिकाः - शब्दार्थयोरसत्यपि तादात्म्यसम्बन्धे तदुत्पत्तिसम्बन्धे च, योग्यता-रूपसम्बन्धस्य सद्भावाच्छाब्दप्रमाणमस्त्येव" इत्यादिना स्वमतस्थापनपरं विमर्शं कृतवन्तः ॥[२३]

२. वैशेषिकादयोऽन्ये शब्दप्रमाणं स्वीकुर्वन्ति, परन्तु तस्यानुमानप्रमाणेऽन्तर्भावमनुभावयन्ति, न तु स्वतन्त्रप्रमाणत्वेन ॥

अत्र शब्दानुमानयोरैक्यमस्तीति न, उभयोर्विषयान्यत्वात् । शब्दस्य केवलमर्थ एव विषयः, अनुमानस्य तु साध्यधर्मेण युक्तः धर्मी इति जैनदार्शनिकाः ॥[२४]

३. मीमांसकादयोऽप्यत्र जैनदर्शने पूर्वपक्षीयाः सन्तस्तिष्ठन्तीति । यतोहि शब्दप्रमाणस्यैते स्वीकारङ्कुर्वन्ति; तदंशे च जैनदर्शनानुकूल्यमत्र, परन्तु मीमांसकानां शाब्दप्रमाणविषयिकी या मान्यता अस्ति तामेते न स्वीकुर्वन्तीति । तद्यथा-

(क) मीमांसका: शब्दार्थयो: सम्बन्धम् नित्यम् मन्यन्ते ।

जैनतार्किकाणाम्मते शब्दार्थयो: नित्यसम्बन्ध: नास्ति ।

(ख) मीमांसकानाम्मते शब्दोऽपि नित्य: । जैना: शब्दमनित्यम्मन्यन्ते ।

(ग) वेदा: अनादयोऽपौरुषेयाश्चेति मीमांसकानाम्मतम् ।

जैनदर्शनसम्प्रदायानुसारन्तु वेदा: अपौरुषेया: अनादयश्च न सन्ति ।

(घ) शब्दस्यार्थ: सामान्यम्, इत्येतन्मतम् मीमांसकानाम् । तद्यथा- गोशब्द: गोत्वम् सामान्यञ्जातिं वाऽभिदधति न तु गोव्यक्तिम् ।

अत्रैष: जैनानाम्पक्ष:[२५] —सामान्यमात्रमेव शब्दस्य विषय इति न, यतोहि सङ्केतानुसारमेव शब्दो वाचको भवति । संकेतश्च सामान्यविशिष्टे विशेष एव क्रियते, न तु सामान्यमात्रो यथा 'दण्डी' इत्यनेन शब्देन दण्डविशिष्टस्य पुरुषस्य प्रतीतिर्भवति, तथैव गोशब्देन गोत्वविशिष्टस्य गोपिण्डस्य प्रतीतिर्भवतीति ।

४. वैयाकरणानां कानिचिन्मतान्यप्यत्र पूर्वपक्षत्वम्भजन्ति । तेषामपि स्वमतस्थापनपुरस्सरो निरासोऽत्र कृतो वर्तते । तद्यथा-

(अ.) केचन वैयाकरणा: संस्कृतशब्देष्वेवार्थबोधस्य शक्तिर्वर्तत इति मन्यन्ते; न तु पाली-प्राकृतादिदेशभाषाशब्देषु ।

जैनदार्शनिकास्तु देशभाषाशब्देष्वपि अर्थबोधस्य शक्तिं मन्यन्ते ।[२६]

(आ) वैयाकरणा:- शब्दाद्वैतवादिनस्सन्ति । शब्दं विना ज्ञानं न संभवतीति मतमेतेषाम् ।

परन्तु जैनतार्किकास्तु शब्दसंसर्गं विनापि ज्ञानं सम्पद्यत इति स्वीकुर्वन्त उपर्युक्तस्य मतस्य निराकरणं कुर्वन्ति ।

उपसंहार:

एवम्प्रकारेण जैनसाहित्यस्य दार्शनिकानां विविधानां ग्रन्थानां कृतेनाभ्यासेनैवं प्रतिभासते यत् जैनसाहित्यस्य प्रारम्भिके काले प्रथमं श्रुतज्ञानरूपेण, दार्शनिकाद्युगाच्चागमप्रमाणरूपेण दर्शनान्तरेषु प्रसिद्धस्य शब्दप्रमाणस्य विषये ऊहापोहपूर्वको विचार: समुपलभ्यते । अत्रायमेव सार: यद् दर्शनान्तरेषु न्यायमीमांसादिषु शब्दप्रमाणस्य यादृशो विमर्श: (विभावना वा) प्राप्यते, तादृशोऽत्रापि प्रवर्तत एव । तथाप्यत्र जैनागमग्रन्थानु रिणो दार्शनिका: स्वमतमनुसरन्तोऽनुकूलानि मतानि दर्शनान्तरेभ्यो गृहीतवन्त: प्रतिकूलानि च मतानि स्वसिद्धान्तविरोधात् खण्डनपूर्वकं त्यक्तवन्त इत्यलं बुद्धिमद्वर्य्येषु ॥

पाददीप :

१. सेन्टर ओफ एडवांस स्टडी इन संस्कृत, पूना युनिवर्सिटी, पूना द्वारा समायोजिते जैन लोजिक एन्ड एपिस्टेमोलोजी परिसंवादे (दि. २७-२८-२९ मार्च, १९९५) पठितो निबन्ध: ।

२. तौलनीयोऽत्रायं श्लोकः-

जैमिनेः षट् प्रमाणानि चत्वारि न्यायवादिनः । साख्यस्य त्रीणि वाक्यानि द्वे वैशेषिकबौद्धयोः ॥

—प्रमेयरत्न० २-२ इत्यत्र टिप्पण्यामुद्धृतः ।

प्र० चौखम्बा, वाराणसी, वि० सं० २०२०; पृ० ४३ ।

३. "अहवा हेऊ चउव्विहे पण्णत्ते, तं जहा-पच्चक्खे अणुमाणे औवम्मे आगमे ।"-स्थानाङ्गसूत्र, सं० मुनि कनैयालाल, प्र० धनपतिसिंह, कलकत्ता, सूत्र ३३८.

४. निखिलमपि जैनसाहित्यन्तज्ज्ञाः चतुर्षु विभागेषु विभजन्ति । तद्यथा-१. सिद्धान्तागमकालः- ६०० वि० सं० यावत् । २. अनेकान्त स्थापनाकालः ३०० तः ८०० वि० सं० यावत् । ३. प्रमाणव्यवस्थायुगः - ८०० वि० सं० तः १७०० वि० सं० यावत् । अयमेव दार्शनिकयुगः । ४. नवीनन्याययुगः प्रारम्भादद्ययावत् । - **जैनदर्शन**, ले० डॉ० महेन्द्रकुमार जैन, काशी, द्वितीय सं० सन् १९६६, पृ० १४ ।

५. 'मतिश्रुताऽवधिमनःपर्यायकेवलानि ज्ञानम् ॥९॥

इत्यनेन सूत्रेण सम्यग्ज्ञानस्य पञ्चभेदान् व्याख्याय तत्प्रमाणे ॥१०॥ आद्ये परोक्षम् ॥११॥ प्रत्यक्षमन्यत् ॥१२॥ इति त्रिभिः सूत्रैः सम्यग्ज्ञानस्य प्रमाणत्वं तद्भेदौ च कथितौ वर्तेते । —**तत्त्वार्थसूत्र**, सं० पं० सुखलाल संघवी, प्रकाशकः-जैन संस्कृति संशोधन मंडल, बनारस, सन्-१९५२, द्वितीयसंस्करण; पृ० १८ ।

६. श्रुतशब्दोऽयं श्रवणमुपादाय व्युत्पादितोऽपि रूढिवशात् कस्मिंश्चिज्ज्ञानविशेषे वर्तते.. कः पुनरसौ ज्ञानविशेष इति । अत आह- श्रुतं मतिपूर्वमिति ।

—**सर्वार्थसिद्धिः**, प्रका० भारतीयज्ञानपीठ, वाराणसी, १-२०

७. "ज्ञानमाद्यं मतिः संज्ञा चिन्ता चाभिनिबोधकम् ॥१०॥
पाङ्नामयोजनाच्छेषं श्रुतं शब्दानुयोजनात् ॥"
—**लघीयस्त्रय**, सं० महेन्द्रकुमार शास्त्री, प्रका० सिन्धी जैन ग्रन्थमाला, अहमदाबाद, सन् १९३९, कारिका १०-११ ।

८. 'मइभेओ चेव सुयं ।'- **विशेषावश्यकभाष्य**, सं० प्रका० यशोविजय ग्रन्थमाला, काशी, सन्- गाथा-८६ ।

९. द्रष्टव्यः विशेषावश्यकभाष्य, गाथा ९७ ।

१०. इंदियमणोणिमित्तं जं विण्णाणं सुयाणुसारेणं ।
नियमत्थुत्तिसमत्थं तं भावसुयं मई सेसं ॥

-तत्रैव, गाथा-१००

११. प्रमाणसङ्ग्रहः, सं० महेन्द्रकुमार शास्त्री, प्रका० सिन्धी जैनग्रन्थमाला, अहमदाबाद, सन्- १९३९; पृ० ९७ ।

१२. तुलना कार्या-'स्मरणप्रत्यभिज्ञानतर्कानुमानागमभेदतस्तत् पञ्चप्रकारकम् ॥-**प्रमाणनयतत्त्वालोकः**, (रत्नाकरावतारिकथा सहितः), सम्पा० -पण्डित दलसुख मालवणिया, प्रका० ला० द० विद्यामंदिर, अहमदाबाद-९, सन्-१९६८, भा० २, तृतीयपरिच्छेद, सू० -२ ।

१३. न्यायदर्शनम् १.१.७ ।

१४. उपर्युक्तस्य न्यायसूत्रस्य वात्स्यायनभाष्यम् ।

१५. जैनदर्शने तदितरदर्शनस्थानि प्रमाणानि कदा केन च प्रकारेण प्रविष्टानि, प्रवेशकश्चेति मात्रैतिह्य प्रधानविमर्शे श्रीमतां सुखलालसंघवी महाभागानां वचांसीमानि ध्यातव्यानि प्रतीयन्ते । तद्यथा-जान पडता है सब से पहिले आर्यरक्षित ने, जो जन्म से ब्राह्मण थे और वैदिक शास्त्रों का अभ्यास करने के बाद ही जैन साधु हुए थे, अपने ग्रन्थ अनुयोगद्वार में प्रत्यक्ष, अनुमानादि चार प्रमाणों का विभाग जो गौतम दर्शन (न्याय सू० १.१.३) में प्रसिद्ध है, उसको दाखिल किया ।"- **प्रमाणमीमांसा**, भाषा टिप्पणानि, सं० पण्डित सुखलाल जी संघवी,

अहमदाबाद, पुनर्मुद्रण, सन् १९८९, पृ० २० ।

१६. **न्यायावतारः**- सं० विजयमूर्ति शास्त्राचार्य, प्रका० श्रीपरमश्रुतप्रभावक मंडल, बम्बई, सन्- १९५०, पृ० ५९ (कारिका-८, ९) ।

१७. अन्यत्राप्तभेदरूपेणैतौ भेदौ किञ्चित्परिवर्तनं विधायेत्थं प्रदर्शितौ- "स च द्वेधा लौकिको, लोकोत्तरश्च ॥६॥ लौकिको जनकादिर्लोकोत्तरस्तु तीर्थङ्करादिः ॥ ७॥ —**प्रमाणनयतत्त्वालोकः**, भा० २, ४-६, ७.

१८. न्यायावतारसूत्रवार्तिकम् कारिका-५४, न्यायावतारसूत्रवार्तिकवृत्तौ; संपा० दलसुख मालवणिया, मुंबई, सन् १९४९.

१९. **परीक्षामुखम्**, ३/९४ ।

२०. न्यायदीपिका, ३/७३-११२ ।

२१. राजवार्तिक, ६/१३/२/५२३-२६ १/२०/१५/७८-१८ ।

२२. अष्टशती, अष्टसह० पृ० २३६ ।

२३. द्रष्टव्यम् न्यायकुमुदचन्द्रे । पृ० ५३८ ।

२४. द्रष्टव्यम्- न्यायकुमुदचन्द्र, पृ० ५३२-५३६ ।

२५. द्रष्टव्यमत्र 'न्यायकुमुदचन्द्रः', पृ० ५६८ (प्रका० माणिक्यचन्द्र ग्रन्थमाला, बम्बई) ।

२६. द्रष्टव्यम्- तदेव, पृ० ७६२ अथ च प्रमेयकमलमार्तण्डेऽपि पृ० ६६८ (निर्णयसागर प्रेस, मुंबई) ।

□□□

गाहासत्तसई की लोकधर्मिता

मीरा शर्मा

कालजयी साहित्य लोकतत्त्व से अनुप्राणित होता है । वस्तुत: साहित्यकार जब सामान्य धरातल पर खड़े होकर लोकजीवन को अपनी भावनाओं में रङ्ग कर प्रस्तुत करता है वही साहित्य सर्वथा शाश्वत और युगसापेक्ष होता है । लोकजीवन की सारी समूची अभिव्यक्तियों जैसे हमारी संस्कृति, धार्मिक संस्कार, समाज की सनातन समस्यायें, जो अनादिकाल से चली आ रही हैं और लोक जीवन की पारस्परिक प्रथायें एवं विश्वास जो लोकजीवन के राजमार्ग हैं, लोकमानस, उसकी गहराईयाँ, प्रवृत्तियाँ, शक्तियाँ और उनके अनन्त आयाम ये सभी कालजयी साहित्य के प्राणतत्त्व हैं । लोकधर्मिता के इसी प्राणतत्त्व ने राजासातवाहन हाल कृत 'गाहासत्तसई को कालजयी साहित्य की गरिमा प्रदान कर भावी साहित्यकार की लेखनी को एक नयी दिशा दी हैं ।

लोकधर्म या लोकतत्त्व जीवनव्यापी है और जनसमूह का विशिष्ट अङ्ग हैं । डॉ० सत्येन्द्र ने स्पष्ट रूप में कहा है—लोक मनुष्य समाज का वह वर्ग है, जो आभिजात्य संस्कार, शास्त्रीय और पाण्डित्य के अहङ्कार से शून्य है और जो एक परम्परा के प्रवाह में जीवित है, ऐसे लोक की अभिव्यक्ति में जो तत्त्व मिलते हैं वे लोकतत्त्व कहलाते हैं । लोक का अर्थ जनसामान्य एवं उसके प्रचलित रीति-रिवाज एवं विश्वास तथा अन्ध-परम्पराओं आदि से लिया है ।[1] मुख्यत: लोक शब्द के दो अर्थ प्रचलित रहे हैं : एक तो 'विश्व' अथवा 'समाज' दूसरा 'जनसामान्य' अथवा संस्कृति के एक विशिष्ट भेद की ओर इङ्गित करने वाले एक आधुनिक विश्लेषण के रूप में इस शब्द का अर्थ 'ग्राम्य' अथवा 'जनपदीय' समझा जाता है ।

'लोकतत्त्व' अंग्रेजी भाषा के 'फोक लोक'[2] (Folk Lore) का समानार्थी है । जॉन थॉमस ने यह शब्द 'सभ्य जातियों में प्राप्त होने वाले असंस्कृत समुदाय की परम्परा प्रथित रीतिरिवाज और विश्वास के लिए प्रयुक्त किया[3] है । 'न्यू स्टैन्डर्ड डिक्शनरी ओफ द इंगलिश लैंग्वेज' के अनुसार 'साधारण जनता की प्रथाओं, विश्वासों और रीतिरिवाजों, अथवा उसके ज्ञान को 'फोक लोर' कहा जा सकता है ।[4] टी० शिवले तथा जे० एल० मिश आदि पाश्चात्य विद्वानों ने भी 'फोक लोर' के अन्तर्गत ऐसे सभी प्राचीन विश्वासों प्रथाओं, परम्पराओं, अन्धविश्वासों, उत्सव-रीतियों परम्परागत खेल या मनोरंजन, लोक-गीत, लोक नृत्य, प्रचलित कहावतों तथा कलाकौशल को सम्मिलित किया है । 'फोकलोर' की वैज्ञानिक एवं व्यापक परिभाषा श्रीमती शार्लट सोफिया वर्न ने अपनी पुस्तक The Book of Folk-Lore में दी है । डॉ० सत्येन्द्र

ने इनकी परिभाषा को अत्यधिक महत्त्वपूर्ण मानते हुए तथा वर्तमान में आंग्ल शब्द 'फोक लोर' का हिन्दी पर्याय 'लोकवार्ता' मानते हुए डॉ० उसकी परिभाषा 'साधारण जनता की प्रथा, विश्वास, और रीतिरिवाज अथवा 'फोक लोर' दी है। इसके आगे आपने कहा है कि आचार-विचार जिसमें मानव का पारस्परिक रूप प्रत्यक्ष होता है, और जिसके स्रोत लोकमानस में पाये जाते हैं तथा जिसमें परिमार्जन और संस्कार की चेतना काम नहीं करती। लौकिक, धार्मिक-विश्वास, कथा, धर्म-कथा, लौकिक-गाथा, कहावतें, पहेलियों आदि सभी लोकवार्ता के अङ्ग हैं।

इस प्रकार 'लोक' शब्द नगर, ग्राम में स्थित समस्त मानवजाति का एक ऐसा समुदाय है जो प्राचीन विश्वासों, रीतिरिवाजों तथा संस्कृतियों के प्रति आस्थावान् है। अधिकांश विद्वानों ने अशिक्षित एवं अल्प सभ्यजनता को ही 'लोक' के अन्तर्गत समाविष्ट किया है, परन्तु ऐसा शिक्षित समाज जिसमें परम्परागत तत्त्व विद्यमान है वह भी लोक का प्रतिनिधित्व करता है 'लोकतत्त्व' मनुष्य के आदिम विश्वासों और अनुभूतियों की अभिव्यक्ति है जो केवल अतीत की वस्तु नहीं है अपितु इसमें जन-जीवन की आत्मा की भी प्राण-प्रतिष्ठा रहती है। सभ्यता के उच्चतम शिखर पर प्रतिष्ठित होने पर भी पुरातन और व्यवहार छिपे हुए हैं, मानस मन के विवेकजन्य चिन्तन के प्रयास में रञ्चमात्र शिथिलता आते ही वे मानस धरातल पर सहसा उभर आते हैं यदि साहित्य को मानवमन की सूक्ष्मतम अनुभूतियों को इन्द्रधनुषी प्रतिबिम्ब कहें तो उसमें परिव्याप्त लोकतत्त्व को उसकी सूक्ष्मतम अंतरङ्ग सप्तरङ्गिणी आभा का मूल कहा जाना चाहिये। साहित्य में लोकतत्त्व की यह परिव्याप्ति इतनी अंतरङ्गिणी और सूक्ष्म है कि उसमें सतत विद्यमान रहने पर भी प्रायः अप्रतीत बनी रहती है। साहित्य एवं लोकतत्त्व की परिव्याप्ति भी एक शाश्वत एवं चिरस्थायी तत्त्व है।

गाहासत्तसई समय के कैनवास पर उकेरी कुछ ऐसी ही महाराष्ट्री प्राकृत में निबद्ध काव्यकृति है जिसमें तत्कालीन सामान्य लोक-जीवन मूर्तमान हो उठा है तथा जिसने युगधारा को नगर से ग्रामों की ओर मोडा है, लोकजीवन की वास्तविक अनुभूतियों को अपने यथार्थ परिवेश में वर्णन का प्रमुख विषय बनाया है। 'पल्ली' और 'गिरिग्रामों' में लहराता उन्मुक्त जीवन ही गाहाकार का प्रेरणास्रोत है। नागर जीवन की शिष्टभव्यता उन्हें नहीं मोहती। इतिहास की दृष्टि से यह साहित्य जगत की अभूतपूर्व घटना है। कवि हाल ने साहित्यिक ही नहीं सांस्कृतिक एवं लोक-जीवन की दृष्टि से भी एक नूतन सन्दर्भ की स्थापना कर काव्य जगत् में एक ऐसी पारम्परिक रचना विधा का प्रणयन किया है जो स्वयं में प्राचीन होकर चिर-नवीन है।

ग्रामीण समाज के लोकपक्ष को साकार करने वाले अनेक प्रसंग गाहासत्तसई में प्रभूत मात्रा में अनुस्यूत हैं। डॉ० सत्येन्द्र[५], श्री श्याम परमार[६] तथा डॉ० रवीन्द्र भ्रमर ने श्रीमती शार्लट सोफिया वर्न[७] की परिभाषा के आधार पर लोक विधायक तत्त्वों को तीन वर्गों में विभक्त किया है।[८]

१. लोकप्रचलित विश्वास, २. लौकिक रीतिरिवाज, ३. लोकसाहित्य लोकप्रचलित विश्वासों के अन्तर्गत जन्त्र-तन्त्र, टोना, टोटका, भूतप्रेत, देवी-देवता, शकुन-अपशकुन, स्वप्नविचार, लौकिक

रीतिरिवाज के अन्तर्गत संस्कार, अनुष्ठान, पर्व-व्रत, उत्सव, उद्योगधन्धे, व्यवसाय प्रथायें, परम्परायें और उनके आचार-विचार तथा लोक साहित्य के अन्तर्गत कथा, गीत एवं लोकोक्तियों का समावेश किया जाता है ।

लोक जीवन में अलौकिक प्राणियों एवं अदृश्य शक्तियों से सम्बन्ध अनेक प्रकार के विश्वास प्रचलित हैं । अनिष्ट निवारण एवं इष्ट सिद्धि के निमित्त देवी-देवताओं से सम्बद्ध लोक की यह विश्वासभावना वस्तुतः लोकधर्म का अङ्ग है और इसे धार्मिक अन्धविश्वास के रूप में स्वीकार किया जाता है । नायिका भगवती निशा से अपने अभीष्ट की सिद्धि के लिए प्रार्थना करती हुई कहती है :-

"तह बड्ढ भअवइ णिसे जह से कल्लं विअण होइ"[९] दैवगति अगम्य है । हानि-लाभ, जीवन, मरण, यश-अपयश विधि हाथ यह एक प्रचलित लौकिक धारणा है । गाहासत्तसई की नायिका का भी दैव पर अटूट विश्वास है ।

"हिअअं हिअए गिहिअं विओइअं कित्थ देव्वेण"[१०]

कर्मफल दैवाधीन है । भाग्यफल को सर्वोपरि, सर्वशक्तिमान और अवश्यमेव घटित होने वाला फल कहा गया है । वह पूर्व आयोजित होता है । इसी भाग्यवत (दैववाद) का समर्थन गा. स. की नायिका फल दैव के अधीन है तो किया क्या जाय ? कह कर कर रही है :—

'देव्वाअत्तम्मि फले किं कीरइ एत्तिअं पुणोभणिमो[११]

मानव-जीवन में जो भी शुभ-अशुभ होता है वह पाप-पुण्य कर्मों का ही परिणाम होता है इसीलिए प्रच्छन्न में किए हुए पाप की शङ्का आदमी के हृदय से बाहर नहीं निकलती-

"रक्तमें त्तं पि ण किट्टइ अणुदिअहविइण्णगरू असंतावा

पच्छण्णपावसङ्के व्व . . . .[१२]"

इसी प्रकार अङ्गनओं का स्नेह भाजन बनना[१३] तथा सुख-दुःख में साथ देने वाला व्यक्ति पुण्यों से ही प्राप्त होता है ।[१४]

यह लोक विश्वास है कि जिसकी चिन्ता करते हुए मृत्यु होती है पुनर्जन्म में वही प्राप्त होता है मरणे या मतिः सा गतिः इसी विश्वास के कारण प्रिय के प्रति क्रोध से भरी नायिका इसलिये मरना नहीं चाहती कि इस समय मरने पर पुनर्जन्म में फिर वही मिलगा ।[१५]

मानवजीवन का कोई भी क्षेत्र शकुनों[१६] के व्यापक प्रस्ताव से अछूता नहीं रहा है वह धार्मिक क्षेत्र हो अथवा सांस्कृतिक, आधिभौतिक हो या आधिदैविक, आध्यात्मिक हो या मनोवैज्ञानिक किसी न किसी रूप में शकुन सिद्धान्त इससे सम्बन्धित रहा है । गाहासत्तसई में शुभ शुभ शकुनों के अनेक उल्लेख हैं स्त्रिएं की काम नेत्र स्पन्दन शुभ माना जाता है :-

"फुरिए वामच्छितुए जइ एहिइ सो णिओ ज्ज ता सुइरं'
संमीलिअ दाहिणअं तुइ अति एहं पलोइस्सं ।"[१७]

यात्रा के समय शकुनविचार बहुत पुराना है । अगारक (मंगल) वार और विष्टि दिवस यात्रा के लिए वर्जित माने जाते हैं :–

"धरिणिधणत्थणपेलमण-सुहेल्लिपडिअस्स होन्तपहिअस्स ।
अवसडणङ्गारिअरवारविछिदिअहा सुहावेन्ति ।।[१८]"

यात्रामार्ग में कृपणसार मृग का दाँये से बांये जाना[१९] तथा बौद्धभिक्खुओं का दर्शन[२०] अशुभ माना जाता है । यात्रारम्भ में कमल अथवा आम्रमंजरी से युक्त जलपूर्ण प्रस्थान-कलश की स्थापना शुभ मानी जाती है ।[२१] प्रवासी प्रिय की मंगल कामना हेतु 'काम्बलि' शुभ मानी जाती है ।[२२] इसी प्रकार पूर्णिमा तिथि के चन्द्र-दर्शन से सुख की प्राप्ति होती है-'जइ कोत्तिओ सि सुन्दर सअलति ही चंददंसणसुहागं[२३] ग्रहबाधा ण इमा गहलङ्घिआ परिब्भमइ[२४] तथा भूतप्रेतों में विश्वास-भूआणं व वाइओवंसो[२५] रूप घणसमअं पामरी सवइ[२६] तथा शपथ-सवहसअरक्खिओट्ठं[२७] आदि लोक विश्वासों से सत्तसई का सम्पूर्ण लोकवातावरण ओतप्रोत है ।

सामाजिक संस्थाओं में कौटुम्बिक जीवन का सर्वाधिक चित्रण गाहासत्तसई में हुआ है । ग्रामीण भारतीय कुटुम्ब का वास्तविक स्वरूप संयुक्त परिवार का रहा है । जिसमें कौटुम्बिक व्यवस्था का संचालक गृहपति[२८] गुरुजन 'गामणि धूआइ गुरुअणसमक्खं[२९] देवर तथा देवरानियाँ 'छेअहिं दिअरजाआहि'..[३०] सास बहू 'सासूणवब्भदंसणकण्ठागअजीविअं[३१] मातुलानी 'मामि सरसक्खराणाँ...[३२] आदि सम्बन्धों के मार्मिक चित्रण अनेक गाथाओं में विद्यमान है । देवर-भाभी के प्रणय-प्रसंग का चित्रण ग्राम-गीतों की तरह ही गाथाओं में प्राप्य है । संयुक्त भारतीय परिवार में पति का अनुज होने के नाते देवर को धृष्ट और उद्दंड होने का सहज अधिकार प्राप्त है, जिसका उपभोग वह भाभी के साथ परिहास एवं प्रणय में करता है । कहीं वह नव-लता से प्रहार करके भाभी की देह को रोमांचित करता है ।[३३] तो कभी भाभी देवरानियों को लेकर देवर से रोचक विनोद करती है ।[३४] लोक साहित्य के प्रमुख पात्र सपत्नी (सौंत) की अनेक भंगिमायें कई गाथाओं में सजीव रूप से अंकित हुई हैं[३५], परस्पर ईर्षाभाव जिसे लोक में 'सौंतिया डाह कहा जाता है। सत्तसई में विशेषरूप से वर्णित है । आयजित कनिष्का (सपत्नी) के यौवन को देखती है, तो ईर्षा से जल उठती है ।

'हल्लफलण्हाणपसाहिआणँ ह्णवासरे सवत्तीणं ।
अज्जाएँ भज्जणाणाअरेण कहिअं व सोहग्गं ।।[३६]

सपत्नी द्वारा पति को सपत्नी के दुश्चरितों की सूचना देती हुई कहती है "सूप जल गया, चने न भूंज पाई, वह जवीन भी निकल गया, घर में सासू भी रिवसिया गई है, मानों उसने बहसे के आगे बंसरी बजाई"[३७] प्रिय के प्रेम पर एकनिष्ठ अधिकार प्राप्त करना नारी-जीवन का लक्ष्य है । प्रेम में बँटवारा उसे कदापि सहन नहीं है । नारी के इस संवेदनशील पक्ष का जैसा

मनोवैज्ञानिक चित्राङ्कन कवि ने सामान्य धरातल पर खड़े होकर किया है वैसा अन्यत्र दुर्लभ है ।

कौटुम्बिक व्यवसाय पर आधारित जन्मसिद्ध जाति-संस्था गाथाओं में प्रमुखतया चित्रित है । सत्तसई का लोकसमाज हलिक, व्याध, पुलिन्द एवं अन्य व्यवसायी जातियों में विभक्त है । सत्तसई में भारतीय कृषक (हलिक) का चित्रण सर्वाधिक हुआ है ।[३८] शालिक्षेत्र में जब धान की बालियाँ उसके घुटनों का स्पर्श करती है तो उसे हर्षातिरेक में ऐसा लगता है मानो उसका नन्हा सा दूध पीता बेटा उसके घुटने पकड कर खड़ा है :—

पङ्कभइलेण द्दीरेक्कपाइणा

आनन्दिज्जइ हलिओ पुत्तेण व सालिद्दे-तेण ॥[३९]

हलिकवधू के प्रेम[४०] और हलिक-दुहिता[४१] के अनिंद्य तारुण्य और प्रेम प्रसंगों के चित्र भी अंकित हैं । इसी प्रकार व्याध[४२] पुलिन्द[४३] गोप[४४] दान कर्मा आदि अनेक व्यावसायिक जातियों का उल्लेख हुआ है । इनके अतिरिक्त ग्रामणी[४५], पल्लीपति[४६] का भी वर्णन मिलता है । ग्रामीण समाज में प्रचलित व्यवसायों और उद्योगों का अंकन सत्तसई में हुआ है । कृषि[४७] पशुपालन[४८] जैसे मुख्य व्यवसाओं के अतिरिक्त 'मृगया'[४९] का भी विशेष उल्लेख हुआ है ।

लोक-व्रतों में श्यामशबल[५०] साहेइ सामसबलंव... 'हुअवहवरुणाणँ माहप्पं', कोशपान, 'कोसपाणुज्जअ व पमहादिवं णमह'[५१] आदि का उल्लेख सत्तसई में हुआ है । गाहासत्तसई में अनेक लोक-प्रथाओं का भी वर्णन हुआ है यथा सती प्रथा-'अणुमरणपत्थिआए पच्चागअजीविए पिअअमम्हि'[५२] वायनक वितरण की प्रथा-'घरपरिवाडीअ पहेणआइं तुह दंसणासाए'[५३] लांगनपूजन 'फलठीवाहणपुण्णाहमङ्गलं लङ्गले कुणन्तीए'[५४] बहुविवाह[५५] आदि लोकप्रथाओं का बड़ा ही सजीव चित्रण मिलता है । लोकोत्सवों में फाल्गुनोत्सव के नाम से होली का वर्णन मिलता है ।

'फग्गुच्छणणि द्दोसं केण वि कद्दमपसाहणं दिण्णं'[५६] रंगों का त्यौहार भारतीय समाज का सर्वाधिक लोकप्रिय पर्व है । पर्व ही नहीं लोक में प्रचलित खेलकूद एवं मनोरंजन के साधन वर्णित है जैसे उत्फुल्लिका, जलक्रीडा, पाशकशारी, मल्लयुद्ध, मृगया, नृत्य एवं संगीत, दोहद क्रीडा[५७] भित्तिचित्रण, रात्रिजागरण, सारिका या कुक्कुटपालन[५८] आदि के वर्णन पूर्णतया ग्रामीण वातावरण के सन्दर्भ में प्राप्त होते हैं ।

लोकाख्यान, गीत तथा लोकोक्तियाँ लोक साहित्य के अन्तर्गत आते हैं । लोकाख्यानों और लोकगीतों का प्रत्यक्ष निबन्धन गाथाओं में सम्भव नहीं है तथापि प्राकृत भाषा के लोकछन्द 'गाहा' का चयन ही सत्तसई के लोकरूप को सिद्ध करने के लिए पर्याप्त है । गाथाओं में अनेकत्र गीतों के गाये जाने के संकेत हैं जो लोकवातावरण में ग्रामीणों द्वारा गाये गये लोकगीत ही हो सकते हैं यथा विवाद में मंगल गायिकाओं द्वारा गाये हुए गीत[५९] फसल पकने पर उल्लसित किसान का चाँदनी रात में गाया गीत[६०] मधुमास में गोपी के कंठ से फूटता विरहगीत[६१] आदि ।

प्राकृत भाषा की मनोहारी समाहार शक्ति को प्रमाणित करती लोकोक्तियों के अनूठे प्रयोग सत्तसई की गाथाओं में मिलते हैं । यथा 'सुईवेहे मुसल....यानि लोग भी सुई के छेद में मूसल

डालने बात का बतंगड बनाने से बाज नहीं आते ।[६२] 'कुडङ्गण याणुआ सेसा'... कुञ्जों के टूट बच रहे हैं 'मूलुच्छेअं गअं पेम्मं'... प्रेम की जडे कट गइ[६३] 'कजं बालुअवरण इव...बालू की भीत की तरह[६४] 'धुक्काधुक्कइ जीअं व विज्जुआ.. बिजली धुमधुका रही है[६५] आदि अनेक ऐसी उक्तियाँ है जो 'गाहासत्तसई' के लोकरूप को प्रकट करती है ।

इस प्रकार 'गाहासत्तसई' में लोकतत्त्व के सभी उपादानों की सन्निहिति सर्वत्र व्याप्त है । एक ओर प्राकृत भाषा की स्वाभाविक मधुरिमा और दूसरी ओर लोकतत्त्व की शत-शत सहजानुभूतियाँ अत्यन्त-व्यापक, विशद एवं प्रभावात्मक रूप में व्यक्त हुई हैं जिनके परिणाम स्वरूप सर्वत्र सहजता, नैसर्गिकता, जिनके अकृत्रिमता एवं सरलता परिलक्षित होती है, गाहासत्तसई की काव्यमयी धारा जहाँ एक भोले भाले ग्राम्य जीवन का नैसर्गिक स्पर्श करती है तो दूसरी ओर लोक जीवन की अमराइयों में विचरर्ण करती हुई सहजोद्रेक से आगे बढ़ती चली जाती है । वस्तुतः गाहासत्तसई लोकधर्मिता की दृष्टि से प्राकृत भाषा की श्रेष्ठ काव्यकृति है ।

पादटीप :-

१. डॉ० सत्येन्द्र-लोकवार्ता विज्ञान भाग १. पृ० सं० ३.

२. (A) 'फोकलोर' इस शब्द की सर्वप्रथम व्याख्या सन् १८४६ में डब्ल्यू० जे० थॉमस ने की । तथा (B.) इस शब्द का प्रयोग जॉन मेमव ने सर्वप्रथम डब्ल्यू जे० थॉमस के लिखे गये उस पत्र में किया था जो लंदन की पत्रिका 'एनी थेअम' थे सम्पादक के नाम लिखा गया था । A. Encyclopaedia Britanica Volume XI Page No. 440 (B) Volume-VI Page No. 50

३. To denote the traditions, customs and superstitions of the uncleaned classes the civilized nations- Encyclopaedia Britanica volume XI page No. 455.

४. Folk lore the traditions, and customs of these people Funks waghalls—New standered Dictionary p. No. 954.

५. लोक साहित्य का अध्ययन पृ० सं० ६-७ ।

६. भारतीय लोक साहित्य पृ० सं० २० ।

७. The book of Folk Lore.

८. डॉ० रवीन्द्रभ्रमर-साहित्य में लोकतत्त्व पृ० सं० ४ ।

९. गा० सं० १/४६ ।

१०. गा० सं० २/३२ ।

११. गा० सं० ३/९९ ।

१२. गा० सं० २/८३ ।

१३. . . . . . . पुण्णेहिँ जणो पिओ होइ—सा० स० २/७४ ।

१४. अविइण्हपेच्छणिज्जं समसुहदुःखं विइण्णसब्भावं ।
अण्णोण्णहिअअलग्गं पुण्णेहिँ जणो जणँ लहइ ॥ गा० स० १/९९ ।

१५. तेण ण भरामि मण्णूहि पूरिआ अज्ज जेणेरसुहअ ।
तोग्गअमणा मरन्ति मा तुज्झ पुणोति लग्गिस्सं ॥ (गा० सा० ४/७५)

१६. नैमित्तिकं यत् प्रतिभाव्य सर्वे फलं शुभाशोभनयोरब्रवीति-अर्थात् वे निमित्त जो भविष्य में होने वाले सभी प्रकार के शुभाशुभ फल से बतायें शकुन हैं -शब्दकल्पद्रुम भाग ५ पृ० सं० ३ ।

१७. गा० स० २/३७ ।

१८. गा० स० ३/६ ।

१९. एको वि कद्मसारो ण देइ गन्तुं पआहिणबलन्तो । गा० स० १/२५ ।

२०. गा० सा० ४/८ ।

२१. गा० स० २/४३ ।

२२. पासासङ्की काओ णेच्छदि दिण्णंपि पहिअधरणीए ।
ओअन्तकरअलोगलिअवलअगज्झट्ठिअं पिण्डं ॥ गा० सं० ३/५ ।

२३.

२४. गा० स० ४/८६ ।

२५. गा० स० ६/५७ ।

२६. गा० स० ५/२४ ।

२७. गा० स० ५/३३, ५७, ६/१८ ।

२८. गहवइणा २/७२, २/३०, ३/५४ ।

२९. गा० स० ४/७०, ७/१६, ५/८४ ।

३०. गा० स० ४/१३, ५/६९, ६/७०, ७/८८ ।

३१. गा० स० ४/३६ ।

३२. गा० स० ५/५० ।

३३. णवलअपहरं अङ्गे जेहिं जेन्हि महइ देवरो दाउं ।
रोमञ्चदण्डराई तहिं तहि दीसइ बहूए "-गा० स० १/२८ ।

३४. अइ दिअर किं ण पेच्छसि आआसं किं मुहा पलोएसि । जाआइ बाहुमूलम्मि अद्धअन्दाणँ परिवाडि" — गा० स. ६/७० ।

३५. गा० स० १/७२, २/६, ७३, ३/१२, ७५, ५/४९, ६/२८, ८६ ।

३६. गा० स० १/७९ ।

३७. सुप्पं डङ्ढ चणआ ण मज्जिआ सो जुआ अइझन्तो । अत्ता वि घरे कुविआ भूआणँ व वाइओ वंसो ॥ गा० स० ६/५७ ।

३८. गा० स० १/८४, २/७, ८०, ३/४१, ४/१७, ६०, ७३, ८८, ५/५६, ६/६७, ६/१००, ७/३, १३, ८९, ९२ आदि ।

३९. गा० स० ६/६७ ।

४०. गा० स० ३/४१ ।

४१. गा० स० ४/८८ ।

४२. गा० स० २/२२, ७/१, १०, २९, ६३ ।

४३. गा० स० २/१६, ४/१८, ७/३०, ३३, ३४ ।

४४. गा० स० २/१२, १४, २८, ७/३७, ५५, ९०, ९१ ।

४५. गा० स० ५/६ ।

४६. गा० स० ७/३२ ।

४७. गा० स० ४/२४ ।

४८. गा० स० ७/९ ।

४९. गा० स० २/१६ ।

५०. गा० स० २/८५, ३/११ इस व्रत में अग्नि में प्रवेश कर जल में प्रवेश किया जाता है। इसी को 'अग्निपानीय' भी कहते हैं।

५१. गा० स० ५/४८-कोषपान एक प्रकार का धर्मशास्त्रीय कार्य है जो किसी पाप के शोधन के लिए किया जाता है इसे 'तोर्थक्' भी कहते हैं।

५२. गा० स० ७/३३ ।

५३. गा० स० ५/२८ ।

५४. गा० स० २/६५ ।

५५. गा० स० ५/४९ सव्वासु वि पि आसु अणुमरणगहिअवे सासु ।

५६. गा० स० ५/६९ ।

५७. गा० स० २/९६, १/५८, २/३८,७/८४, ८५, २/२१, ७/१, ४/४, २/५१ ।

५८. गा० स० १/३५, १/५८, ६/५२, ६/८२ ।

५९. मण्णे आअण्णन्ता आसण्णविआहमङ्गलुग्गाइहं- ७/४३ ।

६०. णिप्पण्णसस्सरिद्धी सच्छन्दं गाइ पामरो सरए- ७/८९ ।

६१. गाअइ विरहक्खरो बद्धपहिअमणमोहणं गोवी २/२८ ।

६२. गा० सा० ७/१ ।

६३. गा० सा० ३/३२ ।

६४. गा० सा० ३/४५ ।

६५. गा० सा० ६/८३ ।

□ □ □

संस्कृत महाकाव्यों में जैनियों का योगदान

उदयनाथ झा "अशोक"

भारतीय दर्शन परम्परा का प्रमुखतः द्विविध वर्गीकरण किया गया है—आस्तिक और नास्तिक। इन दोनों ही दर्शनों की परिणति मोक्ष है। दार्शनिक चिन्तक, विचारक, मनीषि विद्वान् हों या ऋषि, इस सृष्टि में जो कुछ विद्यमान है, जो कुछ वर्त्तमान है, उसमें असन्तोष के साथ ही भविष्य की कोई समाधायक आशा की किरण भी उन सबकी सतत अभिप्रेरक रही है और इसीलिये दर्शन जगत् किसी न किसी रूप में दुःख से प्रारम्भ होकर दुःखमुक्ति तक की यात्रा तय करता है।

कहना न होगा कि भारतीय विद्वान् अस्ति-नास्ति के वैदिक आधार पर विभाजित नास्तिक दर्शन की कोटि में बौद्ध-जैन व चार्वाक दर्शनों को रखते आए हैं। बहुत पहले विद्वानों में यह धारणा थी कि जैनधर्म बौद्धधर्म की ही एक शाखा किं वा सम्प्रदाय है। परन्तु जैनधर्म की मौलिक तत्त्व मीमांसा एवं दर्शन पर किये गए शोध कार्य से अब यह तथ्य स्पष्ट हो गया है कि जैनधर्म एक स्वतन्त्र दर्शन एवं तात्त्विक चिन्तन से समन्वित होने के कारण बौद्धधर्म से सर्वथा भिन्न है। जैनधर्म ही आर्हत सम्प्रदाय है, क्योंकि अर्हत् या तीर्थंकर, "जिन" के ही पर्याय हैं। जैनधर्म के दो भाग हैं—दिगम्बर और श्वेताम्बर। जयन्तभट्ट के अनुसार बाद में इसके और भी सम्प्रदाय बने, जैसा कि वे लिखते हैं -"आर्हतः केऽपि दिगम्बराः, केऽपि वृक्षविदलमात्रवसनाः, केऽपि रक्तवाससः, केऽपि श्वेतपटाः"। इसी प्रकार मैथिल पद्मनाभ मिश्र, केवल दिगम्बर में ही कई भेद मानते हैं—"दिगम्बरभेदा एवं क्षपणक श्वेताम्बरार्हतनीलाम्बररक्ताम्बर चर्माम्बरबर्हाम्बरादयः"।

जैनधर्मग्रन्थों की भाषा प्राकृत है। जनता के हितरक्षण—हेतु उन्हीं की इस भाषा में भगवान् महावीर के आध्यात्मिक उपदेशों का गुम्फन किया गया है। कहने की आवश्यकता नहीं कि जिस प्रकार वैदिक धर्मावलम्बियों की भाषा संस्कृत रही है, बौद्धधर्मावलम्बियों की भाषा पाली रही है, उसी प्रकार जैनधर्म की भाषा प्राकृत है। परन्तु जैनधर्म को तर्क की ठोस भित्ति पर प्रतिष्ठित करने के लिए तथा अध्यात्मवेत्ता मनीषियों के बीच इसे ग्राह्य और स्पृहणीय बनाने के लिए जैनाचार्यों को जिस प्रकार संस्कृतभाषा का आश्रय लेना अत्यावश्यक दिखा, उसी प्रकार संस्कृतलेखों को भी आपनी रचना को ठोस, वैज्ञानिक, तार्किक और जनसामान्यतक के लिये बनाने हेतु प्राकृत भाषा का सहारा लेना नितान्त अनिवार्य हो गया। यही कारण था कि संस्कृत के सभी प्राचीन नाटककार स्त्री चेट आदि पात्रों के लिए "प्राकृत" भाषा का ही चयन करते

थे। राजशेखर जैसे कुछ ऐसे भी नाटककार हैं, जिन्होंने अपने नाटकों में अथवा नाटकविशेष में केवल प्राकृतभाषा का ही आश्रय ग्रहण किये हैं। कर्पूरमंजरी जैसी इस प्रकार की रचना को संस्कृत नाट्यशास्त्रियों ने 'सट्टक'' की संज्ञा दी है।

यह कहना थोड़ा कठिन होगा कि सबसे पहले इस दिशा में किसने कदम आगे बढाया, परन्तु उपलब्ध इतिहास और साक्ष्य के आधार पर यह बता देना भी गलत न होगा कि संस्कृत नाटककार भास वि० पू० चतुर्थ या पंचम श० ने ही सबसे पहले अपने नाटकों में प्राकृत भाषा को अपनाया था, फिर स्वामी समन्तभद्र दूसरी शताब्दी ने भक्तिरस से स्निग्ध श्लाघनीय स्तोत्रों की रचना कर संस्कृतकाव्यों के प्रणयन का श्रीगणेश किया।

संस्कृतसाहित्य की विद्याओं में जैनाचार्यों के जो योगदान रहे हैं, उन सभी का मात्र एक प्रबन्ध में नामोल्लेख तक करना असम्भव हैं। न जाने कितने नाम इतिहासकारों की गवेषणा के बाद भी रह गये हैं, पर जो उपलब्ध हैं, उनमें भी सैकड़ों आचार्य ऐसे हैं, जिनका केवल उल्लेख मिलता है, उनका परिचय या ग्रन्थ का अस्तित्व नहीं। तथापि संस्कृत साहित्य के स्तोत्रकाव्य हों अथवा चम्पूकाव्य, गद्यकाव्य हों अथवा खण्डकाव्य, सन्देशकाव्य हों अथवा दृश्यकाव्य हों, हर एक विद्या में जैनाचार्यों ने रचनायें करके संस्कृत साहित्य वाटिका को सुशोभित किया है। परन्तु यहाँ हम मात्र महाकाव्य के क्षेत्र में उनके योगदानों को एकत्रित करने का प्रयास कर रहे हैं तथा इस प्रयास में जिन ग्रन्थों, लेखों, लेखकों वा विद्वानों से सहायता मिली है उन सभी के प्रति सविनय कार्त्तज्ञ प्रदर्शित करते हैं।

१. आचार्य जटासिंह नन्दी :- (६ठी शता. उत्तरार्द्ध)

यद्यपि इनका नाम सिंहनन्दी था, परन्तु इस नाम के अनेक जैनाचार्यों के होने से और उन सब से इनका पार्थक्य सिद्ध करने के लिये इनका नाम जटासिंहनन्दी प्रसिद्ध हो गया। जटाचार्य या जटिल भी इनका ही नामान्तर था, जबकि इनका समय छठी सदी का उत्तरार्द्ध और स्थान कर्नाटक माना जा रहा है। इन्होंने ३१ सर्गों में वरांगचरित नामक महाकाव्य की रचना की थी। कठोर दार्शनिक तत्त्वों को भी सहृदय पाठकों के हृदय में सरसकाव्य के माध्यम से उतारने का इन्होंने सफल एवं श्लाघनीय प्रयास किया है। यहाँ यह स्मरणीय है कि इस महाकाव्य के चरित नायक "वरांग" २२ वे तीर्थंकर नेमिनाथ और भगवान् श्रीकृष्ण के समकालीन जैन महापुरुष के रूप में विख्यात हैं।

२. वीरनन्दी : (१०वीं श० उत्तरार्द्ध)

चन्द्रप्रभ नामक तीर्थंकर के जीवनचरित पर आधारित "चन्द्रप्रभचरित" महाकाव्य के रचयिता आचार्य वीरनन्दी, आ० अभयनन्दी के शिष्य थे और इनका समय दशमी श० का उत्तरार्द्ध माना जाता है। कालिदास की शैली से प्रभावित कवि अपने इस १८ सर्गीय महाकाव्य में तीर्थंकर चन्द्रप्रभ के सात भवों की कथा का विस्तार से वर्णन किया है। जीवन को निर्वाण की ओर ले जाने के अपने उद्देश्य में कवि वास्तविकरूप से सफल हुआ है। जबकि कवि की कमनीय

कल्पना भी विलक्षण उतरी है :

"हस्तेन सुन्दरि मुहुर्विनिवारितोऽपि, भृंगस्तवाधरदले नवविद्रुमाने ।
धावन्नशोक नवपल्लवशंकिचेताः, स्मेरं करिष्यति न कस्य मुखं वनान्ते ॥"

३. कवि असंग : (१० वीं० श० उत्त०)

जैनाचार्य नागनन्दी के शिष्य कवि असग नैरेति के गर्भज और पटुमति के पुत्र थे । दशमी शताब्दी के उत्तरार्द्ध में उत्पन्न इस कवि ने संस्कृत में दो जैनभित्तिमूलक महाकाव्यों की रचना की है -वर्द्धमानचरित और शान्तिनाथचरित । १८ सर्गों वाले वर्द्धमानचरित में जहाँ भगवान् महावीर के पूर्वजन्मों की कथा के साथ साथ वर्धमान महावीर के जीवनचरित्र का सांगोपांग वर्णन किया गया है, वहीं शान्तिनाथचरितमहाकाव्य, जैनधर्म के १६वें तीर्थंकर भगवान् शान्तिनाथ का वर्णन प्रस्तुत करता है । इनके महाकाव्यों में जहाँ वैदर्भी शैली का विन्यास है, वहीं पर स्थलानुसार रस की अभिव्यक्ति बड़ी मनभाविनी है । अलंकारों का प्रचुर प्रयोग व प्रसादगुण का प्राचुर्य इनके काव्यों में सहज ही देखे जा सकते हैं ।

४. महासेन सूरि :- (९९० ई०)

राजा भोज के चाचा एवं पिता क्रमशः मुंजराज एवं सिन्धुराज तथा नवसाहसांकचरित के निर्माता परिमल कालिदास के समसामयिक महाकवि महासेन सूरि लाट-वर्गट संघ के आचार्य तथा सिन्धुराज के द्वारा सम्मानित महामात्य पर्पट के गुरु थे । इन्होंने दशवी शताब्दी के अन्तिम चरण अर्थात् ९९० ई० के आसपास संस्कृत में प्रद्युम्नचरित नामक १४ सर्गोंवाले महाकाव्य की रचना की थी । विष्णुपुराण एवं भागवत की ही भाँति श्रीकृष्णपुत्र प्रद्युम्न की जैनधर्मियों के बीच प्रचलित कथाओं को जिनसेन प्रथम ने जैन हरिवंशपुराण में विस्तार से वर्णन किया है । जबकि इसी कथा को लेकर महासेन सूरि ने प्रद्युम्नचरित को पल्लवित किया है । यह महाकाव्य सुतरां रुचिकर और मनमोहक है, इसकी भाषा सरल एवं प्रवाहमयी है ।

५. वाग्भट प्रथम :- (वीं० श० उत्तर)

आप का वाग्भटालंकार के प्रणेता से भिन्न और प्राचीन है । संभवतः आप का समय ग्यारहवीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध हो सकता है । आपने नेमिनिर्वाण काव्य की रचना की है, जिसमें द्वारिका के यादववंशीय राजा समुद्रविजय के पुत्र नेमिकुमार (अरिष्टनेमि) जो भगवान् श्रीकृष्ण के चचेरे भाई थे, के चरित्र का वर्णन किया गया है । इस महाकाव्य का आधार ग्रन्थ है जिनसेन प्रथम का हरिवंशपुराण / महाकाव्य के अनुसार जब नेमिकुमार का विवाह राजीमती के साथ होने ही वाला था कि उससे पूर्व परम्परासम्मत बलिप्रदान हेतु जो पशु वहाँ एकत्रित थे, सहसा करुण चीत्कार कर बैठे । इसी चीत्कार से नेमिकुमार का हृदय द्रवीभूत हो गया और वे अहिंसा की भावना से प्रेरित होकर तपस्या करने चले गये । आपके नेमिनिर्वाणमहाकाव्य के कई श्लोक वाग्भटालंकार में भी पाये जाते हैं, पर वहाँ उद्धृत निम्नश्लोक आपके महाकाव्य में नहीं मिलता :—

"कका कुकंकके कांककेकिकोकैककुः ककः ।
अकुकौकः ककाकाक्क ऋक्काकुकुककांककुः ॥"

६. महाकवि हरिश्चन्द्रः (वीं० श० उत्तरार्द्ध)

भट्टारक हरिश्चन्द्र से न जाने आप भिन्न है या अभिन्न, किन्तु आपकी कृतियों से इतना तो सहज माना ही जा सकता है कि जैनधर्म के किसी सम्पन्न परिवार में आपका जन्म ग्यारहवीं शती के उत्तरार्द्ध में हुआ था और आप की सूचनाओं के अनुसार आद्रदेव आपके पिता, रथ्यादेवी माता एवं लक्ष्मण आपके अनुज थे। जैन सम्प्रदाय के १५ वे तीर्थकर भगवान् धर्मनाथ के चरित्र पर आधारित आपने एक महाकाव्य की रचना की थी, जिसका नाम धर्मशर्माभ्युदय है। उत्तरपुराण की कथा पर आधारित यह महाकाव्य २१ सर्गों में निबद्ध है तथा यह महाकाव्य के सभी लक्षणों से अनुप्राणित है। जीवनधरचम्पू आपकी दूसरी रचना है।

७. कलिकालसर्वज्ञ आचार्य हेमचन्द्र : (१०८८)

धर्म और विद्या के अनन्य प्रचारक, युगस्त्रष्टा के रूप में आविर्भूत कलिकालसर्वज्ञ आचार्य हेमचन्द्रसूरि का जन्म १०८८ ई० में. और मृत्यु ११७३ ई० में हुई थी। ये अहमदाबाद के धन्धुक नामक स्थान के वासी थे और इनके पिता का नाम चाच तथा माता का नाम पाहिनी था, जो भोड़वनियाँ जाति के थे। केवल ५ वर्ष की अल्पायु में ही इन्होंने देवचन्द्रमुनि से जैनधर्म की शिक्षा ली थी, पूर्वधर्म में इनका नाम चंगदेव था। संस्कृत के प्रायः किसी विद्या को अपनी रचनाओं से पूर्ण करने में पीछे नहीं रहे। व्याकरण में जहाँ इनका सिद्धहेमानुशासनम् जगत् प्रसिद्ध है, वही हैमनाममाला, निघण्टुकोश, देशीनाममाला एवं अनेकार्थसंग्रहकोश साहित्य के अनुपम रत्न है। दर्शनग्रन्थों में जहाँ प्रमाणमीमांसा और योगशास्त्र प्रमुख है, वहीं छन्दशास्त्र व अलंकारशास्त्रों में क्रमशः छन्दोनुशासनम् व काव्यानुशासनम् इनके उल्लेखनीय ग्रन्थ है। इन्होंने कुल २५ ग्रन्थों की रचना की है, जिसका पता हमे डा० आफ्रेक्ट संगृहीत कैटलोगस कैटलोगोरम नामक सूची से चलता है। संस्कृतकाव्यग्रन्थों की जब भी चर्चा और समालोचना होती है तो आचार्य हेमचन्द्र की रचनाओं का उल्लेख सहसा हो ही जाता है। कुमारपालचरित और त्रिषष्टिशलाकापुरष नामक इनके दो संस्कृत काव्यग्रन्थ हैं। इनमें कुमारपालचरित नामक महाकाव्य का विषय चालुक्यवंशीयराजाओं का विस्तृत इतिहास-वर्णन है, जबकि त्रिषष्टिशलाकापुरुष में, जैसा कि नाम से भी विदित होता है जैनधर्म के ६३ तिड़सठ महापुरुषों किंवा शलाकापुरुषों का जीवनचरित वर्णित है। २० सर्गों वाला महाकाव्य कुमारपालचरित एक ऐसा उपजीव्य काव्य है, जो अनेक कवियों के लिये प्रेरणादायक सिद्ध हुआ। यद्यपि इस काव्य में मूलराज से लेकर चामुण्डराय, वल्लभराज, दुर्लभराज, भीम, कर्ण, सिद्धराज, जयसिंह, कुमारपाल सभी के जीवनचरित सुविस्तृत वर्णित है, फिर भी कुमारपाल को नायक बनाकर जितने भी काव्य या नाटक का प्रणयन किया गया उन सभी ग्रन्थों का स्त्रोत आ० हेमचन्द्र का ही महाकाव्य रहा है। इनमें जयसिंहसूरि का "कुमारपालचरित" हो या सोमप्रभाचार्य का कुमारपालप्रतिबोध, जिनमण्डल का कुमारपालप्रबन्ध हो या फिर यशःपाल का मोहराजपराजय, चारित्रसुन्दर का कुमारपालचरित सबके सब हेमचन्द्र के

महाकाव्य का ऋणी हैं ।

त्रिषष्टिशलाकापुरुष नामक महाकाव्य् में आ० हेमचन्द्र ने अन्तिम जैन तीर्थंकर भगवान् महावीर स्वामी के बाद हुए ६३ आदर्श महापुरुषों, जिन्हें पारिभाषिक शब्दों में शलाकापुरुष की संज्ञा दी गई है — के जीवनचरित का मनोहर वर्णन प्रस्तुत किया है ।

८. अभयदेवसूरि (२२ ई०)

१२२१ ई० के आसपास रचित संस्कृत जैन महाकाव्य जयन्तविजय के रचयिता अभयदेवसूरि का जन्म कब और कहाँ हुआ था—यह कहना जहाँ कठिन है, वहीं वे तान्त्रिक प्रदेश के थे ऐसा उनके ग्रन्थालोकन से बताना कोई विरल नहीं । १९ सर्गों में विभक्त इनके जयन्तविजय महाकाव्य में कुल २२०० श्लोक आबद्ध है । सरल और सुबोध भाषाओं के बीच सूक्तियों के बाहुल्य को इस काव्य का शोभावर्द्धक अंश ही माना जाएगा । आप विजयचन्द्र के शिष्य तथा देवभद्र के पुत्र थे ।

९. अमरचन्द्रसूरि (१२४३ ई०)

"वेणीकृपाण" विरुदविभूषितमहाकवि अमरचन्द्रसूरि गुजरात के चौलुक्यवंशीय नरेश विसलदेव (१२४३-६३ ई०) के सभापण्डित व जिनदत्तसूरि के शिष्य थे । इनके पाण्डित्य और कौशल के प्रसंग अनेक कथाएँ प्रभावक चरित एवं प्रबन्धकोश में पाई जाती है । आ० बलदेव उपाध्याय ने इन्हें श्वेताम्बर मतानुयायी माना है और इन्होंने १९ सर्गों में तीर्थकर ऋषभनाथ के वर्णनात्मक महाकाव्य जिनेन्द्रचरित अर्थात् पद्मानन्द का प्रणयन किया है । जबकि कविकल्पलता, (काव्यकल्पलता अथवा कवितारहस्य) इनकी दूसरी रचना है । इन्होंने महाभारत के आधार पर १८ पर्वों व ४४ सर्गों में ही बालभारत की रचना की है । साथ ही कविकल्पलता में इन्होंने अपनी तीन रचनाएँ—छन्दोरत्नावली, काव्यकल्पलतापरिमल एवं अलंकारप्रबोध की चर्चा की है, परन्तु ये रचनाये आज उपलब्ध नहीं है । व्याकरणविषयक इनका ग्रन्थ "स्यादिशब्दसमुच्चय" ने भी खूब प्रसिद्धि पाई है । काव्यामनायकार एवं वनमालानाटिकाकार दोनों ही अमरचन्द्र इनसे भिन्न थे ।

१०. आचार्यनयचन्द्रसूरि (१४००)

सुप्रसिद्धजैन नैयायिक जयसिंहसूरि के पौत्र आ० नयचन्द्रसूरि संस्कृत के प्रमुखमहाकवियों में परिगणित है । इन्होंने रणथम्भोर के प्रख्यात चौहानवंशीय राजा हम्मीरदेव के कृतित्व व व्यक्तित्व पर आधारित संस्कृत के ऐतिहासिक "हम्मीरमहाकाव्य" की रचना की थी । १४ सर्ग और १५७२ श्लोकों में आबद्ध यह अनुपम महाकाव्य प्रसादमयी भाषा में निबद्ध और वीररस से सर्वथा परिपूर्ण है । काव्य कला की दृष्टि से ही नहीं, वरन् ऐतिहासिकता की दृष्टि से भी यह महाकाव्य अद्भुत और प्रतिभापूर्ण सफल रचना है, जिसका रचना काल १४०० से १४१० ई० के बीच निर्धारित होता है । यहाँ यह स्मरणीय है कि कर्पूरमंजरी की भाँति एक सट्टक "रंभामंजरी" की रचना भी इन्होंने की है, जिसमें संस्कृत के श्लोक भी कहीं कहीं पाये जाते हैं ।

११. मुनिभद्रसूरि (१४वीं श० पूर्वार्द्ध) :–

१४वीं शतक के पूर्वार्द्ध में उत्पन्न मुनिभद्रसूरि, आचार्य गुणभद्रसूरि के शिष्य थे तथा ये दिल्ली के बादशाह फीरोजशाहतुगलक (१३५१-१३८८) के द्वारा सम्मानित थे । जैसा कि इन्होंने स्वयं वर्णन भी किया है–"तच्छिष्यो मुनिभद्रसूरिरजनि स्याद्वादि सम्भावनः । श्रीपेरोजमहीमहेन्द्रसदसि प्राप्तप्रतिष्ठोदयः ॥" । न्याय-व्याकरण-साहित्य आदि विषयों के मर्मज्ञ आ० सूरि ने मुनिदेवसूरि के प्राकृतभाषाबद्ध शान्तिनाथचरित को आदर्श मान कर उसी शीर्षक से १९ सर्गों में एक महाकाव्य की रचना की है, जिसमें कुल ६२७२ श्लोक पाये जाते हैं । यहाँ यह स्मर्त्तव्य है कि इसी शान्तिनाथचरित के नाम से सबसे पहले कवि असंग ने रचना की थी और उनके बाद काव्यप्रकाश के संकेतव्याख्याकार (११६० ई०) आ० माणिक्यचन्द्रसूरि, १३वीं शतक के अजितप्रभसूरि एवं आ० हेमचन्द्राचार्य वी शतक के उत्तरार्द्ध ने भी इसी नाम से रचनाएँ की ।

१२. महाकविवादिराज :-

महाभारत के टीकाकार दाक्षिणात्यवादिराज से आप भिन्न है किन्तु अश्वघोष कृत "राष्ट्रपाल" नाटक के व्याख्याकार से आप निश्चय ही अभिन्न है । षट्तर्कषण्मुख, स्याद्वाद-विद्यापति आदि विरुद विभूषित दार्शनिक सार्वभौम वादिराज न केवल तार्किक वैदुष्य में अद्वितीय थे, बल्कि इनकी काव्यप्रतिभा भी अनुपम थी । तभी तो एकीभावस्तोत्र में आप लिखते हैं –"वैदिराजमनु शाब्दिकलोको वादिराजमनु तार्किकसिंहः । वादिराजजनु काव्यकृतस्ते वादिराजमनु भव्यसहायः ॥" न्यायविनिश्चयविवरण और प्रमाणनिर्णय जैसे दार्शनिक ग्रन्थों के रचयिता वादिराज की साहित्यिकरचनाओं में पार्श्वनाथचरित महाकाव्य, यशोधर चरितकाव्य एवं एकीभावस्तोत्र मुख्य है । १२ सर्गों के पार्श्वनाथचरितमहाकाव्य में जैनधर्म के २३ वे तीर्थंकर पार्श्वनाथ के सभी जन्मों का वर्णन, उनके चरित्र का व्याख्यान किया गया है । साथ ही बाह्य प्रकृति का चित्रण और मानवजीवनव्यापी सुखदुःख के उतार-चढाव का वर्णन करना कवि का वैशिष्ट्य रहा है ।

वादिराज इनका उपनाम था, मूलनाम कुछ और रहा होगा । ये श्रीपालदेव के प्रशिष्य, मतिसार के शिष्य और रूपसिद्धिकार मुनि दयापाल के सहपाठी थे । चालुक्यनरेश सिंहचक्रेश्वर जयसिंहदेव (श० सं० ९३८-९४५) के सभापद होने के कारण इनका समय दशवीं शताब्दी निश्चित करना उचित होगा ।

वीरसेन अथवा वीराचार्य के प्रधानशिष्य आचार्य जिनसेनस्वामी (शाके ७०५, ७८३ ए० डी०) जैन साहित्य में सुप्रसिद्ध है । इन्होंने ही आदिपुराण, हरिवंशपुराण आदि के साथ साथ पार्श्वाभ्युदयकाव्य की रचना की है । जिनसेन, महाराष्ट्र एवं कर्नाटक के राष्ट्रकूटवंशीय शासक अमोघवर्ष के गुरु थे, जो ८७१ वि० सं० में राज्यासीन हुए थे । जयधवलाटीका और गीतिकाव्य आदि जिनसेन की सुप्रसिद्ध रचनाएँ हैं । इन्होंने जैन धर्म के सभी शलाकापुरुषों के जीवनवृत्त को संस्कृतपद्यों में लिपिबद्ध करने के उद्देश्य से जिस पुराण की रचना शुरु की थी, दुर्भाग्यवश *बीच में ही पारलौकिकगमन हो जाने के कारण उस अधूरे ग्रन्थ को पूरा किया इनके ही शिष्य* आ० गुणभद्र ने । इन्होंने ८९७ ई० में उत्तरपुराण नाम से जिस ४७ पूर्वों एवं १२००० श्लोकों

वाले पुराण की रचना की थी, उसके मात्र चार अन्तिम पर्व ही गुणभद्र के है, जिनमें कुल १६२० पद्य हैं। इस उत्तरपुराण में आदिनाथ ऋषभदेव सहित अन्य २३ तीर्थंकरों व अन्य शलाकापुरुषों के जीवनचरित सुविस्तृत वर्णित है। गुणभद्र ने भर्तृहरि के वैराग्यशतक की शैली पर आत्मानुशासन की रचना की थी तथा जिनदत्तचरित भी इन्हीं की रचना है। जबकि अजितप्रभसूरि और मल्लिषेणसूरि ने क्रमशः शान्तिनाथचरित एवं उदयनराजचरित की रचना की थी। संस्कृत और प्राकृत के अद्वितीय कवि मल्लिषेण की संस्कृत में छः रचनाएँ प्रसिद्ध हैं। नागकुमारकाव्य भी इसी मल्लिषेण की रचना है। पप्पडगुरु के नाम से प्रसिद्ध आचार्य महासेनसूरि चारुकीर्त्ति के शिष्य एवं प्रद्युम्नचरितमहाकाव्य के प्रणेता है।

१३वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में उत्पन्न भवदेव सूरि एवं माणिक्यचन्द्रसूरि दोनों ही आचार्यो ने तीर्थंकर पार्श्वनाथ के चरित्र पर आधारित एक ही "पार्श्वनाथचरित" नामक महाकाव्य की रचना की थी, जिनमें माणिक्यचन्द्र का महाकाव्य अप्रकाशित है। भवदेव के महाकाव्य में जहाँ आठ बड़े बड़े सर्ग है, वहीं माणिक्यचन्द्रकृत महाकाव्य में १० सर्ग तथा ६७७० श्लोक है। जिनपाल का २४ सर्गों वाला "सनत्कुमारमहाकाव्य" भी अभीतक प्रकाश में नहीं आया है। आठ सर्गों में मल्लिनाथचरितमहाकाव्य की रचना करने वाले विनयचन्द्रसूरि, रविप्रभसूरि के शिष्य थे जो १३ वीं० श० के उत्तरार्द्ध में स्थित थे। १२५७ ई० में राजगृह के राजकुमार अभयकुमार के चरित्र पर १२ सर्गों वाले महाकाव्य "अभयकुमारचरित" की रचना करने वाले चन्द्रतिलक को कुछ लोग बिहारनिवासी भी मानते है। मगधनरेश महाराज श्रेणिक के जीवन पर आधारित जिनप्रभसूरि का "श्रेणिकचरित महाकाव्य" का ही दूसरा नाम दुर्गवृत्तिद्वयाश्रय भी है, जो भट्टिकाव्य के समान ही काव्यसौष्ठव से कम और व्याकरणिक उलझनों से अधिक पूर्ण है। बीसवे तीर्थंकर सुव्रतमुनि के चरित पर लिखा गया अर्हद्दास का मुनिसुव्रतमहाकाव्य दश सर्गों का पौराणिक महाकाव्य है। इसमें अलंकारों का चमत्कार और काव्यगुणों का गुम्फन बड़ा ही मनोरम हुआ है। १६वीं० श० में मुगलसम्राट् अकबर को जैनधर्मोपदेश करने वाले मुनि हीरविजय अथवा हर्षविजय अथवा हेमविजयसूरि ने २१ सर्गात्मक विजयप्रशस्ति काव्य का निर्माण किये थे और इसी महाकाव्य के आधार पर देवविमलगणि ने १७वीं श० में हीरसौभाग्य नामक महाकाव्य रचा था। दिगम्बर सम्प्रदायावलम्बी कवि राजमल्ल ने वि० सं० १६३२ (ई० १५७५) में आगरा में रहकर जम्बूस्वामिचरितमहाकाव्य की रचना सरल और सुबोध भाषा में की थी।

धर्माभ्युदयकाव्य की रचना पुराणपद्धति पर हुई है, इसके कर्त्ता वस्तुपाल के धर्मगुरु आ० विजयसेनसूरि के पट्टधर आचार्य उदयप्रभसूरि (सं० १२९९) है। इसी काव्य का नामान्तर संघपति-चरित भी है। साथ ही इसमें वस्तुपाल की तीर्थयात्रायों का रोचक वर्णन हुआ है। १५ सर्गों के इस महाकाव्य की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसके प्रत्येक सर्ग के अन्तिम पद्य में लक्ष्मीशब्द विद्यमान है।

संवत् १३५६ में (१३०० ए० डी०) जिनसिंह के शिष्य जिनप्रभसूरि ने गौतमस्तोत्र, पार्श्वनाथस्तव, श्रीवीरस्तव, पंचपरमेष्टिस्तव, शारदास्तोत्र आदि के साथ साथ द्व्याश्रयकाव्य,

नेमिनाथमहाकाव्य की भी रचना की थी। इनके ही समकालीन गुजरात के किसी राजा के आश्रित रहे देवप्रभसूरि महाभारत के १८ पर्वों की कथावस्तु को लेकर उतने ही सर्गों में पाण्डवचरित की रचना किये थे। जबकि माणिक्यचन्द्रसूरि (नेमिचन्द्र एवं सागरेन्दु के शिष्य) का दशसर्गात्मक पार्श्वनाथचरित एवं अहोबलसूरि का यतिराजविजय उत्कृष्ट रचनाओं में परिगणित है। कहते हैं अकबर के ३३ हिन्दूसभासदों में से एक पद्मसुन्दर, जो जैनसम्प्रदायावलम्बी थे—संस्कृत के भविष्यदत्तचरित, रायमल्लाभ्युदयकाव्य एवं पार्श्वनाथमहाकाव्य के रचयिता है और ये जोधपुरनरेश मालवदेव द्वारा सम्मानित थे। यह भी कहा जाता है कि जैन विद्वान् हीरविजय जी जब बादशाह अकबर से मिले थे तो, उन दिनों आप का देहान्त हो चुका था।

अणहिल्लपुर के पल्लीवालकुल में उत्पन्न महाकवि रामन बहुशास्त्रज्ञ थे, इन्होंने ही नेमिचरितमहाकाव्य की रचना की थी और तिलकमंजरीकथासार के सुप्रसिद्धरचयिता धनपाल भी इन्हीं के पुत्र थे। वर्द्धमानचरित के कर्त्ता असंग नागानन्दिन् (सं० १६७९) के शिष्य थे और इनसे प्राचीन स्थित रहे मुनि भद्रसूरि, जिनका मुनि देवसूरि भी नामान्तर था (सं० १४३९) शान्तिनाथमहाकाव्य के रचयिता थे। पाँच प्रकाशों में रचित प्रबन्धचिन्तामणि के रचयिता से भिन्न और अर्वाचीन मेरुतुंगाचार्य चार सर्गों में प्रविभक्त नेमिनाथचरित परक जैन मेघदूत के रचयिता है। इस काव्य में कुल १९६ श्लोक़ है और इसकी कथावस्तु तथा विक्रमकविकृत जैन नेमिदूत की कथावस्तु दोनों एक है अर्थात् दोनों ही काव्यों में नेमिकुमार की प्रव्रज्या लेने पर राजमती उनके पास मेघ को दूत बनाकर अपनी विरह दशा का सन्देश भेजती है। महापुरुषचरित महाकाव्य के रचयिता भी यही है, परन्तु कुछ लोग मेघदूतकार मेरुतुंग को महापुरुषचरितकार से भिन्न मानते हैं, परन्तु अधिकांश जन दोनों को तो अभिन्न मानते हैं, पर भोजप्रबन्धनामक चम्पूकार को इनसे भिन्न कहते हैं।

भट्टोजिदीक्षित की चर्चा करने वाले जैनमहाकवि हरिदत्तसूरि निश्चय ही १७वीं शतक के पश्चात् किंवा १८०० ई० के आसपास स्थित रहे होंगे। इन्होंने राम और नल के चरित्रों का श्लेष वर्णन के द्वारा "राघवनैषधीयम्" महाकाव्य की जो रचना की है, वह सुतरां मनोहारी और विलक्षण है।

हुंकारवंश के सांगण के पुत्र विक्रम, दिगम्बरसम्प्रदाय के आचार्य थे, उन्होंने एक चरितमहाकाव्य की रचना की थी, जिसकी केवल चर्चा मिलती है। इनकी दूसरी रचना नेमिचरित है तो अवश्य पर वह महाकाव्य नहीं है और नेमिदूत इनका दूतकाव्य है। जबकि १५वीं १६वीं शताब्दी के मध्य में ज्ञानभूषण के शिष्य शुभचन्द्र ने २५-२६ ग्रन्थों की रचना की थी। इन ग्रन्थों में चन्द्रप्रभचरित, पद्मनाभचरित, जीवनधरचरित आदि प्रमुख महाकाव्य है। इनके बाद १७वीं शतक में यशोधरचरित और सुलोचनाचरितकार वादिचन्द्र आते है। आप प्रभाचन्द्र के शिष्य और कमलसागर कीर्त्तिसागर के गुरु थे। लगभग इसी समय कृपाविजय के शिष्य मेघविजय ने पंचाख्यानोद्धार, मेघदूतसमस्या लेखकाव्य, सप्तसन्धानमहाकाव्य एवं देवनन्दाभ्युदयमहाकाव्य की रचना की है। आप न्याय-व्याकरण-ज्योतिष और साहित्य के मर्मज्ञ विद्वान् ही नहीं व्यवहार कुशल भी थे।•

जैनमहाकवि भूरामल जी का जयोजयमहाकाव्य और भट्टारक वादिचन्द्र का सुलोचना चरित अनुपममहाकाव्य है । जैन साहित्य में चरितकाव्यों की प्रधानता है । मानवजीवन को विभिन्न सांस्कृतिक मूल्यों से सार्थक करने की दिशा में जो भी व्यक्ति (पुरुष अथवा नारी) अपने जीवन को लगा देते हैं, उनके चरित को अमर रखने के लिए जैन कवि अपनी लेखनी चलाते रहे हैं । यही कारण है कि तीर्थंकरो के जीवन के अतिरिक्त अन्य महापुरुषों एवं महासतियों का जीवन चरित काव्य का विषय बना । जैन साहित्य में स्त्रीपात्र प्रधानरचनाएँ भी पर्याप्त मात्रा में लिखी गई है, जिनका विवरण विद्वानों ने दिया है । सुलोचनाचरित और जयोजयमहाकाव्य दोनों में नारी के ही उदात्त चरित को दरसाया गया है ।

मध्यकालीन गुजरात में जिन जैन कवियों ने संस्कृत साहित्य सर्जना की है, उनमें धनप्रभसूरि के शिष्य सर्वानन्दसूरि भी अन्यतम है । इन्होंने महान् धर्मात्मा, शूरवीर अहिंसाप्रेमी, साहसी व्यापारी १४वीं शतक के जैनश्रेष्ठी जगडूशाह को नायक बनाकर सात सर्गों में "श्रीजगडूचरित" नामक ऐतिहासिक महाकाव्य लिखा है, जिसकी चर्चा मोहनलाल दलीचन्द देसाई जी के "जैनसाहित्य का इतिहास" (मगनलाल डी० खख्खर सम्पादित) में हुई है । इस काव्य के अनुसार नायक श्रेष्ठी जगडूशाह देश-विदेश के साहसपूर्ण जहाजी व्यापार से अतिशय धनसम्पत्ति प्राप्त की थी । इन्होंने भद्रेश्वर (कच्छ) में न केवल जिनालय का निर्माण करवाया, अपि तु जब कच्छ, काठियावाड, गुजरात, सिंध आदि प्रदेशों में लगातार चार वर्षों तक दुर्भिक्ष अकाल पड़ा था, तब इन्होंने द्रव्य-धान्य आदि का दान देकर वहाँ की जनता की सेवा की थी । ३८८ श्लोकों वाले इस चरितकाव्य का निर्देश, ऐतिहासिक अंशों के साथ अपनी टिप्पणी देते हुए ब्यूहलर ने अपने हस्तप्रति विषयक रिपोर्ट (२/२८४) में भी किया है । महाकवि सर्वानन्दसूरि की काव्यप्रतिभा भी नितान्त अवलोकनीय है :—

"लक्ष्मीस्तरंगतरला पवनप्रकम्प
श्री वृक्षपत्रनिभमायुरिहांगभाजाम् ।
तारुण्यमेव नवशारदसान्ध्यराग
प्रायं स्थिरा सुकृतजा किल कीर्त्तिरेषा ॥"

इन जैन संस्कृत महाकाव्यों के अतिरिक्त समय समय पर जैनाचार्यों ने और भी काव्यकृतियों की रचनाएँ की हैं, जिनमें शत्रुंजयमाहात्म्य, सुदर्शनचरित, यशोधरचरित, जैनकुमारसम्भव, महीपालचरित, क्षत्रचूडामणि, त्रिशतीशृंगार आदि लघुकाव्य तथा सुभाषितरत्नसन्दोह, सूक्तिमुक्तावली, (सिन्दूरप्रकरण उपनाम) आदि सुभाषितकाव्य प्रमुख है । इसी प्रकार भक्तिरस से ओतप्रोत तीर्थंकर आदि की स्तुतियों में रचे काव्यों का भी संस्कृत में अभाव नहीं है । जबकि संस्कृत साहित्य, जैन कथासाहित्य से भी पूर्णतः समृद्ध और सबल है । इस विषय में कथारत्नाकर, बृहत्कथाकोश, प्रबन्धचिन्तामणि, प्रबन्धकोश, विविधतीर्थकल्प, उपमिति भवप्रपंच, मदनपराजय आदि महदुल्लेनीय हैं ॥

आचार्य रामचन्द्र सूरि और उनका कर्तृत्व

प्रभुनाथ द्विवेदी

आचार्य रामचन्द्र सूरि गुजरात की सारस्वत विभूति आचार्य हेमचन्द्र के प्रमुख शिष्य थे। गुजरात के तत्कालीन शासक सिद्धराज जयसिंह के शासनकाल में ही आचार्य हेमचन्द्र ने रामचन्द्र सूरि को अपना योग्यतम पट्टशिष्य और उत्तराधिकारी घोषित कर दिया था। प्रभाचन्द्रसूरि-विरचित 'प्रभावकचरित' (सं० १३३४-१२७७ ई०) में यह घटना इस प्रकार वर्णित है :—

"राज्ञा श्रीसिद्धराजेन अन्यदानुयुयुजे प्रभुः ।
भवतां कोऽस्ति पट्टस्य योग्यः शिष्यो गुणाधिकः ॥
तमस्माकं दर्शयत चित्तोत्कर्षाय मामित ।
अपुत्रमनुकम्पार्हं पूर्वे त्वां मा स्म शोचयन् ॥
आह श्रीहेमचन्द्रश्च न कोऽप्येतं हि चिन्तकः ।
आद्योऽप्यभूदिलापालः सत्पात्राम्भोधिचन्द्रमाः ॥
सञ्ज्ञानमहिमस्थैर्यं मुनीनां किं न जायते ।
कल्पद्रुमसमे राज्ञि त्वयीदृशि कृतस्थितौ ॥
अस्त्यमुष्ययायाणो रामचन्द्राख्यः कृतिशेखरः ।
प्राप्तरेखः प्राप्तरूपः सङ्घे विश्वकलानिधिः ॥
अन्यदाऽदर्शयंस्तेऽमुं क्षितिपस्य स्तुतिं च सः ।
अनुक्तामाद्यतिद्वद्भिर्हल्लेखाधायिनीं व्यधात् ॥"

उपर्युक्त श्लोकों में सिद्धराज जयसिंह और आचार्य हेमचन्द्र का संवाद निबद्ध है। कभी सिद्धराज जयसिंह ने आचार्य हेमचन्द्र से प्रश्न किया कि "भगवन् ! आपका उत्तराधिकारी मुख्य शिष्य कौन है ? मुझे भी उसका दर्शन कराने की कृपा करें। (मेरा कोई पुत्र न होने से) कहीं ऐसा न हो कि मेरी ही तरह आप भी शोक करें कि आपका कोई योग्य शिष्य नहीं है और उत्तराधिकारी न नियुक्त कर पायें। अतः अपने पट्टधर योग्य उत्तराधिकारी का निश्चित चयन कर लीजिए।" इस पर आचार्य हेमचन्द्र ने राजा से अपना योग्य उत्तराधिकारी सुशिष्य रामचन्द्र को बतलाया और कहा कि इसे पहले ही आपको दिखला चूका हूँ। उस समय इसने आपकी अपूर्व हृदयहारी स्तुति की थी।

'प्रभावकचरित' में वह स्तुति इस प्रकार दी गयी है :—

मात्रयाऽप्यधिकं कांञ्चिन्न सहन्ते जिगीषत: ।
इतीव त्वं धरानाथ ! धाराधिपमपाकृथा: ॥

(अर्थात्, विजयेच्छु जन अपने से तनिक भी बढ़कर अधिक क्रिसी को भी सहन नहीं करते । अत:, हे धरानाथ ! आप धाराधिप (मालवराज) का विनाश कर डालें ।)

यहाँ, इस स्तुति-पद्य में 'धारानाथ' में 'धरानाथ' से मात्र एक मात्रा अधिक है । इस उक्ति में कविनिबद्ध चमत्कार के कारण ही आचार्य हेमचन्द्र ने 'अनुक्तम्माद्यविद्वद्भि:' कहकर प्रशंसा की है । रामचन्द्र कृत इस स्तुति को सुनकर सिद्धराज जयसिंह हर्षविभोर हो गया —

'शिरोधूननपूर्वञ्च भूपालोऽत्र दृशं दधौ ।
रामे वामेतराचारो विदुषां महिमस्पृशाम् ॥'

इस प्रकार यह ज्ञात होता है कि आचार्य हेमचन्द्र ने सिद्धराज जयसिंह के समक्ष, अपने देहावसान से प्राय: चालीस वर्ष पूर्व, रामचन्द्र सूरि को अपना प्रमुख शिष्य और योग्य पट्टधर उत्तराधिकारी घोषित कर दिया था ।

आचार्य रामचन्द्र सूरि का जीवन और स्थितिकाल

आचार्य रामचन्द्र सूरि के जन्मस्थान का ठीक-ठीक ज्ञान किसी को भी नहीं है । रामचन्द्र सूरि ने न तो स्वयम् अपने किसी ग्रन्थ में अपने बारे में कोई उल्लेख किया और नहीं किसी अन्य ने कहीं उनका उल्लेख किया है । चूँकि वे अणहिलपुरपट्टन के निवासी आचार्य हेमचन्द्र के शिष्य थे अत: वे गुर्जरप्रान्त में (या) अणहिलपुरपट्टन के आसपास कहीं पैदा हुए होंगे-ऐसी सम्भावना की जा सकती है । आचार्य हेमचन्द्र ने राजसभा में रामचन्द्र सूरि का परिचय सिद्धराज जयसिंह ने अपने प्रमुख शिष्य और योग्य पट्टधर के रूप में कराया था । अत:, रामचन्द्र सूरि निश्चय ही अपने गुरु आचार्य हेमचन्द्र के साथ राजसभा में जाते रहे होंगे । इस आधार पर यह कहा जा सकता है कि वे पैदा चाहे जहाँ हुए हों, वे अणहिलपुरपट्टन में रहते अवश्य थे ।

यद्यपि आचार्य रामचन्द्र सूरि ने अपनी कृतियों के प्रारम्भ में और अन्य स्थलों पर आत्मपरिचय दिया है किन्तु वह इतना संक्षिप्त और अधूरा है कि उससे हमें आचार्य के वंश, माता-पिता के नाम और जन्मादि वृत्तान्त का पता नहीं चलता । अपने परिचय में सर्वत्र अपने को आचार्य हेमचन्द्र का शिष्य कहा है । इससे स्पष्टत: प्रतीत होता है कि आचार्य को अपनी सत्ता के मूल में अपने गुरु की सत्ता का बोध कराना अभीष्ट था और वे अपने मौलिक सम्बन्धों और लोकवृत्त का परिचय देने के प्रति उदासीन थे । इसके बावजूद, उनके अनुमान का बोध कराने वाली पर्याप्त साम्मग्री इतस्तत: उपलब्ध है । इससे उनके चरित और चरित्र का पर्याप्त ज्ञान हो जाता है । 'रघुतिलकम्' की प्रस्तावना में यह सामग्री इस प्रकार है :—

"मारिष ! सिद्धहेमचन्द्राभिधानशब्दानुशासनविधानवेधस: श्रीमदाचार्यहेमचन्द्रस्य शिष्यं

रामचन्द्रमभिजानासि ?"

चन्द्र० (साक्षेपम्)-"पञ्चप्रबन्धमिषपञ्चमुखानकेन
विद्वन्मनःसदसि नृत्यति यस्य कीर्तिः ।
विद्यात्रयीचणमचुम्बितकाव्यतन्द्रं
कस्तं न वेद सुकृती किल रामचन्द्रम् ? ॥"

इसमें आचार्य रामचन्द्र सूरि ने अपने पाँच ग्रन्थों का उल्लेख किया है तथा जिस विद्यात्रयी के सम्बन्ध में लिखा है, वह है—व्याकरण, न्याय और साहित्य विद्या । इससे ज्ञात होता है कि इन तीनों शास्त्रों पर आचार्य का पूरा अधिकार था । इन तीनों शास्त्रों में अपने पाण्डित्य की सूचना वे 'नाट्यदर्पणविवृत्ति' के अन्त में भी देते है :-

"शब्दलक्ष्म-प्रमालक्ष्म-काव्यलक्ष्म-कृतश्रमः ।
वाग्विलासस्त्रिमार्गो नौ प्रवाह इव जाह्नुजः ॥"

'नाट्यदर्पणविवृत्ति' के प्रारम्भ में भी उन्होंने स्वयं को 'त्रैविद्यवेदिनः' कहा है-

'प्राणाः कवित्वं विद्यानां लावण्यमिव योषिताम् ।
त्रैविद्यवेदिनोऽप्यस्मै ततो नित्यं कृतस्पृहाः ॥"

'सिद्धहेमशब्दानुशासन' के ऊपर न्यास टीका की रचना करके उन्होंने व्याकरण विषयक अपना पाण्डित्य पुष्ट किया है । न्यायशास्त्र में उनकी पारङ्गतता 'द्रव्यालङ्कारविवृत्ति' द्वारा और 'नाट्यदर्पण' के अतिरिक्त अन्य अनेक रूपकों और स्तोत्रों से साहित्यविद्या की प्रौढ़ि सूचित होती है । इन सभी शास्त्रों में उनके पाण्डित्य की अपूर्वता उनके उपर्युक्त अनेकानेक ग्रन्थों के अनुशीलन से प्रमाणित होती है ।

आचार्य रामचन्द्र सूरि के नाटकों में उनकी स्वातन्त्र्यप्रियता का सविशेष उल्लेख प्राप्त होता है । उनकी काव्यरचना पर किसी का प्रभाव नहीं है । इसे प्रदर्शित करने के लिए 'नलविलास' की प्रस्तावना में उन्होंने लिखा है :—

नट :— (विमृश्य)-भाव ! अयं कविः स्वयमुत्पादक उताहो परोपजीवकः ?

सूत्रधार :-अत्रार्थे तेनैव कविना दत्तमुत्तरम्-
जनः प्रज्ञाप्राप्तं पदमथ पदार्थं घटयतः
पराध्वाध्वन्यान् नः कथयतु गिरां वर्त्तनिरियम् ।
अमावास्यायामप्यविकलविकासीनि कुमुदा-
न्ययं लोकश्चन्द्रव्यतिकर विकासीनि वदति ॥(१.७) ।

आचार्य रामचन्द्र के ऐसा लिखने का अभिप्राय यह ज्ञात होता है कि किसी ने इन्हें गतानुगतिक कह दिया होगा । उसका मुँह बन्द करने के लिए यहाँ उन्होंने यह स्पष्टीकरण दिया है । यहाँ नट पूछता है कि यह कवि स्वयं नूतन कल्पनायें करके भावों को उपन्यस्त करता है

अथवा दूसरों से लेकर ? इसका उत्तर है कि हम तो सदैव अपनी बुद्धि में स्फुरित नूतन पदार्थों का निबन्धन करते हैं तथापि यदि दूसरे लोग हमे परानुवर्तक कहें तो कहें । यह संसार कुमुदों को चन्द्रमा के सम्पर्क से लिखने वाला कहता है लेकिन कुमुद तो अमावस्या की रात्र में भी खिलते हैं । कहने का आशय है कि रामचन्द्र कवि स्वयम् उत्पादक है ।

उन्होंने आगे भी लिखा है—"अपि न शपथप्रत्येयपदपदार्थसम्बन्धेषु प्रीतिमादधानं जनमवलोक्य जातखेदेन तेनेदं ताभिहितम्-

स्पृहां लोकः काव्ये वहति जरठैः कुण्ठिततमैः
वचोभिर्वाच्येन प्रकृतिकुटिलेन स्थपुटिते ।
वयं वीथीं गाढुं कथमपि न शक्ताः पुनरिमा-
मियं चिन्ता चेतस्तरलयति नित्यंकिमपि नः ॥"

प्राचीन शैली के जिन यमकश्लेषादि-प्रधान और चित्रकाव्यों का अर्थावबोध भी कठिन होता है-ऐसे काव्यों के प्रति लोगों की विशेष अभिरुचि देखकर, उनकी रूढिग्रस्त मानसिकता से खिन्न होकर ही आचार्य कवि रामचन्द्र सूरि ने ऐसा लिखा है । उनके उपर्युक्त कथन का भाव यह है कि हम इस प्रकार की दुर्ज्ञेय और निकृष्ट रचनापद्धति का अवलम्बन करने में असमर्थ हैं । ऐसी स्थिति में लोग हमारे काव्य को पसन्द करेंगे या नहीं—यह चिन्ता हमें सता रही है ।

इसमें सन्देह नहीं कि आचार्य रामचन्द्र सूरि की रचनायें पुराने काव्यों की लीक से हट कर हैं । उनकी रचनायें न तो पाण्डित्य के भूयोभार से बोझिल हैं और न ही चित्रकाव्य की दुर्बोधता के आडम्बर से सङ्कटग्रस्त; अपितु वे सरल हैं, सुबोध हैं । इसलिए उनकी रचनाओं में प्रासादिक रसमयता है । इस काव्यगत वैशिष्ट्य का उल्लेख उन्होंने स्वयं ही किया है :—

"प्रबन्धानाधातुं नवभणितिवैदग्ध्यमधुरान्
कवीन्दा निस्तन्द्राः कति न हि मुरारिप्रभृतयः ।
ऋते रामान्नान्यः किमुत परकोटौ घटयितुं
रसान् नाट्यप्राणान् पटुरिति वितर्को मनसि नः ।"

अर्थात्, नवीन कल्पना और उक्तियों से मधुर काव्यों की रचना करने वाले मुरारि आदि न जाने कितने कवि हुए होंगे । किन्तु नाट्य के प्राणभूत रसों को चरमोत्कर्ष तक पहुँचाने में समर्थ रचना की सृष्टि करने वाला तो रामचन्द्र के अतिरिक्त अन्य कोई कवि दिखाई नहीं देता।

रामचन्द्र सूरि ने विशेषरूप से रूपकों की रचना में ही अपने कवित्व का चरमोत्कर्ष माना है । (प्रसिद्ध भी है-'नाटकान्तं कवित्वम्') इसीके अनुरूप उन्होंने मुरारि कवि का नाम भी यहाँ लिया है क्योंकि मुरारि भी नाटककार ही थे । किन्तु रामचन्द्र की दृष्टि में मुरारि ही क्यों आये ? क्या पूर्वकी कालिदास, भवभूति, हर्ष, भट्टनारायण जैसे नाटककार मुरारि से कम थे । रसोत्कर्ष की दृष्टि से तो इन सब के समक्ष न मुरारि और न ही रामचन्द्र कहीं ठहरते हैं ।

आचार्य रामचन्द्र सूरि ने अपने रचना-स्वातन्त्र्य और वैशिष्ट्य का प्रतिपादन अनेकत्र किया

है । उन्होंने पण्डितराज जगन्नाथ जैसा दम्भ तो नहीं प्रकट किया है किन्तु उपर्युक्त उक्तियों में उनका कर्तृत्व एवं पाण्डित्य विषयक अहङ्कार अवश्य झलकता है । उन्होंने न केवल यत्र-तत्र अपनी स्वतन्त्ररचनागरिमा का प्रख्यापन किया है अपितु ऐसे चोर कवियों की भी खबर ली है जो दूसरे कवियों के पद-पदार्थ (भाषा-भाव) का बड़ी बारीकी से अपहरण कर उसे अपने मनोनुकूल ढाल कर प्रयोग करते हैं । उनकी कई कृतियों में एतद्विषयक निन्दा प्राप्त होती है । 'नाट्यदर्पणविवृत्ति' के प्रारम्भ में रामचन्द्र कहते हैं :-

"अकवित्वं परस्तावत् कलङ्कः पाठशालिनाम् ।
अन्यकाव्यैः कवित्वं तु कलङ्कस्यापि चूलिका ॥"

इसी ग्रन्थ के अन्त में भी उन्होंने इसी भाव को दुहराया है :-

"परोपनीतशब्दार्थाः स्वनाम्ना कृतकीर्तयः ।
निबद्धारोऽधुना तेन क्रो नौ क्लेशमवेष्यति ॥"

'कौमुदीमित्राणन्द' प्रकरण की प्रस्तावना में भी किञ्चित्परिवर्तन के साथ उन्होंने यही कहा है :—

"परोपनीतशब्दार्थाः स्वनाम्ना कृतकीर्तयः ।
निबद्धारोऽधुना तेन विश्रम्भस्तेषु नः सताम् ॥"

रामचन्द्र सूरि केवल काव्यरचना के क्षेत्र में ही स्वतन्त्रता के पक्षपाती न थे अपितु जीवन में भी वे परम स्वातन्त्र्यप्रेमी रहे । अपने जीवन की इस विशिष्ट शैली का परिचय उन्होंने अपनी कृतियों में अनेकत्र दिया है । 'नलविलास' (२.२) में वे कहते हैं :—

"काव्यं चेत्सरसं किमर्थममृतं वक्त्रं कुरङ्गीदृशां
चेत् कन्दर्पविपाण्डुगण्डफलकं राकाशशाङ्केन किम् ?
स्वातन्त्र्यं यदि जीवितावधि मुधा स्वर्भूर्भुतो वैभवे
वैदर्भी यदि बद्धयौवनभरा प्रीत्या सरत्याऽपि किम् ? ॥"

यहाँ रामचन्द्र ने जीवनपर्यन्त स्वतन्त्र रहने के समक्ष त्रैलोक्य वैभव को भी तुच्छ बताया है । 'नलविलास' (६.७) में ही पुनः उन्होंने अपनी स्वतन्त्रता की उत्कट अभिलाषा की अभिव्यक्ति की है :-

'अनुभूतं न यद् येन रूपं नातैति तस्य सः ।
न स्वतन्त्रो व्यथां वेत्ति परतन्त्रस्य देहिनः ॥'

स्वातन्त्र्य की जैसी प्रबल इच्छा उन्होंने 'जिनस्तोत्र' में व्यक्त की है, वैसी अन्यत्र दुर्लभ है :—

'स्वतन्त्रो देव भूयासं सारमेयोऽपि वर्त्मनि ।
मा स्म भूवं परायत्तास्त्रिलोकस्यापि नायकः ॥'

अपनी स्वातन्त्र्यप्रियता का सङ्केत उन्होंने 'सत्यहरिश्चन्द्र' की प्रस्तावना में भी किया है :-

'सूक्तयो रामचन्द्रस्य वसन्तः कलगीतयः ।
स्वातन्त्र्यमिष्टयोगश्च पञ्चैते हर्षसृष्टयः ॥'

इसी प्रकार उनकी कई रचनाओं में अनेकत्र स्वतन्त्रता के प्रति उनकी उत्कट अभिलाषा और परमप्रीति दृष्टिगोचर होती है :—

'प्राप्य **स्वातन्त्र्यलक्ष्मीं** मुदमथ वहतां शाश्वतीं यादवेन्द्रः ।' (यादवाभ्युदय) ।

'प्राप्य **स्वातन्त्र्यलक्ष्मी**मनुभवतु मुदं शाश्वतीं भीमसेनः ।' (निर्भयभीमव्यायोग) ।

'अजातगणनाः समाः परमतः **स्वतन्त्रो** भव ।' (नलविलास और सत्यहरिश्चन्द्र) ।

'आसाद्य यशोलक्ष्मीं परां **स्वतन्त्र**श्चिरं भूयाः ।' (कौमुदीमित्राणन्द) ।

'**स्वातन्त्र्यप्रसवां** यदीञ्छत चिरं सर्वार्थसिद्धिं हृदि ।' (द्रव्यालङ्कार के अन्त में) ।

इस प्रकार हम देखते हैं कि आचार्य रामचन्द्र जैन के अन्तःकरण में सदैव स्वतन्त्रता की भावना समुद्वेलित होती रहती थी । यह भावना किसी न किसी रूप में उनकी रचनाओं में व्यक्त है । कवि ने अपने रूपकों और अन्य कृतियों में पात्रादि के प्रति शुभाशंसा के रूप में जो 'स्वातन्त्र्यप्राप्ति' की सदिच्छा अनेकधा अभिव्यक्त की है, उसके पीछे उनके जीवन में परवशता की महती पीड़ा प्रतिबिम्बित होती है और लगता है कि कवि को अपने जीवन के सुदीर्घ काल तक पराधीनता का दुःसह दुःख भोगना पड़ा था । यद्यपि उनके जीवन की अवसानवेला अत्यन्त क्लेश मयी रही और उसका अन्त भी अतिशय क्रूर प्रतिशोधवश हुआ किन्तु आचार्य के जीवन के पूर्वभाग की कोई विशेष जानकारी न होने से उनकी स्वतन्त्रताप्राप्ति की कसक के मूल तक पहुँचने का कोई भी साधन नहीं है । यह तो सर्वविदित है कि वे आचार्य हेमचन्द्र के प्रिय और प्रमुख शिष्य थे किन्तु सम्भव है कि हेमचन्द्र की सेवा में आने से पूर्व उनका कौटुम्बिक परिवेश अभावों अथवा परवशता की दुःखद त्रासमयी यातनाओं से जूझता रहा हो और यहाँ गुरु के सान्निध्य में आने पर भी उन्हें तरह-तरह के कठोर नियन्त्रणों से गुजरना पड़ा हो । कहीं ऐसा तो नहीं कि उन्होंने इस स्थिति में अपने को भी मुरारि कवि के समान पाया हो और 'कवीन्द्रा निस्तन्द्राः कवि न हि मुरारिप्रभृतयः' उनका कथन 'गुरुकुलक्लिष्टो मुरारिः कविः' का अनुस्मरण हो । वस्तुस्थिति जो भी रही हो, यह तो निश्चित है कि प्रतिभासम्पन्न और पाण्डित्यमण्डित आचार्य कवि रामचन्द्र सूरि को पारतन्त्र्य ने अवश्य पीड़ित किया था अन्यथा उनकी कृतियों में स्वातन्त्र्य की उत्कट अभिलाषा इस प्रकार मुखरित न हुई होती ।

संस्कृत वाङ्मय की गौरववृद्धि और समृद्धि में कश्मीर के पश्चात् गुर्जरप्रान्त का ही सविशेष योगदान रहा है । आचार्य रामचन्द्र सूरि इसी गुजरात प्रान्त के निवासी थे । वहाँ का इतिहासप्रसिद्ध राज्य 'अणहिलपुरपट्टन' धर्माचार्यों और विद्वानों का आश्रयदाता रहा । यद्यपि अणहिलपुरपट्टन भी कश्मीर की भाँति शैवमतानुयायी शासकों के अधीन था तथापि उसने विद्वानों

की आदरसेवा और उनके संरक्षण में कभी भी साम्प्रदायिक भेदभाव न दिया । भिन्न-भिन्न मतावलम्बी आचार्य और सुधी विद्वान् समानरूप से राजसमादृत थे । गुजरात में प्राचीन काल से ही जैन धर्माचार्यों की समृद्ध परम्परा रही है । इन आचार्यों ने अपने शास्त्रीय ग्रन्थों के प्रणयन के साथ ही संस्कृत और प्राकृत साहित्य की भी अपूर्व सेवा की है । जैन आचार्यों और कवियों ने राज्याश्रय प्राप्त करके प्राकृत के साथ ही संस्कृत को भी अपनी रचनाओं का माध्यम बनाया ।

आचार्य हेमचन्द्र का प्रथम परिचय ४६ वर्ष की आयु में ११३६ ई० में अणहिलपुरपट्टन के राजा सिद्धराज जयसिंह के साथ हुआ था । जयसिंह के आश्रय में सात वर्षों तक रहने के पश्चात् हेमचन्द्र तीस वर्ष तक राजा कुमारपाल के संरक्षण में रहे । सिद्धराज जयसिंह की एक जिज्ञासा के समाधान के अवसर पर आचार्य हेमचन्द्र ने अपने पट्टशिष्य रामचन्द्र को अपना उत्तराधिकारी घोषित किया था । इस प्रकार छियालीस वर्ष की आयु से निरन्तर सैंतीस वर्षों तक राज्याश्रय में रहने के पश्चात् तिरासी वर्ष की आयु में आचार्य हेमचन्द्र की अतिकरुण मृत्यु हुई । गुरु के निधन के पश्चात् उनके उत्तराधिकारी आचार्य रामचन्द्र सूरि राज्याश्रय के भागी हुए किन्तु उनके गुरु के प्रति राजा अजयपाल के प्रतिशोध के कारण रामचन्द्र को भी कोपभाजन बनना पड़ा । वे भी अनेक प्रकार की यन्त्रणायें सहते हुए दुःखद अन्त को प्राप्त हुए ।

आचार्य रामचन्द्र सूरि का निवासस्थान और स्थितिकाल सुनिश्चित है । अपने गुरु हेमचन्द्र के साथ रहने के कारण उनका भी वासस्थान 'अणहिलपुरपट्टन' था । सिद्धराज जयसिंह और कुमारपाल (तथा अजयपाल) का समकालिक होने के कारण इनका स्थितिकाल भी निर्विवाद है । सिद्धराज जयसिंह का शासनकाल बारहवीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध था और तत्पश्चात् कुमारपाल ने ११६६ ई० तक शासन किया था । अतः आचार्य रामचन्द्र सूरि का स्थिति काल सुनिश्चितरूप से बारहवीं शताब्दी ई० था ।

जैसा कि इनके गुरु और इनके नाम के साथ लगी उपाधि से ही ज्ञात होता है कि ये जैन-मतावलम्बी आचार्य थे । नाट्यदर्पण का मङ्गलाचरण भी इस तथ्य को पुष्ट करता है :—

चतुर्वर्गफलां नित्यां जैनीं वाचमुपास्महे ।
रूपैर्द्वादशभिर्विश्वं यया न्याय्ये धृतं पथि ॥

प्राचीन काल से ही राजस्थान और गुजरात में जैनधर्म का सर्वाधिक प्रचार-प्रसार था । आज भी इन दो प्रान्तों में जैनमतावलम्बियों की संख्या प्रचुर है । ये जैनमतावलम्बी प्रायः वणिक् कुल के हैं । आचार्य हेमचन्द्र का जन्म वणिक् कुल में हुआ था । अतः यह सम्भावना प्रबल है कि उनके शिष्य रामचन्द्र भी वणिक् रहे होंगे । जैन मतावलम्बी होते हुए भी रामचन्द्र ने संस्कृत साहित्य में जो रचनायें की हैं उनमें मुख्य कृतियाँ जैनेतर देवताओं से सम्बद्ध अथवा रामायण-महाभारत-कथाश्रित हैं । इससे अनुमान होता है कि मूलतः जैनमतावलम्बी कुल में उत्पन्न नहीं हुए थे । आचार्य हेमचन्द्र से दीक्षा लेने के पश्चात् ये जैनमतावलम्बी हुए । क्योंकि इनके संस्कार में राम-कृष्ण-पाण्डवादि सम्बद्ध रामायण-महाभारत की कथायें थीं और उनके अनुराग वश इन्होंने उनके आश्रय से साहित्यसर्जन की जैनमुनियों की स्तुति में इन्होंने लघु-स्तवों की रचना की है।

अणहिलपुरपट्टन राज्य के उत्तराधिकारी के चयन के सम्बन्ध में आचार्य हेमचन्द्र द्वारा राजा कुमारपाल को दिए गए परामर्श के कारण हेमचन्द्र के साथ ही रामचन्द्र का जीवन भी सङ्कटापन्न हो गया। वह दुर्वृत्त इस प्रकार कहा जाता है :—

आचार्य हेमचन्द्र के शिष्य राजा कुमारपाल को सन्तान के रूप में मात्र एक पुत्री ही थी। अतः राज्य के उत्तराधिकारी के दो ही विकल्प थे। प्रथम तो कुमारपाल का दौहित्र प्रतापमल्ल और द्वितीय था कुमारपाल का भाई अजयपाल। राजा ने अपने गुरु आचार्य हेमचन्द्र से परामर्श किया कि इन दोनों में से योग्यतर कौन है? और किसे राजसिंहासन देना ऊचित होगा? परामर्श के समय वहाँ राजा का मित्र वणिक्, 'वणाह आभड़' भी बैठा था। उसका अभिमत अजयपाल को शासनसूत्र सौंपने के पक्ष में था किन्तु उसके स्वभाव से परिचित आचार्य हेमचन्द्र ने निष्पक्ष भाव से धर्म और प्रजा के संरक्षण की हितदृष्टि से प्रतापमल्ल को उत्तराधिकारी देना उचित बताया। आचार्य के साथ उनका एकशिष्य बालचन्द्र भी था। बालचन्द्र ने यह बात अजयपाल को बता दी। आचार्य द्वारा अपने विरोध की बात सुनकर अजयपाल अत्यन्त क्रुद्ध हुआ और वह आचार्य तथा उनके शिष्यों का घोर शत्रु हो गया। इसके कुछ ही दिनों बाद आचार्य हेमचन्द्र का सहसा निधन हो गया। उस समय उनकी आयु तिरासी वर्ष की थी। उनके निधन के पीछे अजयपाल का षड्यन्त्र शङ्कित है। आचार्य के निधन के बत्तीसवें दिन राजा कुमारपाल भी अजयपाल द्वारा विष देकर इस संसार से विदा कर दिए गए। अजयपाल ने स्वयं राज्यसिंहासन पर अधिकार कर लिया। राजा बनते ही उसने आचार्य के पट्टशिष्य और उत्तराधिकारी आचार्य रामचन्द्र पर अत्यन्त क्रूर अत्याचार करने आरम्भ कर दिए। इस दुर्वृत्त का उल्लेख अनेक जैनग्रन्थों में प्राप्त होता है। राजशेखरसूरि विरचित 'प्रबन्धकोष' (१३४८ ई०) में इस घटना का उल्लेख इस प्रकार किया गया है।[१]

'एवं व्रजति काले राजा कुमारपालदेवः श्रीहेमश्च वृद्धौ जातौ। श्रीहेमसूरिगच्छेर्विरोधः। रामचन्द्र गुणचन्द्रादिवृन्दमेकतः। एकतो बालचन्द्रः। तस्य च बालचन्द्रस्य राजभ्रातृव्येनाजयपालेन सह मैत्री। एकदा प्रस्तावे राज्ञो गुरूणाम् आभडस्य च रात्रौ मन्त्रारम्भः। राजा पृच्छति-''भगवन्'। अहमपुत्रः, कमहं स्वपदे रोपयामि ?'' गुरवो ब्रुवन्ति-''प्रतापमल्लं दौहित्रं राजानं कुरु धर्मस्थैर्याय, अजयपालात्तु त्वस्थापितधर्मक्षयो भावी।'' अत्रान्तरे आभडः प्राह-''भगवन्। यादृशस्तादृशः, आत्मीयो भव्यः।'' पुनः श्रीहेमः-''अजयपालं राजानं मा कृथाः सर्वथैव।'' एवं मन्त्रं कृत्वा उत्थितास्त्रयः। स च मन्त्रो बालचन्द्रेण श्रुतः अजयपालाय च कथितः। अतो हेमगच्छीयरामचन्द्रादिषु द्वेषः आभडे तु प्रीतिः। हेमसूरेः स्वर्गगमनं जातम्। ततो दिनद्वात्रिंशता राजा कुमारपालेऽजयपालदत्तविषेण परलोकमगमत्। अजयपालो राज्ये निषण्णः। श्रीहेमद्वेषात् रामचन्द्रादिशिष्याणां तृप्तलोहविष्टरासन-पतितया मारणं कृतम्।'

आचार्य रामचन्द्र सूरि के जीवन का अन्तिम भाग अत्यन्त दुःखमय रहा। वे अन्धे हो गए थे। 'प्रभावकचरित' के अनुसार, उनकी दाहिनी आँख चली गयी थी :—

'उपाश्रयाश्रितस्यास्य महापीडापुरस्सरम् ।
व्यनशद् दक्षिणं चक्षुः------॥
कर्म प्रामाण्यमालोच्य ते शीतीभूतचेतसः ।
स्थितास्तत्र चतुर्मासीमासीनास्तपसि स्थिरे ॥'

कभी चातुर्मास्य के अवसर पर आचार्य रामचन्द्र सूरि की आँख दुखने लगी । बहुत अधिक पीड़ा देने के पश्चात् उनकी दाहिनी आँख से ज्योति समाप्त हो गयी । उन्होंने उसे अपने कर्मों का दोष मान कर अपनी तपस्या में स्थिर रहते हुए चातुर्मास्य को वहीं पूर्ण किया ।

ऐसा अनुमान किया जा सकता है कि नेत्रविकार की यह घटना उनके द्वारा साहित्यरचना में अनेक ग्रन्थों के पूर्ण होने के पश्चात् हुई । इस घटना के बाद उनकी जीवनपद्धति और रचनाप्रवृत्ति में पर्याप्त परिवर्तन आया । उसके बाद उन्होंने अन्य बड़े साहित्यिक ग्रन्थ अथवा शास्त्रीय ग्रन्थ की रचना करनी छोड़ दी और धर्मकृत्यों में सर्वथा समर्पित हो गए । जिनस्तुतियों की रचनाप्रवृति बढ़ी और उन्होंने अनेक लघु जिनस्तवों का निर्माण किया । उनके द्वारा प्रणीत प्रायः सभी स्तवों में दृष्टिदान की प्रार्थना पायी जाती है । 'नेमिस्तव के अन्त में उन्होंने लिखा है :—

'नेमे ! निधेहि निशितासिलताभिराम !
चन्द्रावदातमहसं मयि देव ! दृष्टिम् ।
सद्यस्तमांसि विततान्यपि यान्तु नाश-
मुज्जृम्भतां सपदि शाश्वतिकः प्रकाशः ॥'

इसी प्रकार 'षोडशषोडशिका' के अन्त में भी दृष्टिदान की प्रार्थना की गयी है ।

'स्वामिन्ननन्तफलकल्पतरोऽतिराम ।
चन्द्रावदातचरिताञ्चितविश्वचक्र !
शक्रस्तुताङ्घ्रिसरसीरुह ! दुःस्थसार्थे
देव ! प्रसीद करुणां कुरु देहि दृष्टिम् ॥'

यद्यपि 'प्रभावकचरित' के अनुसार रामचन्द्र की दाहिनी एक ही आँख के नष्ट होने का उल्लेख प्राप्त होता है किन्तु स्तवों में की गयी दृष्टिदान की प्रार्थनाओं को देखने से स्पष्टतः प्रतीत होता है कि उनकी एक ही नहीं अपितु दोनों आँखें चली गयी थीं और वे पूर्णतः अन्धे हो गए थे । 'व्यतिरेकद्वात्रिंशिका' के अन्त में उन्होंने अपनी दैवात्प्राप्त अन्धता और गलत्तनुता (वार्धक्य) का स्पष्ट कथन किया है :—

'जगति पूर्वविधेर्विनियोगजं
विधिनतान्ध्यगलत्तनुतादिकम् ।
सकलमेव विलुम्पति यः क्षणात्
अभिनवः शिवसृष्टिकरः सताम् ॥'

आचार्य हेमचन्द्र के एक अन्य प्रमुख शिष्य गुणचन्द्र, आचार्य रामचन्द्र के सहाध्यायी और घनिष्ठ मित्र थे। 'नाट्यदर्पण' और 'द्रव्यालङ्कारवृत्ति' के कर्त्ता के रूप में रामचन्द्र के साथ गुणचन्द्र का नाम संयुक्त रूप से प्राप्त होता है। यद्यपि दोनों की कर्तृत्वप्रकारता के सम्बन्ध में कोई विवरण उपलब्ध नहीं है तथापि दोनों की समाप्त कर्तृकता प्रतीत होती है। यह सम्भावना कहाँ तक सही हो सकती है कि आचार्य रामचन्द्र की नेत्रज्योति विलुप्त हो जाने के पश्चात् उपर्युक्त दोनों ग्रन्थों के लेखन में गुणचन्द्र ने रामचन्द्र के सहायक का दायित्व निभाया होगा—कहा नहीं जा सकता। इसकी प्रामाणिकता की परख इस तथ्य से की जा सकती है इन दोनों ग्रन्थों के सहलेखकत्व के सिवाय गुणचन्द्र के नाम से अन्य कोई ग्रन्थ नहीं मिलता जबकि रामचन्द्र के नाम से छोटे-बड़े अनेक ग्रन्थ उपलब्ध हैं।

आचार्य रामचन्द्र सूरि का कर्तृत्व

संस्कृतसाहित्य में आचार्य रामचन्द्र सूरि की ख्याति 'शतप्रबन्धकर्ता' के रूप में है। उन्होंने अपनी अनेक कृतियों में स्वयं को सौ ग्रन्थों का कर्ता कहा है :—

'प्रबन्धशतविधाननिष्णातबुद्धिना'—(प्रस्तावना, कौमुदीमित्राणन्द)।

'प्रबन्धशतकर्तृमहाकवे रामचन्द्रस्य'—(प्रस्तावना, निर्भयभीमव्यायोग)।

दुर्भाग्यवश उनके अधिकांश ग्रन्थ अनुपलब्ध हैं और अत तक केवल ३९ (उनतालीस) ग्रन्थ ज्ञात हो सके हैं। इनमें से कुछ ही ग्रन्थों का प्रकाशन हुआ है और शेष ग्रन्थ मातृका ग्रन्थों के रूप में इतस्ततः ग्रन्थालयों में प्राप्त है। आचार्य रामचन्द्र सूरि के उपलब्ध ग्रन्थों का विवरण अधोलिखित है :-

१. नाट्यदर्पण (प्रकाशित), २. नलविलासनाटक (प्रकाशित), ३. कौमुदीमित्राणन्द प्रकरण (प्रकाशित), ४. निर्भयभीमव्यायोग (प्रकाशित), ५. सत्यश्रीहरिश्चन्द्रनाटक (प्रकाशित), ६. कुमारविहारशतक (प्रकाशित), ७. मल्लिकामकरन्द प्रकरण, ८. रोहिणीमृगाङ्कप्रकरण, ९. यादवाभ्युदयनाटक, १०. राघवाभ्युदयनाटक, ११. रघुविलासनाटक, १२. यदुविलासनाटक, १३. वनमालानाटिका, १४. सुधाकलश, १५. द्रव्यालङ्कारवृत्ति, १६. युगादिदेवद्वात्रिंशिका, १७. व्यतिरेकद्वात्रिंशिका, १८. प्रसादद्वात्रिंशिका, १९. हैमबृहद्वृत्तिन्यास, २०. नेमिस्तव, २१. आदिदेवस्तव, २२. मुनिसुव्रतदेवस्तव, २३. जिनस्तोत्राणि।

उपलब्ध शेष ग्रन्थ (क्रम संख्या २५ से ३९) सामान्य जिनस्तव हैं। शतप्रबन्धों में से अवशिष्ट ६१ (इकसठ) ग्रन्थों के सम्बन्ध में अभी तक कुछ भी ज्ञात नहीं है। उनकी विद्यमानता और उपलब्धिसम्भावना क्षीण प्राय है।

'नाट्यदर्पण' नाट्यशास्त्र का ग्रन्थ है जो पूर्ववर्ती नाट्यसिद्धान्तों से प्रभावित है। यह कारिकाशैली में लिखा गया है और इस पर स्वोपज्ञवृत्ति भी है। यह ग्रन्थ चार 'विवेकों' में विभक्त है। रामचन्द्र-गुणचन्द्र ने रस को केवल सुखात्मक ही नहीं अपितु दुःखात्मक भी माना है। इनकी यह मान्यता अन्य आचार्यों से हटकर है। 'द्रव्यालङ्कारवृत्ति' न्यायशास्त्र का ग्रन्थ है।

यह ग्रन्थ भी गुणचन्द्र के साथ मिलकर लिखा गया है। शेष ग्रन्थों में नाटक, नाटिका और प्रकरण हैं जो रामचन्द्र के स्वयम् अपने लिखे गये हैं। इसके अतिरिक्त 'हैमबृहद्वृत्तिन्यास' को छोड़कर शेष ग्रन्थ लघु आकार के हैं और अलङ्कार विषयक अथवा जिनस्तव हैं।

आचार्य रामचन्द्र जैन को 'कवि कटारमल्ल' की उपाधि

एक बार सिद्धराज जयसिंह ने अपनी विद्वत्सभा में प्रश्न किया—'कथं ग्रीष्मे दिवसा गुरुतराः ?' उपस्थित विद्वानों ने यथामति उत्तर दिया। आचार्य रामचन्द्र का समाधान उस समय की सामन्ती परम्परा और उनकी कवित्व-प्रतिभा के सर्वथा अनुरूप तथा तर्कसङ्गत एवं प्रभावशाली था —

'देव ! श्रीगिरिदुर्गमल्ल ! भवतो दिग्जैत्रयात्रोत्सवे
धावद्वीरतुरङ्गनिष्ठुरखुरक्षुण्णक्षमामण्डलात् ।
वातोद्धूतरजोमिलत्सुरसरित्सञ्जातपङ्कस्थली-
दूर्वाचुम्बनचञ्चुराखिह्यास्तेनातिवृद्धं दिनम् ॥'

इस श्लोक में राजा के प्रताप वर्णन के साथ ही कविकल्पनावैभव भी विलासित है। इसे सुनकर राजा समेत सारी सभा चमत्कृत हो गयी।

इसी प्रकार सिद्धराज के कहने पर रामचन्द्र ने राजधानी अणहिलपुरपट्टन का तत्काल वर्णन किया :—

'एतस्यास्य पुरस्य पौरवनिताचातुर्यतानिर्जिता
मन्ये नाथ ! सरस्वती जडतया नीरं वहन्ती स्थिता ।
कीर्तिस्तम्भमिषोच्चदण्डरुचिरामुत्सृज्य वाहावली-
तन्त्रीका गुरुसिद्धभूपतिसरस्तुम्बीं निजां कच्छपीम् ॥'

इस श्लोक में वर्णित राजा के यश और राजधानी के सारस्वत वैभव की वैदग्ध्यमयी प्रस्तुति से प्रसन्न होकर कविप्रतिभा से सुपरिचित सिद्धराज जयसिंह ने रामचन्द्र का सम्मान करते हुए उन्हें 'कविकटारमल्ल' की उपाधि से विभूषित किया।

एक बार काशी के कवि पण्डित विश्वेश्वर अणहिलपट्टन गए और आचार्य हेमचन्द्र से मिलने पर उन्हें श्लोकार्ध द्वारा आशीर्वाद दिया—'पातु वो हेम ! गोपालः कम्बलं दण्डमुद्वहन् ।' उपस्थित रामचन्द्र ने विश्वेश्वर की धार्मिक चतुराई का उत्तर, जैन धर्म की उत्कृष्टता बताते हुए तत्काल ही श्लोकपूर्ति करके दे दिया 'षड्दर्शनपशुग्रामं चारयन् जैनगोचरे ॥' यह विवरण मेरुतुङ्गविरचित 'प्रबन्धचिन्तामणि' में दिया गया है। चरित्रसुन्दरगणिरचित 'कुमारपालचरित महाकाव्य' में भी इस घटना का उल्लेख है। यहाँ रामचन्द्र द्वारा कवि विश्वेश्वर द्वारा दी गयी समस्याओं की छन्दोबद्ध पूर्ति किए जाने पर उनकी प्रतिभा और वर्णनचातुरी की प्रशंसा कवि विश्वेश्वर द्वारा किए जाने का उल्लेख भी मिलता है :—

'स जहर्ष निजाद्यन्ते निपीयाशुपूरिते ।
अहो ! जानाति विश्वेऽस्मिन् कविरेव कवेः श्रमम् ॥'

इस प्रकार जैन आचार्य कवि रामचन्द्र के जीवन और कर्तृत्व का संक्षिप्त विवरण यहाँ प्रस्तुत किया गया । निस्सन्देह, संस्कृत-साहित्य की समृद्धि में आचार्य रामचन्द्र सूरि का अपूर्व और महनीय योगदान है । उनकी प्रकाशित रचनाओं का सुव्यवस्थित सम्पादन तथा अप्रकाशित रचनाओं का प्रकाशन और अनुपलब्ध रचनाओं का अन्वेषण सर्वथा अपेक्षित है । यद्यपि उनकी उपलब्ध कृतियों का छिटपुट अनुशीलन हो रहा है तथापि उनके कर्तृत्व का समीक्षात्मक मूल्याङ्कन समग्रतया होना अभी शेष है । इस दिशा में सविशेष अध्यवसायपूर्ण श्रम नितान्त काम्य है ॥ इति शम् ॥

पादटीप :

१. प्रकृत में उपयोगी अपेक्षित अंश मात्र उद्धृत किया गया है ।

□ □ □

निर्भयभीमव्यायोग का साहित्यिक अध्ययन

प्रज्ञा जोगेश जोशी

आचार्य हेमचन्द्र के प्रमुख शिष्य रामचन्द्रसूरि निर्भयभीमव्यायोग के रचयिता थे। सिद्धराज जयसिंह के समय में ही आचार्य हेमचन्द्र ने इन्हें अपना पट्टशिष्य एवं उत्तराधिकारी घोषित कर दिया था। इनका जीवन विशेष रूप से अपने गुरु के साथ ही व्यतीत हुआ।[१] रामचन्द्रसूरि की अद्भुत काव्य-प्रतिभा से प्रसन्न होकर सिद्धराज जयसिंह ने इन्हें "कविकटारमल्ल' की उपाधि से सम्मानित किया था।[२]

रामचन्द्रसूरि के जीवन का अन्तिम काल बहुत ही दुःखमय रहा। वे अन्धे हो गए थे।[३] इसलिए इनकी वृद्धावस्था में लिखे गए स्तोत्रों में दृष्टि-दान की प्रार्थना संगत प्रतीत होती है। रामचन्द्रसूरि की प्रतिभा का विकास गुजरात के राजा कुमारपाल के शासनकाल में हुआ।[४] कुमारपाल के पश्चात् उनका उत्तराधिकारी अजयपाल हुआ जो जैन धर्म का विरोधी था। किसी विशिष्ट कारण से अजयपाल का रामचन्द्र से द्वेष था अतः प्रभुत्व पाने पर उसने इन्हें गर्म लोहे की चादर पर बैठा कर मरवा डाला। यह दुर्घटना ११७३ ई० में घटी।[५]

सिद्धराज जयसिंह एवं कुमारपाल के समकालीन होने से रामचन्द्रसूरि का समय बारहवीं शती का मध्य भाग निश्चित है। रामचन्द्रसूरि ने अथक परिश्रम कर के संस्कृत भाषा को समृद्ध किया। इन्होंने स्वयं अपने को प्रबन्धशतकर्ता कहा है।[६] किन्तु दुर्भाग्य की बात यह है कि उनके सब ग्रन्थ उपलब्ध नहीं हो सके हैं। अब तक इनके ३९ ग्रन्थों के नाम प्राप्त हो सके हैं। इनके ग्रन्थ तीन भागों में विभक्त्य किये जा सकते हैं। रूपक, काव्य तथा स्तोत्र और शास्त्र। इनके ११ रूपकों में से केवल नलविलास, सत्यहरिश्चन्द्रनाटक, कौमुदीमित्राणन्द, निर्भयभीमव्यायोग, रघुविलास एवं मल्लिका मकरन्द्रप्रकरणम् - ये छः रूपक प्राप्त होते हैं। इनके काव्यों में से कुमारविहारशतक प्राप्त होता है। इस के अतिरिक्त इनके द्वारा प्रणीत २८ स्तोत्र हैं। इन स्तोत्रों में जैन तीर्थङ्करों की स्तुतियाँ हैं।[७] रामचन्द्रसूरि ने अपने दो शास्त्रग्रन्थों में गुणचन्द्र को अपना सहयोगी बनाया है।[८] ये दो ग्रन्थ हैं : द्रव्यालङ्कार तथा नाट्यदर्पण। हैमबृहद्वृत्तिविन्यास इनका तीसरा शास्त्रग्रन्थ है। इनकी साहित्यसेवा से यह स्पष्ट हो जाता है कि वे प्रतिभाशाली जैन कवि, नाट्यरचयिता एवं नाट्यशास्त्र के अभिज्ञ विद्वान् थे।

निर्भयभीमव्यायोग का प्रकाशन वाराणसी से वीर संवत् २४३७ में श्री यशोविजय जैन ग्रन्थमाला–१९ के अन्तर्गत हुआ। इसमें १८ पृष्ठ तथा २७ श्लोक हैं। भीम द्वारा बकासुर के

वध की कथा इसका वर्ण्य विषय है ।

कथावस्तु :- द्रौपदी के वन्यवेष को देखकर भीम अत्यन्त व्यथित है । पत्नी के मनोविनोदार्थ उसे वनश्रीदर्शन कराने के लिए वह उसके साथ वन में जाता है । वहाँ एक स्थल पर उसने मांस, मज्जा तथा हड्डियों का ढेर दिखाई देता है । उसका कारण जानने की इच्छा से भीम पास ही स्थित एक भवन के द्वारपाल के पास जाता है । साहसिक नामक वह परिचारक उस भवन को तीनों लोकों में विख्यात बक नामक राक्षस का भवन बताता है । वह उन्हें एक करुणगाथा सुनाता है जिसके अनुसार एक नगरवासी प्रतिदिन उस राक्षस के आहारार्थ एक जन्तु के साथ उस वध्यस्थल पर उपस्थित होता है । उपहारपुरुष और राक्षसराज के आने का समय हो जाने के कारण साहसिक भीम को अन्यत्र जाने का परामर्श देकर स्वयं भी उस स्थान से चला जाता है । तभी उपहारपुरुष का करुण क्रन्दन सुनाई पड़ता है । भीम तथा द्रौपदी उस हृदयविदारक दृश्य को देखने के लिए छिप जाते हैं ।

वध्यवेष धारण किए हुए एक नवयुवक अपनी वधू तथा वृद्धामाता के साथ वहाँ आता है । नवयुवक अपने को मरणासन्न समझकर विभिन्न प्रकार से विलाप करते हुए अपनी माँ तथा पत्नी से लौट जाने का अनुरोध करता है । परन्तु उसके बिना अपने जीवन को निरस्सार मानकर वे दोनों भी वहीं अपने जीवन का अन्त करने की इच्छा व्यक्त करती हैं । इस दृश्य से करुणाभिभूत भीम अपनी कुलमर्यादा तथा क्षात्रधर्म के पालनार्थ उस युवक के जीवन की रक्षा करने का सङ्कल्प करता है । राक्षस के बल से भयभीत द्रौपदी भीम से पुनः अन्यत्र चलने का आग्रह करती है, परन्तु अपने भुजबल से अभिज्ञ भीम उस असहाय युवक के सम्मुख उपस्थित होकर उसे आश्वस्त करता है । भीषण आकार वाले भीम को राक्षस समझकर वह युवक मूर्छित हो जाता है । तब द्रौपदी उन्हें भीम का परिचय देती है ।

राक्षस के आगमन की सूचना मिलने के कारण भीम और द्रौपदी के अतिरिक्त सब वहाँ से चले जाते हैं । भीम के परामर्श से द्रौपदी भी रोती हुई वृक्ष के पीछे छिप जाती है । विशालकाय भीम को देखकर बक अत्यन्त प्रसन्न होता है । तभी अन्य मनुष्य की गन्ध को पहचानने वाले सूकर तथा व्याघ्र नामक राक्षस द्रौपदी को ढूंढ निकालते हैं और अपने स्वामी से उस कोमलाङ्गी के भक्षण का अनुरोध करते हैं । परन्तु बक प्रतिदिन एक मनुष्य को खाने के अपने वचन के अनुसार उसे छोड़ देता है । तब भीम को खाने के लिए उद्यत राक्षस उसके कर्कश शरीर को काटने में असमर्थ रहते हैं । तत्पश्चात् अन्य राक्षसों की सहायता से वे सभ भीम को उठाकर पर्वत पर ले जाते हैं ।

निराश द्रौपदी महाराज युधिष्ठिर आदि को पुकारती हुई अपने कण्ठ में लतापाश बाँधकर प्राणों का अन्त करने का यत्न करती है । तभी अर्जुन, नकुल तथा सहदेव के साथ युधिष्ठि वहाँ आते हैं । वे द्रौपदी को इस अनर्थ से रोकते हुए बलशाली भीम के सामर्थ्य के प्रति पूर्ण विश्वास व्यक्त करते हैं । अर्जुन भीमसेन के पास जाने के लिए उद्यत ही होता है कि बकवध की सूचना मिल जाती है । बकहन्ता भीम भी वहाँ आ जाता है और युधिष्ठिर द्वारा आग्रह करने पर उन्हें

सम्पूर्ण वृत्तान्त सुनाता है ।

इसी अन्तराल में वही ब्राह्मण नवयुवक अपनी माता तथा वधू सहित पुनः वहाँ आ जाता है । वह अपने स्वजनों सहित भीम के प्रति अत्यधिक कृतज्ञता प्रकट करता है और उसीके द्वारा उच्चारित भरतवाक्य से नाटक समाप्त होता है ।

कथावस्तु का मूलस्रोत एवं परिवर्तन : —

इस रूपक का मूलस्रोत महाभारत का बकवधपर्व है ।[९] कवि ने मूलाख्यान को संक्षिप्त कर उसे व्यायोग का स्वरूप दिया है । अतः महाभारत के उपाख्यान एवं रूपक के कथानक में कतिपय अन्तर दिखाई देता है, जो इस प्रकार है ।

महाभारत में बकासुर वध की घटना द्रौपदी के विवाह से पूर्व घटित होती हैं, जबकि नाटक में द्रौपदी इस घटना के समय उपस्थित है । महाभारत में ब्राह्मण के घर में आर्तनाद सुनकर कुन्ती ब्राह्मण परिवार की रक्षा के लिए भीमसेन को बकवध के लिए प्रेरित करती है । भीम को राक्षस-वध के लिए भेजने से पहले वह युधिष्ठिर से मन्त्रणा कर लेती है लेकिन नाटक में इस घटना के प्रसंग में कुन्ती का नामोल्लेख भी प्राप्त नहीं होता और युधिष्ठिर को भी भीम के इस कृत्य का कोई पूर्वज्ञान नहीं है ।

मूल कथा में भीम माता के कथनानुसार बक राक्षस के वध के लिए ही वन में जाता है । इस प्रकार वह अपने कार्य से अनभिज्ञ है, परन्तु नाटक में भावी घटना से सर्वथा अनभिज्ञ भीम पत्नी के साथ भ्रमण के लिए वन में जाता है । वन में मांस-मज्जादि के ढेर को देखने देखने पर भीम द्वारा उनका कारण जानने की उत्सुकता प्रदर्शित कर नाटककार ने नाटक के प्रारम्भ को स्वाभाविक बनाया है । बकवध के सन्दर्भ में महाभारत में ब्राह्मण, उसकी पत्नी, पुत्र और पुत्री का प्रसंग प्राप्त होता है । लेकिन नाटक में ब्राह्मणकुमार, उसकी वृद्धा माता तथा पत्नी की कथा निबद्ध है । सूकर तथा व्याघ्र नामक दो राक्षसों द्वारा द्रौपदी को ढूँढ निकालने के नाटक में वर्णित प्रसंग का मूल कथानक में उल्लेख नहीं है । महाभारत में द्रौपदी इस घटना के समय उपस्थित ही नहीं है । अतः उससे सम्बन्धित प्रसंग कवि की मौलिक कल्पना का परिणाम है ।

इस प्रकार कवि ने अपनी नाट्यप्रतिभा से महाभारत के विस्तृत कथानक को संक्षिप्त एवं कुछ परिवर्तित कर उसे रोचक ढंग से व्यायोग के रूप में उपस्थित किया है ।

विश्लेषण :— रूपक का प्रारम्भ नमस्कारात्मक नान्दी से होता है ।[१०] नान्दी के पश्चात् सूत्रधार कवि एवं उसकी कृति के नामोल्लेख के साथ कवि के नाट्य-कौशल की सूचना देता है ।[११] प्रसादगुण तथा भारतीवृत्तियुक्त प्ररोचना अत्यन्त संक्षिप्त है । और कवि शीघ्र ही मुख्य पात्रों को प्रेक्षक के समक्ष लाना चाहता है । निर्भयभीमव्यायोग के अभिनय का आदेश देते ही नेपथ्य से आ रही आवाज को वह भीमभूमिकावाही कुशीलव का स्वर बताते हुए अपने कार्यानुष्ठान के लिए रङ्गमञ्च से चला जाता है तदुपरान्त भीम और द्रौपदी प्रविष्ट होते हैं । इस प्रकार सूत्रधार के संकेत के साथ ही पात्र भीम का प्रवेश होने के कारण यहाँ प्रयोगातिशय आमुख-भेद है ।

अर्थप्रकृतियाँ :— बकासुर-वध नाटक का मुख्य प्रयोजन है। भ्रमण करते हुए भीम की भू-भाग के रक्ताप्लावित होने का कारण जानने की इच्छा 'बीज' है।[१२] भीम द्वारा ब्राह्मण-कुमार की रक्षा का संकल्प किए जाने पर द्रौपदी द्वारा उसे उस साहसिक कार्य को न करने के आग्रह से कथा समाप्त होती प्रतीत होती है, लेकिन भीम द्वारा कर्तव्य-पालन के लिए द्रौपदी को समझा कर अपने संकल्प पर दृढ़ रहने से यह अपने क्रम से पुनः जुड जाती है। नाटक में इस स्थल को 'बिन्दु' कहा जाता है।[१३] ब्राह्मण नवयुवक से सम्बन्धित कथांश को 'पताका' कहा जा सकता है। इससे कथावस्तु को अग्रसर होने में पर्याप्त सहायता मिली है। बक राक्षस का वध नाटक 'कार्य' है।[१४]

अवस्थाएँ :— देवालय के द्वारपाल से बिखरा हुआ मांस, मज्जा तथा हड्डियों का कारण पूछने के लिए भीम का गमन उसकी 'आरम्भावस्था का' द्योतक है।[१५] ब्राह्मण नवयुवक को निर्भय प्रदान कर स्वयं राक्षसराज की प्रतीक्षा करना 'यत्न' है।[१६] बकराक्षस का वध करने में सफलता 'फलागम' नामक अवस्था है।[१७]

सन्धियाँ :- नाटक के प्रारम्भ में भीम द्वारा द्रौपदी को वनश्री के दर्शन कराने की इच्छा[१८] से आरम्भ हो कर साहसिक पुरुष द्वारा बकासुर के आगमन की सूचना तक 'मुखसन्धि' लक्षित होती है।[१९] राक्षसराज के आगमन से लेकर राक्षसों द्वारा भीम के कर्कश शरीर को काटने में असमर्थ रहने तक 'प्रतिमुखसन्धि' है। युधिष्ठिर आदि अन्य चारों पाण्डु-पुत्रों के प्रवेश[२०] से निर्वहण सन्धि आरम्भ हो जाती है। तथा नाटक के अन्त तक लक्षित होती है।

अर्थोपक्षेपक एवं रङ्गमञ्चीय निर्देश :— प्रस्तुत रूपक में केवल 'चूलिका' नामक अर्थोपक्षेपक का विधान किया गया है। करुण क्रन्दन करती हुई वृद्धा का प्रवेश[२१], क्षुधापीडित बकासुर का आगमन[२२] तथा बकवध की सूचना[२३] नेपथ्य से ही दी गई है। रूपक में अन्यत्र भी 'चूलिका' के उदाहरण उपलब्ध होते हैं।[२४] स्वगत-भाषण केवल एक ही बार प्रस्तावना में प्रयुक्त हुआ है।[२५] शेष कथा सर्वश्राव्य है।

अभिनय निर्देश :— इस व्यायोग में चारों प्रकार के अभिनय-सङ्केत प्राप्त होते हैं। उदाहरणार्थ-निष्क्रान्तः, उभौ परिक्रामतः, कर्णौ पिधाय, पुरुषस्य पादौ शिरसि निधाय, गन्धमाघ्राय, सर्वेवलेन भीममुत्पाट्य मन्दं-मन्दं निष्क्रान्ताः—इत्यादि 'आङ्गिक' अभिनय सङ्केत के दृष्टान्त हैं।

उच्चैः स्वरम्, नेपथ्ये कलकलः, सकरुणस्वरम्—आदि 'वाचिक' अभिनय के उदाहरण हैं।

साक्षेपम्, सम्भ्रमम्, सरोषम्, विहस्य, द्रौपदी मन्दं मन्दं रोदिति, सभयम्, मूर्छितः—आदि 'सात्त्विक' अभिनय सङ्केत हैं।

ततः प्रविशति रक्तचन्दनानुलिप्तसर्वाङ्गः परिहितधौतधोवसनः कण्डपीठप्रलम्बितरक्त-करवीरमालः प्रलम्बमानकेशो मन्दप्रचारी दीनवदनो नवयौवनः पुरुषः, वृद्धा, सर्वाङ्गीणाभरणा वधूश्च।[२६] भीमः गदां सविधे निधाय शिलातलमधिशेते।[२७] आदि 'आहार्य' अभिनय के उदाहरण हैं।

भरतवाक्य :– भीम द्वारा रक्षित ब्राह्मण नवयुवक भरतवाक्य का पाठ करता है ।[२८] इस भरतवाक्य में देशवासियों को भीम से प्रेरणा प्राप्त कर स्वतन्त्रताप्राप्ति के लिए प्रेरित भी किया गया है ।

पात्रालेखन :

भीम :– भीम इस रूपक का नायक है । उसका शरीर अत्यन्त बलिष्ठ, कठिन एवं विशाल है ।[२९] उसके वज्रकाय शरीर को काटने में राक्षस भी असमर्थ हैं । कौरवों द्वारा द्यूतक्रीडा में किये गये अपमान का बदला लेने के लिए वह उचित समय की प्रतीक्षा में हैं । पत्नी के वन्यवेष के कारण उसके हृदय में सदैव रोषाग्नि प्रज्वलित रहती है । युद्धरूपी यज्ञाग्नि में सम्पूर्ण शत्रुवर्ग की आहुति डालने की उसकी प्रबल इच्छा उसके औद्धत्य की परिचायक है ।[३०] उसे अपने बल-सामर्थ्य पर पूर्ण विश्वास है । ब्राह्मण नवयुवक का प्राणदान देकर राक्षसराज की प्रतीक्षा में स्वयं वहाँ उपस्थित रहना उसके अप्रतिम साहसा का परिचायक है । बकासुर के साथ हुआ उसका रोषपूर्ण संवाद उसकी आत्मश्लाघा की भावना को व्यक्त करता है । राक्षसों द्वारा उठाकर पर्वत पर ले जाये जाने पर वह अपनी निर्भीकता तथा दृढ़ता का परिचय देता है । राक्षस के साथ हुए उसके द्वन्द्व-युद्ध में भी उसकी निर्भीकता व्यक्त होती है ।

दया और करुणा जैसी सात्त्विक भावनाएँ भी उसके हृदय में विद्यमान हैं । ब्राह्मण नवयुवक की करुणा अवस्था को देखते ही उसका मन द्रवित हो जाता है ।[३१] आर्त-त्राण पाण्डवकुल की परम्परा है और अपनी महिमामयी कुल-परम्परा को वह किसी भी मूल्य पर बनाए रखना चाहता है ।[३२] द्रौपदी का अनुनय-विनय, आग्रह तथा विषाद भी उसे अपने कर्तव्य पालन से विमुख नहीं होने देती । इस प्रकार यद्यपि भीम के चरित्र में नाटककार ने धैर्य, साहस, निर्भीकता, दृढ़ता आदि अनेक दुर्लभ मानवीय गुणों को समन्वित कर आदर्श रूप में प्रस्तुत किया है तथापि उनकी क्रोधज्वाला अपरिमेय साहस,' दर्प, आत्मश्लाघा की प्रवृत्ति आदि गुण उसके **धीरोद्धत स्वभाव** की पुष्टि करते हैं ।

बक-राक्षस :– बक-राक्षस इस रूपक का द्वितीय प्रमुख पात्र है । उस पर विजय प्राप्त करना ही रूपक का मुख्य प्रयोजन है । वह अत्यंत विकराल आकृति से युक्त, अपार शक्तिसम्पन्न राक्षसराज है ।[३३] बक का वैशिष्ट्य साहसिक पुरुष के कथन से परिलक्षित होता है ।[३४] सम्पूर्ण नगर में उसका आतंक छाया हुआ है । वह क्रूरता का मूर्त रूप है । राक्षसी वृत्ति के प्रतिकूल वह मर्यादा का उल्लंघन नहीं करता[३५] और प्रतिदिन एक ही जीव को खाने की अपनी प्रतिज्ञा पर दृढ रहता है । मानव समूह को संत्रस्त करने वाला वह प्रबल राक्षस अनेक प्रकार से युद्ध करता हुआ अन्ततः भीमसेन द्वारा मारा जाता है ।

रस :– इस रूपक में प्रमुख रस वीर है । संकटापन्न नवयुवक को बचाने की भीम की व्यग्रता से ही वीरतापूर्ण कार्य का चिन्तन आरम्भ हो जाता है । वह वीररस के स्थायीभाव 'उत्साह' का आश्रय है । बक राक्षक आलम्बन विभाव तथा पौरजनों की करुण गाथा और नवयुवक का करुण क्रन्दन उद्दीपन हैं । भीम द्वारा ब्राह्मण नवयुवक को निर्णय प्रदान करना और राक्षसराज

की प्रतीक्षा में स्वयं वहाँ उपस्थित रहना अनुभाव है । मति, धृति, गर्व, क्षोभ तथा प्रहर्ष आदि व्यभिचारी भाव हैं । यद्यपि रङ्गमञ्च पर भीम का प्रवेश रोषपूर्ण मुद्रा में होता है तथापि उसका साहसिक कृत्य रूपक में मुख्यतः वीर रस का ही सञ्चार करता है ।

द्रौपदी के वन्यवेष को देखकर भीम के रोषपूर्ण कथन से रौद्र रस का भी सञ्चार होता है ।[३६] व्यायोग में भीम के शरीर की कठोरता तथा उसके गुरुत्व के प्रसंगों में अद्भुत रस की योजना है । अकेले भीम द्वारा राक्षसराज तथा राक्षस समूह का सामना करते हुए बक को मार डालने का प्रसंग आश्चर्यजनक हैं । साहसिक के मुख से बक राक्षस के क्रूर कर्म तथा पौरजनों की करुणगाथा से भय का सञ्चार होता है ।[३७] रुधिरशोणित स्मशानसदृश भूमि के दृश्य से बीभत्स रस का निदर्शन प्राप्त होता है ।[३८] राक्षसराज के अत्याचारों से उत्पीडित पौरजनों की करुणगाथा व्यायोग में करुण रस की संसृष्टि करती है । वृद्धा माता तथा वधू सहित जीवन से निराश नवयुवक की उपस्थिति भी अत्यन्त कारुणिक है ।[३९]

इस प्रकार कवि ने सभी दीप्त रसों का सन्निवेश कर वीररस प्रधान व्यायोग की रचना की है । रूपक में भारती वृत्ति का प्राधान्य है । युद्धप्रसंग में सात्वती[४०] तथा आरभटी[४१] वृत्तियाँ विद्यमान हैं । प्रस्तावना में भारती वृत्ति के दर्शन होते हैं ।[४२]

भाषा-शैली :- प्रस्तुत व्यायोग की भाषा सरल, सरस, प्रवाहयुक्त एवं भावप्रवण है । पाण्डित्य-प्रदर्शन मात्र के लिए इसे विकट-पदबन्धों की योजना से दुरूह नहीं बनाया गया है । यह भावनानुसार परिवर्तित भी हुई है । पात्र नाट्यनियमानुकूल भाषा का प्रयोग करते हैं । भीम, बक आदि पात्र संस्कृत का प्रयोग करते हैं । व्याघ्र, सूकर आदि निम्न पात्र तथा द्रौपदी प्राकृत में व्यवहार करते हैं । बकासुर का क्रूर कर्म तथा भीम का शौर्यवर्णन गौड़ी रीति में निबद्ध है ।

छन्द :— इस व्यायोग में २६ श्लोक हैं । इन श्लोकों में कवि ने नव छन्दों का प्रयोग किया है । इनमें स्रग्धरा छन्द[४३] का आठ बार, शार्दूलविक्रीडित[४४] का चार बार, आर्या छन्द[४५] का चार बार, अनुष्टुप्[४६] का तीन बार, मन्दाक्रान्ता[४७] का तीन बार तथा पृथ्वी[४८], मालिनी[४९], वसन्ततिलका[५०] और शिखरिणी[५१] का प्रयोग एक एक बार हुआ है, जो कवि के छन्द विषयक ज्ञान का परिचायक है ।

निर्भयभीमव्यायोग की समीक्षा :— निर्भयभीमव्यायोग में एक अङ्क है । और एक दिन की घटना वर्णित है । एक ही स्थान पर, एक ही प्रयोजन-सिद्धि-हेतु सम्पूर्ण घटनाक्रम घटित होता है । सन्धियाँ एवं अवस्थाएँ नियमों के अनुकूल हैं । अर्थप्रकृतियों में बीज, बिन्दु तथा कार्य के अतिरिक्त कथा को अग्रेसर करने के लिए ब्राह्मण नवयुवक, उसकी नवविवाहिता वधू तथा वृद्धा माता के प्रसंग का पताका रूप में निबन्धन हुआ है । इसकी कथावस्तु महाभारत पर आधारित होने के कारण प्रख्यात है, किन्तु कवि ने अपनी नाट्यप्रतिभा से उसमें यत्र तत्र परिवर्तन किये हैं जिससे रूपक की चारुता में वृद्धि हुई है । नाटककार ने महाभारत के विपरीत इस घटना के समय द्रौपदी को भीम के साथ उपस्थित कर भीम के गुणों को उत्कृष्ट रूप प्रदान किया है । जिस प्रिया के मनोविनोदार्थ वह वनभ्रमण के लिए जाता है उसी प्रिया के अनुनय-

विनय को अस्वीकार कर नायक की कर्तव्य के प्रति निष्ठा दिखाकर कर्तव्य की प्रेम पर विजय दिखाई गई है। यही है भारतीय संस्कृति का आदर्श, जिसे कवि ने भीम के बहाने देश के नवयुवकों को स्मरण कराने का यत्न किया है। नाटक में घोर द्वन्द्व-युद्ध वर्णित है, यह युद्ध किसी भी प्रकार से स्त्रीनिमित्तक नहीं है अपितु लोकरक्षण एवं परोपकार की उदात्त भावना से प्रेरित है।

इसका नेता भीम प्रख्यात एवं धीरोद्धत है जो अपनी वीरता एवं उदारता के कारण दुःसाध्य कार्य को सम्पन्न करता है। रूपक में दस पुरुष पात्रों तथा तीन स्त्रीपात्रों के होने से पुरुषों का आधिक्य और स्त्रीपात्रों की न्यूनता स्पष्ट ही है।

नाटक वीररस प्रधान है। रौद्र, बीभत्स, भयानक आदि दीप्त रसों का भी सञ्चार हुआ है। वीररस के अनुकूल ही सात्वती, आरभटी तथा भारती वृत्तियाँ विद्यमान हैं। कैशिकी वृत्ति का पूर्णतया अभाव है। स्त्रीपात्र के रूप में द्रौपदी, वृद्धा तथा वधू उपस्थित होती हैं, लेकिन इनकी उपस्थिति श्रृंगार रस के विपरीत करुण रस की ही निष्पत्ति करती है।

भाषा सरल, सरस एवं प्रवाहमयी है। पात्र नाट्य नियमानुकूल भाषा का प्रयोग करते हैं। संवाद सरल, संक्षिप्त तथा पात्रों की मनःस्थिति के परिचायक हैं।

संक्षेप में प्रस्तुत रूपक में नाट्यशास्त्र द्वारा प्रतिपादित व्यायोग के लक्षणों का सफलतापूर्वक निर्वाह किया गया है।

पादटीप :

१. **संस्कृत साहित्य का इतिहास**-बलदेव उपाध्याय, शारदा मन्दिर, वाराणसी, १९६८, १९७३, पृ० ५७३।

२. समय-१०९३ ई० से० ११४३ तक- **संस्कृत साहित्य का इतिहास**-बलदेव उपाध्याय, पृ० ५७४।

३. **संस्कृत साहित्य का इतिहास**-बलदेव उपाध्याय, पृ० ५७४।

४. समय ११४३ ई० से ११७३ ई० तक **संस्कृत साहित्य का इतिहास**-बलदेव पृ० ५७४।

५. **मध्यकालीन संस्कृत नाटक**-रामजी उपाध्याय, संस्कृत परिषद्, सागर विश्वविद्यालय, सागर, १९७४, पृ० १५७।

६. प्रबन्धशतकर्तुर्महाकवेः रामचन्द्रस्य।
–निर्भयभीमव्यायोग-रामचन्द्रसूरि, धर्माभ्युदययन्त्रालय, वाराणसी, वीरसंवत्-२४३७, पृ० १।

७. निर्भयभीमव्यायोग की प्रस्तावना में नान्दी पाठ से कवि के जैनमतानुयायी होने का स्पष्ट निर्देश प्राप्त होता है।

८. **हिन्दी नाट्यदर्पण**-नगेन्द्र हिन्दी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली, पुनर्मुद्रण, १९९०-भूमिका, पृ० १६-१७।

९. *The Mahābhārat*-Vol-I-The Ādiparvaṇ–critically edited by Sukthankar v. s. Bhāndärker Oriental Research Institute, Poona, First Edition, 1933, अध्याय १४३ से १५२।

१०. निर्भय, श्लो० १।

११. निर्भय, पृ० १।

१२. देवि ! किं मामेवमभिदधासि ? न नाम समृद्धफलकुसुमपल्लवाः प्रेतवनशाखिनो भवन्ति, यत्पुनरिमाः

पिशितशोणितकीकसपङ्किलाः काननभुवस्तत्र कारणेन भवितव्यम् । —वही, पृ० ४ ।

१३. त्रासं मुञ्च द्रुपदतनये ! नन्वसि बूहि का स्यात्
क्रव्यादेऽस्मिन् सुभटगणना स्फूर्जदूर्जाजुषो मे ?
दोष्णः क्रीडां किमु मम रणे सोऽपि जिष्णुः सहिष्णु
र्विश्वस्थाम्नां कवलनपटुः पाण्डवः क्षत्रियोऽस्मि ॥

निर्भ०प्र० श्लो० १०

१४. हंहो ! मा भैष्ट भूयः प्रमुदितमनसस्तासु तासु क्रियासु
स्वासु स्वैरं प्रवृत्तिं विरचयत चिरं निर्विशङ्कं तु लोकाः ।
रक्षोविक्षोभदक्षैरसमनिहतिभिर्मुष्टिभिः सारकीर्णैः
सञ्चूर्ण्यास्थीनि तूर्णंरणभुवि-निहितः कालवक्त्रे बकोऽयम्

निर्भय, श्लो० २३ ॥

१५. तदेहि देवि ! देवतायतनद्वारचारिणमेनं पुरुषं पृच्छामि । निर्भय, पृ० ४ ।

१६. निर्भय, पृ० ८ ।

१७. निर्भय, श्लोक २५ ।

१८. निर्भय, पृ० ३ ।

१९. निर्भय, पृ० ५ ।

२०. निर्भय, पृ० १४-१५ ।

२१. निर्भय, पृ० ४ ।

२२. निर्भय, श्लो० १६ ।

२३. निर्भय, श्लो० २३ ।

२४. निर्भय, पृ० २, ५, ६, ११ ।

२५. सूत्रधारः (स्वगतम्) कथमस्मदन्तेवासी विशारदः प्रबन्धविशेषं जिज्ञासति ? निर्भय, पृ० २ ।

२६. निर्भय, पृ० ६ ।

२७. निर्भय, पृ० ११ ।

२८. निर्भय, श्लो० २६ ।

२९. निर्भय, श्लो० १७ ।

३०. निर्भय, श्लो० ७ ।

३१. निर्भय, पृ० ५ ।

३२. निर्भय, श्लो० ९ ।

३३. निर्भय, पृ० १६ ।

३४. निर्भय, पृ० ४-५ ।

३५. निर्भय, पृ० १२ ।

३६. निर्भय, श्लो० ४ ।

३७. अहो ! भयकौतुककारी कथारसः । निर्भय पृ० ५ ।

३८. निर्भय, पृ० ४ ।

३९. निर्भय, पृ० ७ ।

४०. निर्भय, श्लो० २५ ।

४१. निर्भय, श्लो० १६ ।

४२. निर्भय, श्लो० ३ ।

४३. निर्भय, श्लो० ४, ७, १७, १८, १९, २४, २५, २७ ।

४४. निर्भय, श्लो० ५, ९, १५, २६ ।

४५. निर्भय, श्लो० ६, १२, १३, १४ ।

४६. निर्भय, श्लो० १, २, ३ ।

४७. निर्भय, श्लो० १०, ११, ८ ।

४८. निर्भय, श्लो० १६ ।

४९. निर्भय, श्लो० २२ ।

५०. निर्भय, श्लो० २१ ।

५१. निर्भय, श्लो० २३ ।

सन्दर्भ ग्रन्थ-सूची :

१. **नाट्यदर्पण** (हिन्दी) — संपा० नगेन्द्र, हिन्दी माध्यमकार्यान्वय निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली, पुनर्मुद्रण, १९९० ।

२. **निर्भयभीमव्यायोग** — कविरामचन्द्रसूरि निर्मितः, निजधर्माभ्युदययन्त्रालय, वाराणसी वीरसंवत् २४३७ ।

३. **निर्भयभीमव्यायोग** — रामचन्द्रसूरिविरचित, हिन्दी अनु०, डॉ० धीरेन्द्र मिश्र, संपा० डॉ० अशोककुमार सिंह, पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी, प्रथम संस्करण १९९६ ।

४. **मध्यकालीन संस्कृत नाटक**— रामजी उपाध्याय, संस्कृत परिषद्, सागर विश्वविद्यालय, सागर, १९७४ ।

५. **संस्कृत साहित्य का इतिहास**— बलदेव उपाध्याय, शारदामन्दिर, वाराणसी, १९६८, १९७३ ।

६. *The Mahābhārat Vol-I* - The Ādiparvaṇ — Crititcally Edited by V. S. Sukthankar, Bhandarkar Oriental Research Institute, Poona, First edition, 1933.

□ □ □

सुदर्शनोदय महाकाव्य की सूक्तियाँ और उनकी लोकधर्मिता

जयप्रकाश द्विवेदी

सुदर्शनोदय दिगम्बर जैन सम्प्रदाय के तत्त्वज्ञानी विद्वान्, कवि, साधक एवं परम सदाचारी महात्मा श्री ज्ञानसागरजी महाराज के द्वारा प्रणीत नव सर्गों में विभक्त लगभग ५५५ श्लोकों वाला एक प्रतिष्ठित संस्कृत महाकाव्य है, जिसके अध्ययन से ऐसा प्रतीत होता है कि दार्शनिक मुनिवर्य महाकवि ज्ञानसागर जी का पूर्व नाम पं० भूरामलजी था। उनके पिता का नाम सेठ चतुर्भुज व माता का नाम घृतवरी था। समूचे महाकाव्य में सेठ वृषभदास और उनकी पत्नी जिनमति के पुत्र सुदर्शन का चरित्रांकन किया गया है। इसलिए सुदर्शन को इस ग्रन्थ का नायक व मनोरमा को नायिका स्वीकार किया गया है।

सामान्यतया इस काव्य में सुदर्शन की सुंदरता, उनके पैतृक संस्कार, युवावस्था की स्वाभाविकता, ज्ञान, तपश्चर्या, मनोरमा के साथ उनके प्रेम और तपःसिद्धि को ही वर्णन का लक्ष्य बनाया गया है, किन्तु इसके साथ-साथ लोकजीवन का जो रूप काव्य में मुखरित हुआ है, वह अनेकविधरूप से विविध वर्णन प्रसंगों में देखा जा सकता है। उदाहरणार्थ-तत्कालीन राजकुलाचार, राजा की न्यायप्रियता, युवतियों का युवावस्थाजन्य काम (वासना) का अखण्ड प्रवाह, दासियों की बुद्धिमत्ता और आचारशीलता इत्यादि। इस ग्रन्थ में एक ओर जहाँ वैश्य ऋषभदास के कुल की सच्चरित्रता का अतिशयोक्तिपूर्ण अंकन किया गया दिखायी देता है, वहीं दूसरी ओर राजकुल का घृणास्पद आचार भी वर्णित है।

इस महाकाव्य के विषय प्रतिपादन को गति देने में जो भूमिका इसमें प्रयुक्त सूक्तियों की है, वह अन्य किसी की नहीं है। सूक्तियों की अर्थवत्ता व उपमानों के प्रयोग जीवन्त लोकजीवन से सर्वतोभावेन सम्बद्ध हैं।

बभौ समुद्रोऽप्यजडाशयश्च दोषातिगः किन्तु कलाधरश्च[1]
लतेव मृद्वी मृदुपल्लवा वा कादम्बिनी पीनपयोधरा वा[2] ॥

इन पंक्तियों में सूर्य, चंद्र, सागर, लता पल्लवादि का प्रयोग है।

समूचे ग्रन्थ में जहाँ सौन्दर्य, दानशीलता, विनम्रता, संस्कार और सद्विचार सदृश आदर्शों का चित्रण है, वहीं देश में तत्कालीन वेश्यावृत्ति, स्त्रीचरित, छल, प्रपञ्च, मिथ्याभाषण और कपटपूर्ण व्यवहार जैसे चित्र भी देखे जा सकते हैं। वृषभदास का चरित्र देखें :-

द्विजिह्वतातीतगुणोप्यहीनः किलानकोऽप्येष पुनः प्रवीणः ।
विचारवानप्यविरुद्धवृत्तिः मदोज्झितो दानमयप्रवृत्तिः ॥[3]

इस काव्य के नायक सुदर्शन की माता जिनमति भी वृषभदास की ही भाँति सर्वगुणसम्पन्ना पतिव्रता सुन्दरी थीं, जिनकी प्रशंसा ज्ञानसागरजी ने १७ श्लोकों में किया है । यथा—

कापीव वापी सरसा सुवृत्ता मुद्रेव शाटीव गुणैकसत्ता ।
विधोः कला वा तिथिसत्कृतीद्धाऽलङ्कारपूर्णा कवितेव सिद्धा ॥[४]

संस्कृत की एक उक्ति है – यद्यदाचरति श्रेष्ठः तत्तदेवेतरो जनः । अर्थात् श्रेष्ठजन जो आचरण करते हैं, सामान्यजन उसीका अनुकरण करते हैं । इसीलिए कवि जिस आदर्श की कल्पना / स्थापना अपने काव्य में करते हैं, वह लोकजीवन के लिए अनुकरणीय बन जाता है । यही कारण है कि समर्थ प्रातिभ कवि कभी किसी अधम चरित्र को काव्य का विषय नहीं बनाता । कवि प्रवर ज्ञानासागर जी ने भी सेठ वृषभदास, जिनमति तथा सुदर्शन को जो अपनी लेखनी का आदर्श बनाया, वह वस्तुतः प्रशंसनीय है । सुदर्शन तो यों भी कुलीन, सुसंस्कृत व संयतेन्द्रिय तथा एकपत्नीव्रती थे । इसीलिए वे जिनालय में सागरदत्त की पुत्री मनोरमा को देखकर मुग्ध हो गये । यथा –

रतिराहित्यमद्यासीत् कामरूपे सुदर्शने ।
ततो मनोरमाऽप्यासील्लतेव तरुणोज्झिता ॥[५]

किन्तु इनका यह स्नेह जन्मान्तरीय संस्कारों के कारण था । इसीलिए सुदर्शन की स्थितियाँ जानकर मुनिवर ने कहा—

प्रायः प्राग्भवभाविन्यौ प्रीत्यप्रीती च देहिनाम् ।[६] अर्थात् सुदर्शन ! जीवों के परस्पर प्रीत्यप्रीति प्रायः पूर्व जन्म के संस्कारवाली होती हैं ।

सन्तमहिमा : ज्ञानसागरजी ने सन्तमहिमा को स्वीकार करते हुए कहा है कि सन्तों के संयोग से प्राणियों को अभीष्ट की प्राप्ति हो जाती है –

वाविन्दुरेति खलु शुक्तिषु मौक्तिकत्वं
लोहोऽथपार्श्वदृषदाञ्चति हेमसत्त्वम् ।
सत्सम्प्रयोगवशतोऽङ्गवतां महत्त्वं
सम्पद्यते सपदि तद्वदभीष्टकृत्वम् ॥[७]

अर्थात् जैसे जलबिन्दु सीप में जाकर मोती बन जाता है और पारस पाषाण का योग पाकर लोहा सोना बन जाता है, वैसे ही सन्तों के संयोग से प्राणियों को अभीष्ट फलदायी महान् पद मिल जाता है ।

सुदर्शन का एक पत्नीव्रतत्व :—

'कः कामबाणादतिवर्तितः स्यात्'[८] इस संसार में काम के बाणों से भला कौन अछूता रह

सकता है। अर्थात् कोई नहीं। इस सूक्ति के माध्यम से कवि ने काम के अबाध प्राबल्य की ओर संकेत किया है और साथ-साथ यह भी बताया है कि काम की इस चुनौती को जो स्वीकार कर ले, वह कोई सामान्य नहीं बल्कि असाधारण महापुरुष कहा जाएगा, कहना न होगा कि इस काव्य के नायक सुदर्शन ऐसे ही अलौकिक व्यक्तित्व के धनी महापुरुष हैं, जिन्हें वासना के कीचड़ में न कपिला गिरा सकी और न ही इनके व्यक्तित्व को रानी अभयमती ही पङ्किल कर सकी। यहाँ तक कि उन्होंने कपिला से अपने को नपुंसक[८] बताया तथा रानी द्वारा बार-बार उत्तेजित किये जाने पर वे वैराग्यभाव को प्राप्त होते चले गये।—

प्राकाशि यावत्तु तयाऽथवाऽग: प्रयुक्तये साम्प्रतमङ्गभाग: ।
तथातथा प्रत्युत सम्विरागमालब्धवानेन समर्त्यनाग: ॥[९]

इस प्रकार सुदर्शन की संयतेन्द्रियता व एकपत्नीव्रत्व भारतीय समाज के लिए सच्चरित्रता का जीवन्त उदाहरण है, जिसके अनुकरण से राष्ट्र, समाज व मानवता की रक्षा हो सकती है। क्योंकि सुदर्शन मात्र अपनी स्त्री में सन्तुष्ट रहनेवाले महान् जितेन्द्रिय पुरुष हैं -

जितेन्द्रियो महानेष स्वदारेष्वस्ति तोषवान्[१०] ।

समाज को शिक्षा :—

इस ग्रन्थरत्न की सूक्तियों द्वारा कवि ने समाज को अनेकविध उपदेशों से मण्डित किया है। कहीं निम्न आचार वाले पुरुषों को धिक्कारा है-धिग्दुरितैकधनी[११] तो कहीं स्त्रियों की अचिन्त्य चेष्टाओं को रेखाङ्कित किया है—चेष्टा स्त्रियां काचिदचिन्तनीया[११]

जिससे लोग दुष्टाचारियों व वासनापीड़ित कामिनियों से सतत सतर्क रहें।

इसी प्रकार सूक्ति के द्वारा उन्होंने यह भी बताने का प्रयत्न किया है कि मनुष्य को बाह्य समीक्षा की अपेक्षा आत्मसमीक्षा पर बल देना चाहिए, क्योंकि ऐसा करने से शत्रुता कम होगी तथा स्वयं में सुधार होगा। और साथ ही आत्मनिरीक्षण की प्रवृत्ति बढ़ेगी। यथा— राजन्निरीक्ष्यतामित्थं—

गृहच्छिद्रं परीक्ष्यताम्[१२]

अर्थात् हे राजन्! अपने घर को, घर के छिंद्र या दोष को देवों और यथार्थ रहस्य का निरीक्षण करो। तुम जिस सुदर्शन को मृत्युदंड देने जा रहे हो, वह निर्दोष जितेन्द्रिय है ओर तुम्हारी रानी व्यभिचारिणी है।

सन्तोष और त्यागादि का महत्त्व :—

महाकवि ज्ञानसागर ने त्याग, दया, क्षमा, शील, सन्तोष, अहिंसा, सत्य, शुद्धाहार एवं परस्त्री-परपुरुष, संयोग निषेध आदि विषयों पर अतिशय बल दिया है। इसीलिए उन्होंने अपनी कृति में पात्रों को इन मानवीय मूल्यों का धनी बताने का प्रयास किया है। यही कारण है कि क्षुल्लिका, और मनोरमा इन उपर्युक्त गुणों की मूर्तिमान् स्वरूप हैं। कवि ज्ञानसागर का मानना है

कि इस काव्य में वर्णित क्षुल्लिका का ब्रह्मचर्य, उपवास व सत्यपालन तथा मनोरमा के अन्तःकरण की पवित्रता, प्राणिमात्र के प्रति उनका मैत्रीभाव, कासाणिकचित्त, गुणाकर्षण, देवों के प्रति प्रणिपात, सत्संग व भक्ति प्रभृति गुण समाज को गहरे रूप से प्रभावित जरूर करेंगे । उदाहरण के लिए निम्नलिखित श्लोकों व तदङ्गभूत सूक्तियों में पुरुषार्थचतुष्टय व अहिंसा को रेखाङ्कित किया गया है, जिससे देश व समाज की असंख्य समस्याएँ स्वतः हल हो जाएँगी । यथा–

हे वत्स त्वञ्च जानासि पुरुषार्थचतुष्टये ।

धर्म एवाद्य आख्यातस्तं विनाऽन्ये न जातुचित् ॥[१३]

मा हिंस्यात् सर्वभूतानि . . . .।[१४]

इसी प्रकार ग्रन्थकार ने मर्मोच्छेदक व निन्दाजन्य वचन का निषेध, अदत्त वस्तु को न लेने, परोत्कर्ष से असहिष्णुता न करने, मांस भक्षण न करने तथा मद-मोह-मदिरा-भाँग व तम्बाकू आदि नशीली वस्तुओं से दूर रहकर विनम्र भाव से वृद्धाज्ञा का पालन करने पर खूब जोर दिया है । उनके अनुसार सभी के प्रति उपकारभाव रखना ही धर्म है ।

यथा--

सर्वेषामुपकाराय मार्गः साधारणो ह्ययम् ।
युवाभ्यामुररीकार्यः परमार्थोपलिप्सया ॥[१५]

सुदर्शनोदय महाकाव्य में अर्थान्तरन्यास के माध्यम से कविप्रवर ज्ञानासागर ने ऐसे गम्भीर विषयों का प्रतिपादन किया है, जो संसार की वर्तमान व भावी पीढ़ी के लिए अनुकरणीय है और रहेगी । यथा–

दण्डं चेदपराधिने न नृपतिर्दद्यात्स्थितिः का भवेत् ।[१६]

अर्थात् राजा अपराधी को दण्ड न दे, तो लोक की मर्यादा भला कैसे रहेगी और लोक मर्यादा के सुरक्षित न रहने पर समाज व राष्ट्र में दुर्व्यवस्था फैलेगी, जिससे जनजीवन असुरक्षित हो जाएगा ।

इसी प्रकार उनकी अन्य सूक्तियाँ भी जहाँ एक ओर काव्य की शोभा में वृद्धि करती हैं, वहीं सम्पूर्ण लोक को जीवन-दर्शन का ज्ञान भी कराती हैं, जैसे–

शत्रुश्च मित्रं च न कोऽपि लोके हृष्यज्जनोऽज्ञो निपतेच्च शोके[१७] ।

अर्थात् अज्ञानी व्यर्थ ही किसी को शत्रु व किसी को मित्र मानकर सुखी-दुःखी होते हैं । वस्तुतः संसार में न कोई किसी का मित्र है और न शत्रु ।

ग्रन्थ के कृती विद्वान् ज्ञानसागर जी यह मानते हैं कि जीवों का सुख-दुःख स्वकृत पापपुण्य का परिणाम है । इसीलिए ज्ञानी न सम्पत्ति से हर्षित होता है और न विपत्ति से दुःखी । तात्पर्य यह कि मनुष्य को सदा समभाव रहना चाहिए ।

विज्ञो न सम्पत्तिषु हर्षमेति विपत्सु शोकं च मनागथेति ।[१८]

क्योंकि अपने कर्मों के अतिरिक्त किसी को सुख-दुःख भला अन्य कौन दे सकता है?

दातुं सुखं च दुःखं च कस्मै शक्नोति कः पुमान् ?[१९]

उनके अनुसार किसी की निन्दा नहीं करनी चाहिए, क्योंकि सूर्य के लिए उछाली गयी धूलि अपने ही सिर पर आकर पड़ती है, उस तक तो पहुँचती भी नहीं ।

सम्पतति शिरस्येव सूर्यायोच्चालितं रजः ।[२०]

दार्शनिक निरूपण :

सुदर्शनोदय के अनेक स्थलों पर वासना, स्वार्थ, छल, दम्भ, अहंकार और क्षणिक रूप व सम्पत्ति की व्यर्थता / सारहीनता व दान, दया, दाक्षिण्य का समर्थन किया गया है । यहाँ तक कि उपर्युक्त दोष सम्पन्न पात्रों पर सात्त्विक पात्रों की विजय दिखाते हुए ज्ञान को बहुत महत्त्व दिया गया है—ज्ञानामृतं भोजनम् कहा गया है । भोग की ज्वाला दारुण है । वह उपभोग से उसी प्रकार शान्त नहीं होती । जैसे अग्नि में लकड़ी डालने से उसकी ज्वाला नहीं शान्त होती।

वह्निः किं शान्तिमायाति क्षिप्यमाणेन दारुणा ?[२१]

इसी प्रकार पिता के गुण पुत्र में आनुवंशिक रूप से आने के तथ्य को इतने स्वाभाविक व सरल रीति से कवि ने प्रस्तुत किया है, जितना अन्य द्वारा सम्भव नहीं । यथा-

किमु बीजव्यभिचारि अङ्कुरः[२२]

क्या अंकुर बीज से भिन्न प्रकार का होता है ?

वर्ण्यविषयों के निरूपण में जहाँ ज्ञानसागर जी केन्द्रित होते हैं वहाँ लोकोक्तियों को ही अपने विषय का अंग बनाते दिखायी देते हैं; जैसे-सुगन्धयुक्तापि सुवर्णमूर्तिरिति[२३] इत्यादि । सेठ वृषभदास अपनी पत्नी से स्वप्न की बातें करते हुए ऐसे सिद्धान्त्र निरूपित करते हैं, जो त्रिकालाबाधित है—सम्पादयत्र च कौतुकं नः करोत्यनूढा स्मयकौ तु कं न[२४]

अर्थात् अविवाहित युवती पृथ्वी पर किसके मन में भला कौतुक उत्पन्न नहीं करती ? तात्पर्य यह कि सबके मन में कौतुक उत्पन्न करती है ।

मानव स्वभाव का इसी प्रकार एक अन्य चित्रांकन भी देखा जा सकता है । यथा—

स्वभावतो ये कठिना सहेरं कुतः परस्याभ्युदयं सहेरन् [२५]

अर्थात् स्वभाव से कठोर जन दूसरों के उत्कर्ष को भला कैसे सहन कर सकते हैं ?

यद्यपि इन उक्तियों का प्रयोग कवि ने अलग-अलग प्रसंगों में किया है, फिर भी इनका स्वतन्त्र अस्तित्व है और लोकजीवन के साथ इनका गहरा सम्बंध है । कहीं कहीं तो समूचा

श्लोक ही सूक्ति रूप में देखा जा सकता है :—

स्वप्नावलीयं जयतूत्तमार्था चेष्टा सतां किं भवति व्यपार्था ।
किमर्कवच्चाम्रमहीरहस्य पुष्पं पुनर्निष्फलमस्तु पश्य ॥[२६]

प्रकृत श्लोक में यह बताने का प्रयत्न किया गया है कि आम्रमंजरी की भाँति सज्जनों की चेष्टा कभी निष्फल नहीं होती । भले आक के पुष्प की भाँति दुर्भाग्यशालियों के स्वप्न या प्रयत्न व्यर्थ हो जायँ ।

सुदर्शन-मनोरमा के प्रेम-सम्बन्ध को लेकर लोकोपयोगी सूक्तियों की अव्यहित प्रस्तुति कवि की प्रतिभा, लोकसम्वेदना एवं गहन लोकानुभव का प्रतीक है । यथा

तस्या मम स्यादनुमेत्यहो श्रुता किं चन्द्रकान्ता न कलावता द्रुता ।[२७]

कलानाथ को देखकर चन्द्रकान्ता मणि यदि द्रवति नहीं हुई, ऐसा कभी सुना गया है ? अर्थात् अवश्य होती है ।

अहो दुराराध्य इयान् परो जनः[२८]

मनोरमा के प्रति सुदर्शन के मोहजन्य हठ को देखकर वृषभदास ने विचारा कि इस बालक के हठ को प्रस्तुत कर कन्या मनोरमा के लिए उसके पिता सागरदत्त को कैसे समझाया जाय; क्योंकि अन्य जन दुराराध्य होता है ।

इसी प्रसंग में वृषभदास के मानो चितवन से ही सागरदत्त अपनी पुत्री मनोरमा का विवाह सम्बंध प्रस्ताव लेकर वृषभदास के घर स्वयं आ गये; क्योंकि सुकृती जन की इष्ट वस्तु स्वतः फलित होती है । यथा—

आहो फलतीष्टं सतां रुचिः[२९]

इनकी सूक्तियाँ प्रासंगिक होती हुई भी सार्वजनीन एवं सार्वत्रिक हैं ।

निष्कर्षतः इस काव्य में जहाँ सुदर्शन, जिनमति, मनोरमा व वृषभदास जैसे उत्तम तथा राजा सदृश मध्यम चरित्रों का संयोजन किया गया है, वहीं अभयमती, कपिला, देवदत्ता, दासी और वेश्यादि अधम चरित्रों का भी वर्णन है, जो आभिजात्य, अमीरी एवं बाहर से चमक-दमक का अहंकार पालने वाले उच्च वर्णीय व राजकुलों के कृत्रिम स्वरूप का निदर्शन कराता है । वस्तुतस्तु चरित्रवान्, धैर्यशाली, त्यागी व सद्गुणी व्यक्ति ही महान् है । ऐश्वर्य, कुलीनता व मिथ्याहंकार प्रदर्शन वास्तविक गुणवत्ता के प्रतीक नहीं हैं । बल्कि समाज के लिए ऐसे लोग विषकुम्भपयोमुख हैं, जो ऐहिक और आमुष्मिक दोनों ही दृष्टियों से व्यर्थ हैं, क्योंकि वे धार्मिक आस्था, साधना, ज्ञान व वैराग्य से विहीन तथा वासना की भौतिकता से पंकिल हैं ।

यहाँ कपिला का भृत्य, कपिला, अभयमती व वेश्या वासना / माया के प्रतीक हैं और सुदर्शन जीवन्मुक्त आत्मा का उपलक्षण है तथा रानी की दासी बुद्धि मानी गयी है, जो रानी को

समझाकर उसके वासनामय प्रस्ताव को बार-बार निरस्त करने का प्रयत्न करती है और अनेक प्रकार से उनमें धर्मविवेक जागृत करती है । किन्तु अन्त में रानी उसकी स्वामिनी है । उसकी भक्ति, सेवा और आदेशपालन दासी का कर्तव्य है । अत: स्वामिभक्ति में आदेश मानकर दासी छलप्रपञ्च करती है । अपने कर्तव्यपालन के दौरान वह द्वारपालों से प्रताडित भी होती है, किन्तु रहस्योद्घाटन नहीं करती और रानी के आदेशानुसार सुदर्शन को श्मशान से अन्त:पुर तक अपनी पीठ पर लादकर पहुँचाने में सफल हो जाती है ।

इस प्रकार कवि ज्ञानसागर ने इस महाकाव्य में समाज के अनेकविध व अनेक वर्णीय पात्रों का उपयोग किया है, जिनमें वैश्यवर्णीय व दासी पात्रों को आदर्श रूप में एवं ब्राह्मणी, रानी, राजा वगैरह के स्वरूप को कृत्रिम, वासनामय, दम्भ एवं अहंकार की मूर्ति के रूप में निरूपित किया है, जो परम्परागत पद्धति के वर्णनों से अलग हटकर प्रगतिवादी मौलिकता की स्थापना कही जा सकती है । यह रचना लोक में सामान्य जन का उत्साह बढ़ाने में समर्थ है । इनके विषय प्रतिपादन से जैनधर्म का प्रचार किंवा सद्गुणों का विस्तार हो सकता है । इस ग्रन्थ की सूक्तियाँ परम लोकोपयोगी हैं, जिनका प्रसंग से अलग हटकर भी भारतीय लोकजीवन से साक्षात् सम्बन्ध कहा जा सकता है ।

पादटीप :

१. सुदर्शनोदय महाकाव्य २/३
२. सुदर्शनोदय महाकाव्य २/३
३. सुदर्शनोदय महाकाव्य २/२
४. सुदर्शनोदय महाकाव्य २/६
५. सुदर्शनोदय महाकाव्य ३/३५
६. सुदर्शनोदय महाकाव्य ४/१६
७. सुदर्शनोदय महाकाव्य ४/३०
८. सुदर्शनोदय महाकाव्य ८/२
९. सुदर्शनोदय महाकाव्य ७/२१
१०. सुदर्शनोदय महाकाव्य ८/१०
११. सुदर्शनोदय महाकाव्य ८/३
१२. सुदर्शनोदय महाकाव्य ८/१०
१३. सुदर्शनोदय महाकाव्य ४/४०
१४. सुदर्शनोदय महाकाव्य ४/४१
१५. सुदर्शनोदय महाकाव्य ४/४५
१६. सुदर्शनोदय महाकाव्य ८/१४
१७. सुदर्शनोदय महाकाव्य ८/१५

१८. सुदर्शनोदय महाकाव्य ८/१९
१९ सुदर्शनोदय महाकाव्य ९/३३,
२०. सुदर्शनोदय महाकाव्य ९/३६
२१. सुदर्शनोदय महाकाव्य ९/४०
२२. सुदर्शनोदय महाकाव्य ३/८,
२३. सुदर्शनोदय महाकाव्य• १/३५
२४. सुदर्शनोदय महाकाव्य २/२१
२५. सुदर्शनोदय महाकाव्य २/४४
२६. सुदर्शनोदय महाकाव्य २/३८
२७. सुदर्शनोदय महाकाव्य ३/४१,
२८. सुदर्शनोदय महाकाव्य ३/४२,
२९. सुदर्शनोदय महाकाव्य ३/४३

□ □ □

"श्लिष्टकाव्य" साहित्य के प्रति जैन विद्वानों का योगदान

गोपराजु रामा

संस्कृत साहित्य में 'श्लेष' का प्रयोग प्राचीन काल से ही मिलता है। एक शब्द से दो अर्थों के प्रतिपादन की प्रक्रिया वैदिक काल से ही चली आ रही है। वैदिक साहित्य में सर्वप्रथम "इन्द्रशत्रु" शब्द का उल्लेख प्राप्त होता है। सामान्यत: कहीं स्वर के बदलने एवं कहीं लिंग के बदलने से अर्थ बदल जाता है। आदि स्वर के उदात्त होने पर "इन्द्र है शत्रु जिसका" एवं अन्तिम स्वर के उदात्त होने पर "इन्द्र का शत्रु" इस अर्थ का ज्ञान होता है। इस प्रकार एक शब्द से दो अर्थों के प्रतिपादन की प्रक्रिया की उत्पत्ति हुई।

परवर्तीकाल में "**काव्यप्रकाश**" में श्लेष शब्द का निर्वचन किया गया है।

वाच्यभेदेन भिन्ना यत्
युगपत् भाषणस्पृशः ।
श्लिष्यन्ति शब्दा श्लेषोऽसा-
वक्षरादिभिरष्टधा ॥ (**काव्यप्रकाश**, ९-८४)

इस श्लेषालंकार के माध्यम से सुबन्धु एवं बाणभट्ट ने अपनी कृतियों का प्रणयन किया। इन कृतियों की चर्चा करना आवश्यक प्रतीत नहीं होता है।

उसके बाद नवमी शताब्दी में "भट्टरूरि" ने "**अष्टोत्तर शतार्थीगाथा**" की रचना करके उसके एकसौ आठ (१०८) अर्थों को बतानेवाली वृत्ति स्वयमेव लिखी। गाथा इस प्रकार है :-

तत्रीसी अली मेलावा केहा
ण उत्तावली पिय-मिदं सिणेहा ।
वरहिंहिं माणुसु जं मरहत सुकवण निहोरा
कीर्तिपविवडीजणुं जाणहं दोरा ॥

ग्यारहवीं शताब्दी में श्रीपाल ने शतार्थीपद्य का निर्माण किया[१]। ये गुजरात के राजा सिद्धराज के बालसखा एवं कविचक्रवर्ती के रूप में प्रसिद्ध थे। इनके द्वारा निर्मित शतार्थी (सौ अर्थवाला) पद्य निम्नवत् है :-

"भूभारोद्धरतो रसातलगमः स्वर्गोऽप्ययशोभावनः
सारसंपपदः प्रभावसविता सत्यागवेष्ठोऽदितः ।
व्यापन्नीरस सिद्धराजवसुधा मद्रक्षरामेवली
सन्नागः सहरीरसाहितमहोराज्याय साधूरसेः ॥

टीकाकार ने इस पद्य के सिद्धराज, स्वर्ग, शिव, ब्रह्मा, विष्णु, भुवनपति, कार्तिकेय, गणेश, इन्द्र, वैखानर आदि सौ अर्थों की व्याख्या की ।[२]

प्रसिद्ध आचार्य हेमचन्द्र सूरि के शिष्य वर्धमानसागर गणि ने '**कुमारविहारप्रशस्ति काव्य**' के एक श्लोक को एकसौ सोलह (११६) अर्थों में व्याख्या की । इनका समय १२वीं शताब्दी है । श्लोक इस प्रकार है :—

गम्भीरः श्रुतिभिः सदाचरणतः प्राप्तप्रतिष्ठोदयः
सत्कान्तारचितप्रियो बहुगुणो यः साम्यमालम्बते ।
श्री चालुक्यनरेश्वरेण विविधश्रीहेमचन्द्रेण च
श्रीमद्वाग्भाहमन्त्रिणा च परिबादिन्या च मन्त्रेण च ॥

तपगच्छीय पं० हर्षकुल ने नमस्कार मन्त्र के प्रथम पद्य के लिए एक सौदस (११०) अर्थमयी शतार्थी बनायी । इसका उल्लेख विजयविमल ने "**हतेद्वयविभंगी**" टीका में किया है ।[३]

श्रीलावण्यधर्म के शिष्य उदयधर्मगणि ने "दोस समय" शब्द के एक सौ एक (१०१) अर्थ किये हैं । यह "दोस समय" शब्द धर्मदासगणि रचित "**उपदेशमाला**" की इक्यानवीं[४] (५१) गाथा का प्रारम्भ है । ग्रन्थ का रचनाकाल १६०५ ईसवी है । ग्रन्थअद्यावधि अप्रकाशित है ।

१४७५ ईसवी में "**त्रिसन्धानस्तोत्र**" नामक पंचपद्यात्मक स्तोत्र रत्नशेखर सूरि ने की है ।

"**उवसग्ग हरस्मरणम्**"- यह श्रीजिनप्रभसूरि कृत अर्थकल्पलतावृत्ति अनेकार्थी है ।

"**अष्टलक्षी**" ग्रन्थ केवल भारतीय साहित्य का ही नहीं अपितु विश्वसाहित्य का एक अद्वितीय रत्न है । इतिहास पर दृष्टिपात करने पर ज्ञात होता है कि सन् १५९२ में काश्मीर जाते हुए सम्राट् अकबर ने जब लाहौर नगर में विश्राम किया तब जयचन्द्रसूरि विद्वानों की सभा में उपस्थित था । वहाँ उसके शिष्य समयसुन्दरसूरि ने स्वरचित अष्टलक्षार्थी ग्रन्थ सुनाया ।

इसमें संस्कृत भाषा के शब्दत्रय समुच्चय रुप "राजानो ददते सौख्यम्" इस वाक्य के आठ लाख अर्थ समाहित किये गये है । यह रचना मुद्रित एवं प्रकाशित है (See Introduction P. B. of भानुचन्द्रगण रचित, ed. M. D. Desai, Singhi Jain Series No. 15, Bombay, 1941.)

श्लेष द्वारा पाँच अर्थों को अभिव्यक्त करने वाला पद्य इस प्रकार है ।[५]

यो गंगा दधर्दी योऽत्र हरिणाऽऽधारेण विश्रूयते
यो नागेन विराजते कलिमलं योऽसौ निहन्तुं क्षमः ।
यस्येयं वरवारवृतितरमला यद्यत् प्रभूतं शिवं
तं ब्रह्मा मुरजिन्मृडो दिनकरश्च्यन्द्रोऽस्तु सौख्याय वः ॥

बारहवीं शताब्दी में हेमचन्द्रसूरि के शिष्य वर्धमान सागरमणि के समकालीन प्रभासूरि ने एक अभूतपूर्व पद्य की रचना की एवं उसके सौ अर्थों को अपनी स्वोपज्ञ वृत्ति में व्याख्यायित किया है । वह पद्य इस प्रकार है-

कल्याणसारसविता न हरेक्ष मोह-
कान्ताम्भारणसमानजयाद्यदेवा
धर्मार्थकामदमहोदयवीरधीर-
सोमप्रभाव परमागम सिद्ध सूरे ॥

इसके सौ अर्थ चौबीस तीर्थंकरों से सम्बन्धित तथा सिद्ध, सूर्य, उपाध्याय, मुनि गौतम, सुधर्मा आदि है ।

पन्द्रहवीं शताब्दी में कविलाभविजय ने एक पद्य के पाँचसौ अर्थ किये है । ग्रन्थ अद्यावधि उपलब्ध नहीं है । वह पद्य इस प्रकार है -

तमोदुर्वाररागादि वैरिवारानिवारणे ।
अर्हतायोगिनाथाय महावीराय तायिने ॥

मानसागर गणि ने **"रातार्थ विवरण नामक"** ग्रन्थ की रचना की ।

"विविधार्थमयविवरण" में सोमतिलकसूरि ने गायत्री मन्त्र पर श्लेष के माध्यम से अर्हत प्रजापति, शंकर, पार्वती, राधा, विष्णु आदि की स्तुतिरूप में विवरण लिखा है ।

"पंचविंशति सन्धान काव्य" में श्री सोमतिलकसूरिने **"श्री सिद्धार्थ नरेन्द्र"** से प्रारम्भकर बारह पद्यों में वीरजिनेन्द्र स्तवन लिखा है । इसके प्रथम एवं अन्तिम पद्य को छोड़कर अन्य प्रत्येक पद्य के पच्चीस-पच्चीस अर्थ है जिनमें चौबीस अर्थ ऋषभ आदि चौबीस तीर्थकरों से सम्बद्ध हैं । एवं पच्चीसवाँ अर्थ कर्ता के गुरुपक्ष की परिपुष्टि करता है जिसके द्वारा कवि की गुरुभक्ति प्रकट होती है ।

सारग शब्दार्थमय **"श्रीमहावीर जिनस्तवन"** श्रीविजयगणि ने लिखा है । यह अष्टपद्यात्मक स्तवन है । इसमें सारंग शब्द अनेकार्थक है ।

"पराग शब्द गर्भजिनस्तव" में श्रीलक्ष्मीकल्लोल गणि ने "पराग" शब्द के एकसौ आठ (१०८) अर्थों में जिनेन्द्र देव की स्तुति की है ।

मुनिवर पं० गुणरत्नजी ने पंचनमस्कार मन्त्र के प्रथमपद्य "णामो अरिहन्ताणं" की

अनेकार्थक योजना की है । अर्थात् उक्त पद्य के श्लेष के माध्यम से अनेक अर्थ किये हैं ।

रत्नशेखर सूरि ने "परवाया शब्द" के छप्पन अर्थ किये हैं । ये सभी अर्थ संगतियुक्त हैं ।

गुहालिका (गोधूलिका) शब्द के भावप्रभ सूरि ने इकतालीस (४१) अर्थ किये हैं ।

खरतरगच्छीय उपाध्याय गुणविजय ने "सवत्थ" शब्द के एकसौ सत्रह अर्थ किये हैं ।

बारहवीं शताब्दी में कविराज ने **"राघवपाण्डवीयम्"** की रचना की है । यह रामायण और महाभारत की कथाओं से निबद्ध श्लेषकाव्य है । इसको द्विसंधानकाव्य भी कहते हैं । कवि की प्रतिभा इतनी है कि श्लेषगुम्फन में पीछे नहीं होते हैं । उदाहरणार्थ दो श्लोक प्रस्तुत करता हूँ—

विशिष्टगीता धृतवंशदीप्तिः
श्रुतिप्रतिष्ठा पुरुषार्थसूतिः ।
सन्मार्गविस्तारवतीसुजातिः
यं भारतश्रीर्भजतेऽभिरामा ॥ १-३१ (राघवपाण्डवीयम्)

यहाँ पर कवि ने अपने प्रतिभा कौशल द्वारा "यं अभिरामा भारतश्रीः भजते" (जिसमें ऐसी भारतश्री सेवा करती है") वाक्य के छः (६) अर्थ प्रस्तुत किये हैं । व्यासपक्ष में, महाभारत पक्ष में भारतभूमि पक्ष में, दीप्ति पक्ष में, सुरत पक्ष में और लक्ष्मी पक्ष में । इनकी व्याख्या इस प्रकार है :—

१. व्यासपक्ष में

विशिष्टगीता-	विशिष्टगीता उपनिषत् विशेषो यत्र
धृतवंशदीप्तिः-	वंशस्य वंशानुचरितस्य दीप्तिर्यत्र
श्रुतिप्रतिष्ठा-	श्रुतौ वेदे प्रतिष्ठा ख्यातिर्यस्याः सा
पुरुषार्थसूतिः-	पुरुषार्थस्य धर्मादिचतुष्टयस्य सूतिः व्युत्पत्तिः यत्र सा
सन्मार्गविस्तारवती-	सन् श्रेष्ठः यः मार्गः तस्य विस्तारो यत्र तादृशी ।
सुजातिः-	शोभना जातिः ब्राह्मणत्वादिर्यत्र, शोभनानां पुरुषाणां जन्म ।
अभिरामा-	मनोहरा ।

२. महाभारतपक्ष में

विशिष्टगीता-	विशिष्टेन सज्जनेन गीता शब्दिता
धृतवंशदीप्तिः-	धृता वंशस्य निजान्ववायस्य दीप्तिः यया सा तथोक्त ।
श्रुतिप्रतिष्ठा-	श्रुतौ वेदे प्रतिष्ठा यस्याः, हिरण्यवर्ण इत्यादि ऋग्वेदे तथोक्तिः ।
पुरुषार्थसूतिः-	पुरुषार्थस्य पुरुषप्रयोजनस्य वा सूतिः उत्पत्तिः यस्याः या पौरुषजनक

	इत्यर्थाः
सन्मार्गविस्तारवती-	सतः सदाचारस्य यो मार्गो वर्त्म तत् विस्तारवती ।
सुजातिः-	उत्कृष्टजातिवती
अभिरामा-	अभि भयशून्यः रामः बलभद्रः यत्रेति ।

३. भारतभूमिपक्ष में

विशिष्टगीता-	विशेषेण शिष्ट आचारवान् गीतः ख्यातो यत्र
धृतवंशदीप्तिः-	धृतावंशेन वेणुना दीप्तिः शोभा यत्र भारतलक्ष्म्यां सातया ।
श्रुतिप्रतिष्ठा-	श्रुतौ वायवान्ते प्रतिष्ठा यस्याः ।
पुरुषार्थसूतिः-	पुरुषाणां अर्थस्य धनस्य सूतिर्यस्याः सातया पुरुषविषयस्य सूतिर्यत्रेति वा।
सुजातिः-	शोभना जातिर्यतः
अभिरामा-	अभिरमति इति अभिरामा
भारतश्रीः-	भा प्रभा (दीप्तिः) रतं-संयोगं, श्रीः लक्ष्मीः सततं सेवत इति द्वन्द्वसमासः ।

४. दीप्ति पक्ष में-

विशिष्टगीता-	विशेषतः शिष्टेन मान्येन साधुजनेन वा गीता
धृतवंशदीप्तिः-	धृता वंशस्य दीप्तिर्यया
श्रुतिप्रतिष्ठा-	श्रुत्यैव श्रवणमात्रेण प्रतिष्ठा यस्याः सा
पुरुषार्थसूतिः-	पुरुषार्थस्य कामस्य सूतिर्यत्र
सन्मार्गविस्तारवती-	सतः श्रेष्ठस्य मार्गस्य मृगमादस्य विस्तारो यत्र
सुजातिः-	शोभना जातिरुत्पत्तिर्यस्याम्
अभिरामा-	मनोहरा ।

५. सुरतपक्ष में

विशिष्टगीता-	विशिष्टेन पण्डितेन स्तुता
धृतवंशदीप्तिः-	धृता वंशस्य अन्ववायस्य दीप्तिर्यया
श्रुतिप्रतिष्ठा-	श्रुतौ कर्णे प्रतिष्ठा यत्र श्रूयते परं न केनापि श्रुतौ वेदे प्रतिष्ठा यत्र दृश्यते ।
पुरुषार्थसूतिः-	पुरुषाणां अर्थस्य पौरुषस्य सूतिर्यत्र
सन्मार्गविस्तारवती-	सतां मार्गस्य विस्तारो यत्र
सुजातिः-	शोभना जातिः वंशो यत्र
अभिरामा-	मनोहरा ।

६. व्यासपक्ष में

विशिष्टगीता-	विशिष्टेन पण्डितेन गीतास्तुतेति

धृतवंशदीप्तिः- स्पष्टम्
श्रुतिप्रतिष्ठा- श्रुतौ वेदे प्रतिष्ठा यस्या इति
पुरुषार्थसूतिः- स्पष्टम्
सन्मार्गविस्तारवती- स्पष्टम्
सुजातिः- शोभना जातिरुत्पत्तिर्यस्याम्

एक और उदाहरण इस प्रकार है :-

स्फुरद्दृष्यश्रृङ्गविततान्यथान्वहं
सवानान्तराप्यधिगतो महीपतिः ।
चतुरोऽपि पंचसुख भासुरश्रियः
तनयानवाप हरिदस्त्रतेजसः ॥ राघवपाण्डवीयम् १.६६

इस श्लोक में हरिदस्त्रतेजसः में श्लेष है । महाभारत पक्ष में "दरिदस्त्रतेजसः तनयानवाय" । यहाँ हरिशब्द श्लिष्ट है ।

हरिश्च हरिश्च हरिश्च हरयः दस्त्रौच हरिदस्त्राः ते तेजसः इव तेजांसि हरिदस्त्रतेजस हरिः = यमः, हरिः-वायुः, हरिः-इन्द्रः, दस्त्रौ-अश्विनीपुत्रौ । क्रमशः युधिष्ठिरः, भीमः अर्जुनः नकुलसहदेवौ च ।

इस प्रकार जैन विद्वानों में श्लिष्टकाव्य साहित्य की श्रीवृद्धि की है ।

पादटीप :-

१. जैन साहित्य परम्परानो संक्षिप्त इतिहास प्रकरण ४१ ।
२. अनेकार्थ साहित्य संग्रह ।
३. जैन अनेकार्थ ।
४. अनेकार्थ रत्नमंजूषा, प्रस्तावना पृ० ९० ।
५. अनेकार्थ साहित्य संग्रह पृ० ६३-६४ ।

□ □ □

वाग्भट द्वितीय का गुणविचार

जागृति पण्ड्या

संस्कृत साहित्यशास्त्र के क्षेत्र में अनेक जैन लेखकों ने अपना योगदान दिया है, किसी ने स्वतन्त्ररूप से अलङ्कारग्रन्थ दिये हैं तो किसी ने टीकाग्रन्थों की रचना की है । उन सब में हेमचन्द्र का 'काव्यानुशासन', नरेन्द्रप्रभसूरि कृत 'अलंकारमहोदधि', वाग्भट प्रथम का 'वाग्भटालंकार', वाग्भट द्वितीय का 'काव्यानुशासन', रामचन्द्र-गुणचन्द्ररचित 'नाट्यदर्पण', अरिसिंह कृत 'काव्यकल्पलता' इत्यादि स्वतन्त्र रचनारूप ग्रन्थ प्रसिद्धि को प्राप्त हुए हैं । इसी तरह नमिसाधु द्वारा रुद्रट के 'काव्यालंकार' पर रची गई वृत्ति तथा मम्मट के 'काव्यप्रकाश' पर माणिक्यचन्द्ररचित 'संकेत' टीका और गुणरत्नगणि कृत 'सारदीपिका' इत्यादि टीकाग्रन्थ भी प्रसिद्ध हैं, जब कि सिद्धिचन्द्र का 'काव्यप्रकाशखंडन' एक टीकाग्रन्थ होते हुए भी स्वतन्त्र ग्रन्थरूप होने का गौरव पाता है ।

वाग्भट द्वितीय का 'काव्यानुशासन' पाँच अध्यायों में विभाजित एक छोटी-सी रचना है । किन्तु उसमें नाट्यचर्चा को छोड़कर काव्यशास्त्रीय सभी विषयों का निरूपण प्राप्त होता है । उसके प्रथम अध्याय में काव्यहेतु, कविशिक्षा, काव्यलक्षण तथा काव्यप्रकार वर्णित है । द्वितीय अध्याय में काव्यदोष काव्यगुण एवं रीतियाँ निरूपित हैं । तृतीय एवं चतुर्थ अध्यायों में क्रमशः अर्थालंकार और शब्दालंकार का निरूपण है तथा अंतिम पाँचवें अध्याय में रसनिरूपण प्राप्त होता है, जिसमें रसस्वरूप, भावादिनिरूपण, रसदोष इत्यादिविषयक चर्चा की गई है । समग्र ग्रन्थ पर वाग्भट ने स्वयं ही 'अलंकारतिलकवृत्ति' नाम स्वोपज्ञ टीका लिखी है ।

'काव्यानुशासन' के प्रथम अध्याय में "शब्दार्थौ निर्दोषौ सगुणौ प्रायः सालङ्कारौ काव्यम्"[1] ऐसा काव्यलक्षण दिया गया है जिसमें पूर्वपरम्परा का अनुसरण स्पष्ट है । मम्मट[2]-हेमचन्द्र[3] के प्रभाव में ही वाग्भट ने काव्य में गुण, अलंकार एवं दोषाभाव की बातों को विशेष उल्लेखनीय माना है ।

तत्पश्चात् दूसरे अध्याय में दोषनिरूपण करने के बाद वाग्भट गुणों का निरूपण करते हैं । उन्होंने कान्ति इत्यादि दस गुणों का स्वीकार किया है, जो इस प्रकार हैं :—

कान्ति, सौकुमार्य, श्लेष, अर्थव्यक्ति, समाधि, समता, औदार्य, माधुर्य, ओजस् एवं प्रसाद ।[4]

अह हम वाग्भट द्वितीय के अनुसार इन दस गुणों का स्वरूपविचार करेंगे ।

१. **कान्ति** : कान्ति उज्ज्वलता को कहते हैं, जिसमें लौकिक अर्थ का अतिक्रमण न होता हो ।

लौकिकार्थानतिक्रमेणौज्ज्वल्यं कान्तिः ।[५]

इसे उदाहृत करते हुए वृत्ति में वाग्भट ने 'सजलनिबिडवस्त्र०.....' इत्यादि श्लोक दिया है ।

वाग्भट के इस कान्तिगुण का स्वरूप वामन[६] के शब्दगुण कान्ति के समान है । भोज[७] एवं वाग्भट प्रथम[८] भी इस गुण का स्वीकार करते हैं लेकिन उन दोनों आचार्योंने बन्धगत उज्ज्वलता का स्पष्ट निर्देश किया है, जो वामन ने वृत्ति में तो उल्लिखित किया था, किन्तु वाग्भट द्वितीय में इस बारे में कोई स्पष्टता नहीं है ।

२. **सौकुमार्य** : कठोरता के अभाव को सौकुमार्य कहते हैं । अकाठिन्यं सौकुमार्यम् ।[९]

उसका उदा. है-'जिनवरगृहे कौन्तेयस्य....इत्यादि', जो वृत्ति में दिया गया है ।

वामन[१०] में शब्दगत सौकुमार्य गुण का स्वरूप ऐसा ही है । उन्होंने बन्धगत अजरठत्व याने कोमलता को सौकुमार्य नाम दिया है जिसका स्वीकार शायद वाग्भट ने अकाठिन्य शब्द से किया है । वामन ने अर्थगुण सौकुमार्य में जो अपारुष्य का विचार किया है वह यहाँ अभिप्रेत नहीं होगा ।

३. **श्लेष** : श्लेष का लक्षण इस प्रकार है-

यत्र पदानि परस्परस्फूर्तानीव, स श्लेषः ।[११] अर्थात्, जहाँ पर परस्पर जुडे हुए-से हों, वह श्लेष है । जैसे कि, 'जयन्ति बाणासुर०. . .' इत्यादि ।

इस गुण का निरूपण वाग्भट प्रथम के अनुरूप है । वाग्भट प्रथम ने कहा है :- श्लेषो यत्र पदानि स्युः स्यूतानीव परस्परम् ।[१२] जहाँ पद भिन्न होने पर भी मानो परस्पर जुडे हुए हों ऐसा प्रतीत होता हो, वह श्लेष है ।

वाग्भट प्रथम के टीकाकार सिंहदेवगणि ने यहाँ जो स्पष्टता की है वह ध्यानार्ह है ।

वे कहते हैं- पृथग्भूतान्यपि पदानि यत्र स्यूतानीवैकश्रेणिप्रोतानीव समस्तानीव परस्परं भवन्ति स श्लेषगुणः ।[१३] अर्थात्, जहाँ पद भिन्न होने पर भी जुडे हुए—से हों, एक श्रेणि में ग्रथित-से हों, मानो कि समास में रखे गए हों ऐसे दीखते हों उसे श्लेष कहते हैं ।

यह बात वामन[१४] के शब्दश्लेष में प्राप्त है ही । उन्होंने बन्धगत मसृणता को श्लेष कहा है, जिसमें अनेक पद एक जैसे दीखते हैं ।

४ **अर्थव्यक्ति** : जहाँ सारल्येन अर्थ प्रतीत होता हो वह अर्थव्यक्ति है ।

यत्र सुखेनार्थप्रतीतिः सार्थव्यक्तिः ।[१५]

जैसे 'बाले तिलकलेखेयं...' इत्यादि ।

वाग्भट का यह लक्षण अतिस्पष्ट है ।

आचार्य भरत[१६] लोकप्रसिद्ध अर्थ के स्पष्ट वर्णन को अर्थव्यक्ति कहते हैं और दण्डी[१७] अर्थ की अनेयता को अर्थव्यक्ति मानते हैं तथा वामन[१८] के अनुसार अर्थ की स्पष्ट एवं तुरन्त प्रतीति होती हो वह अर्थव्यक्ति है । वाग्भट का निरूपण इन सब के अनुरूप ही है ।

५. **समाधि** : अन्य का धर्म अन्यत्र आरोपित किया जाय उसे समाधि कहते हैं ।

अन्यस्य धर्मो यत्रान्यत्रारोप्यते स समाधिः ।[१९] जैसे 'रिपुषु सहजतेजः पुञ्ज०. . .' इत्यादि।

यहाँ आचार्य दण्डी[२०] का अनुसरण दीखता है, किन्तु दण्दी के अनुसार एक का धर्म अन्यत्र आरोपित होने में लोक सीमा का अतिक्रमण न हो यह जरूरी है । वाग्भट में इस बात का कोई निर्देश नहीं है ।

यह गुण साध्यवसाना लक्षणा पर आधारित है इस दृष्टि से वह अतिशयोक्ति अलंकार के बहुत नजदीक है । उन दोनों में अंतर यह है कि अतिशयोक्ति में लोकसीमा का अतिक्रमण होता है परन्तु समाधि में नहीं ।

दण्डी का समाधिगुण अर्थगत है[२१], जब कि भोज ने इसे शब्दगुण समाधि का लक्षण बताया है ।[२२] वाग्भट प्रथम[२३] एवं वाग्भट द्वितीय का निरूपण दण्डी तथा भोज के अनुरूप है फिर भी इस गुण के शब्दगतत्व या अर्थगतत्व के बारे में दोनों ने कोई निर्देश नहीं किया है।

६. **समता** : बन्धगत अविषमता को समता कहते हैं । अविषमबन्धत्वं समता ।[२४]

उसका उदा. है 'मसृमचरणपातं. . .' इत्यादि ।

इस गुण का लक्षण वामन[२५] के अर्थगत समतागुण के अनुरूप ही है । वाग्भट प्रथम[२६] का समतागुण भी इसी स्वरूप का है ।

७ **औदार्य** : बन्धगत विकटता औदार्य है ।
विकटबन्धत्वमौदार्यम् ।[२७]

जैसे कि, 'वाचाला . . .इत्यादि' ।

आचार्य वामन ने शब्दगुण उदारता को विकटत्वरूप माना है और वृत्ति में विकटता को समझाते हुए निर्दिष्ट किया है कि जिसके द्वारा बन्धगत पद मानो नृत्य करते हों तब वर्णों की लीलायमानतारूप विकटता को उदारता कहते हैं ।[२८] भोज[२९]ने भी शब्दगुण औदार्य को इसी रूप में निरूपित किया है ।

८ **माधुर्य** : माधुर्य का लक्षण इस प्रकार दिया गया है- यत्रानन्दममन्दं मनो द्रवति, तन्माधुर्यम् । शृङ्गारशान्तकरुणेषु क्रमेणाधिक्य (क) म् ।[३०]

अर्थात्, जहाँ मन से अतिशय आनन्द द्रवित हो उसे माधुर्य कहते हैं। शृंगार, शान्त एवं करुण में उसका उत्तरोत्तर आधिक्य प्रतीत होता है।

शृंगार, शान्त तथा करुण में जो माधुर्य रहता है उसे उदाहृत करते हुए वाग्भट ने वृत्ति में क्रमशः ये श्लोक दिये हैं।

१. 'प्रियतमावदनेन्दु० . . .' इत्यादि।

२. 'यैः शान्तरागरुचिभिः . . .' इत्यादि।

३. 'गृहिणी सचिवः . . .' इत्यादि।

इससे प्रतीत होता है कि शृंगार से उन्हें मिलन-शृंगार अभिप्रेत होगा, क्योंकि, उन्होंने विप्रलंभशृंगारविषयक उदाहरण अलग से नहीं दिया है।

मम्मट[३१]ने मिलनशृंगार, करुण, विप्रलंभशृंगार तथा शान्त इस क्रम से माधुर्य की अधिकाधिक उत्कृष्टता स्वीकार की है जब कि हेमचन्द्र[३२]ने मिलनशृंगार, शान्त, करुण तथा विप्रलंभशृंगार में माधुर्य का उत्तरोत्तर उत्कर्ष वर्णित किया है।

विविध रसों में माधुर्य की स्थिति का निरूपण वाग्भट ने हेमचन्द्र के अनुसार किया हो ऐसा लगता है परन्तु उन्होंने विप्रलंभशृंगार का निर्देश नहीं किया है।

९. **ओजस्** : वाग्भट के इस गुण का स्वरूप मम्मट-हेमचन्द्र की परम्परा के अनुसार है। उन्होंने ओज को दीप्ति के कारणरूप माना है और उसका सबसे अधिक प्रकर्ष रौद्र रस में स्वीकार किया है। वे कहते हैं :-

दीप्तिहेतुरोजः। वीरबीभत्सरौद्रेषु क्रमेण विशेषतो रम्यम्।[३३]

अर्थात्, दीप्ति के कारणरूप ओजोगुण वीर, बीभत्स तथा रौद्र में क्रमशः उत्तरोत्तर अधिक चमत्कृतिपूर्ण होता है।

मम्मट[३४]-हेमचन्द्र[३५] में प्राप्त इस बात का स्पष्ट स्वीकार वाग्भट में प्रतीत होता है।

वृत्त में ओजोगुण के अधिकाधिक प्रकर्ष के जो उदाहरण प्रस्तुत किये हैं वे इस प्रकार है :—

१. 'शैलोत्तुङ्गतरङ्गवेगगमन०. . .' इत्यादि।

२. 'उत्कृत्योत्कृत्य कृत्तिं . . .' इत्यादि।

३. 'चञ्चद्भुजभ्रमित०. . . .' इत्यादि।

यहाँ क्रमशः वीरगत ओजस्, बीभत्सगत ओजस् एवं रौद्रगत ओजस् का निरूपण है।

१० **प्रसाद** : प्रसाद का लक्षण देते हुए वाग्भट कहते हैं कि, झगित्यर्थार्पणेन

चेतोविकासजनकः सर्वरसरचनात्मकः प्रसादः ।[३६]

अर्थात्, जल्दी से अर्थबोध होने के कारण चित्त का विकास करनेवाला एवं सभी रस तथा रचनाओं में रहनेवाला गुण प्रसाद है ।

यहाँ झगित्यर्थार्पण का जो विचार प्राप्त है वह कुन्तक[३७] के साथ साम्य रखता है जब कि चित्त के विस्तार का जनकरूप एवं सभी रस और रचनाओं में उस की उपस्थिति का स्वीकार आनंदवर्धन[३८] के अनुसार है ।

प्रसादगुण का उदा. वाग्भट ने 'पर्याप्तपुष्पस्तबक०.....'-इत्यादि दिया है ।

इस तरह दस गुणों का स्वरूप स्पष्ट करने के बाद वाग्भट वृत्ति में कहते हैं कि,

इति दण्डिवामनवाग्भटादिप्रणीता दश काव्यगुणाः । वयं तु माधुर्यौजःप्रसादलक्षणाँस्त्रीनेव गुणान्मन्यामहे । शेषास्तेष्वेवान्तर्भवन्ति ।[३९]

अर्थात्, दण्डी, वामन, वाग्भट (प्रथम) इत्यादि द्वारा निरूपित दस गुणों को वाग्भट द्वितीय अपने तरीके से स्वतन्त्ररूप से लक्षण देकर उसका स्वरूप स्पष्ट करते हैं किन्तु स्वयं तो केवल माधुर्य, ओजस्म एवं प्रसाद ये तीन ही गुणों का स्वीकार करते हैं ।

वाग्भट द्वितीय के अनुसार दस गुणों के स्वरूपविषयक जो चर्चा की गई है उससे स्पष्ट होता है कि, वाग्भट का निरूपण सर्वथा पूर्वाचार्यों के अनुरूप ही है । उसमें कान्ति, सौकुमार्य, श्लेष, अर्थव्यक्ति, समाधि, समता एवं औदार्य ये सात गुणों का स्वरूप उन्होंने दण्डी, वामन या वाग्भट प्रथम के उस उस गुण का स्वरूप ध्यान में रखते हुए किया है जब कि स्वयं को अभिमत तीन गुण-माधुर्य, ओजस् एवं प्रसाद के स्वरूपनिरूपण में उन्होंने दण्डी-वामन आदि का अनुसरण न करते हुए आनन्दवर्धन मम्मट हेमचन्द्र आदि द्वारा पुरस्कृत काश्मीरी परम्परा का ही अनुसरण किया है ।

माधुर्यादि तीन ही गुण मानने का आशय यह है कि, अन्य गुण इसी तीन गुणों में अंतर्भूत हो जाते हैं । वृत्ति में वाग्भट कहते हैं कि माधुर्य में कान्ति तथा सौकुमार्य, ओज में श्लेष, समाधि एवं उदारता तथा प्रसाद में अर्थव्यक्ति एवं समता गुण का अंतर्भाव हो जाता है ।

इसके समर्थन में वे नीचे की पङ्क्तियाँ उद्धृत करते हैं-

यदाह–'माधुर्यौजः प्रसादाख्यास्त्रयस्ते न पुनर्दश ।

केचिदन्तर्भवन्त्येषु दोषत्यागात्परे श्रिताः ॥

अन्ये भजन्ति दोषत्वं कुत्रचिन्न ततो दश ॥'[४०]

यह उद्धरण मम्मट के 'काव्यप्रकाश' से है । यहाँ पूर्वाचार्यों के दस गुणों में से कुछ गुणों का अंतर्भाव माधुर्यादि गुणों में होता हुआ बताया है तो कुछ को दोषाभावरूप माना है और कुछ गुणों को तो दोषरूप भी माना है अतः मम्मट को दस गुण स्वीकार्य नहीं है ।

वाग्भट द्वितीय ने मम्मट का नामनिर्देश तो नहीं किया है फिर भी यह सुस्पष्ट है कि उन्होंने गुणविचार में मम्मट द्वारा स्वीकृत ध्वनिवादी विचारसरणि का ही अनुमोदन किया है।

गुणविचार के उपलक्ष्य में ही वाग्भट द्वितीय ने रीतिविचार दिया है और गुणों के प्रयोजक वर्ण कौन से हैं यह निर्दिष्ट किया है। तदनुसार, वैदर्भीरीति को उन्होंने माधुर्यगुणयुक्त कहा है। उसमें मुख्यतया कोमल बन्ध, समास का अभाव, ट वर्गरहित अन्य वर्गों के वर्ण, उनके पाँचवें वर्ण सहित प्रयुक्त होते हैं। यहाँ ह्रस्व वर्ण के साथ आते 'र' एवं 'ण' वर्ण भी प्रयोगार्ह माने गये हैं।[४१]

इसी तरह ओजोगुणयुक्त रीति को गौडीया कहते हैं। वे कहते हैं कि, उस रीति में उग्रता, समास की दीर्घता, संयुक्त वर्ण, अपने अपने वर्ग के प्रथम और तृतीय वर्ण के साथ आये हुए द्वितीय और चतुर्थ वर्ण तथा 'र'कार का प्रयोग करना चाहिए।[४२]

तत्पश्चात् पांचाली रीति को उन्होंने प्रसादगुणयुक्त माना है और उसमें बंध की सुश्लिष्टता तथा प्रसिद्ध पदों का प्रयोग किया जाता है।[४३]

आचार्य हेमचन्द्र[४४]ने गुणव्यंजक वर्णों के निरूपण द्वारा वृत्तियों और रीतियों का निरूपण गतार्थ माना है यही बात प्रकारान्तर से वाग्भट में भी सिद्ध होती हुई दृष्टिगोचर होती है। हेमचन्द्र ने गुणव्यंजक वर्णों से गतार्थ रीतितत्त्व का निर्देश भी जरूरी नहीं माना है, जब कि, वाग्भट वैदर्भी आदि रीतियाँ का निर्देश तो करते हैं किन्तु उसका निरूपण उन्होंने गुणों के व्यंजक वर्ण के संदर्भ में ही किया है।

अन्त में वृत्ति में उन्होंने कहा है कि, किसीने तो इस वैदर्भी आदि को ही अनुक्रम से उपनागरिका परुषा एवं कोमला यह तीन वृत्तियाँ कहा है।[४५] यहाँ स्पष्टतः मम्मट का निर्देश अभिप्रेत है। वाग्भट ने यहाँ नामनिर्देश किये बिना ही मम्मट[४६] में से उद्धरण दिया है।

यह समग्र निरूपण परंपराप्राप्त ही है, फिर भी दस काव्यगुणों का स्वीकार, माधुर्यादि तीन गुणों के अपने अभिमत लक्षण तथा रीतियाँ को स्वतंत्र महत्त्व न देते हुए भी उसका निरूपण इन सब बातों से यह प्रतीत होता है कि, वाग्भट में एक ओर दण्डी आदि पूर्वाचार्यों में प्राप्त बातों के प्रति आदर है तो दूसरी ओर ध्वनिवादी परंपरा का दृढ़ अनुसरण भी है।

पादटीप :-

१. का० शा० (वाग्भट द्वितीय)-अध्याय-१, पृ० १४।

२. का० प्र० (मम्मट) १.४. A, पृ० १३. तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलङ्कृती पुनः क्वापि।

३. का. शा. (हेमचन्द्र)-१.११, पृ० ३३- अदोषौ सगुणौ सालङ्कारौ च शब्दार्थौ काव्यम्।

४. का० शा० (वाग्भट द्वितीय) अध्याय-२, पृ० २९।

५. का० शा० (वाग्भट द्वितीय) अध्याय-२, पृ० २९।

६. का० सू० वृ० (वामन)- ३. १. २५ एवं उस पर वृत्ति औज्ज्वल्यं कान्तिः। बन्धस्यौज्ज्वलत्वं नाम यदसौ कान्तिरिति. . . . ।

७. स० कं० (भोज) १.६९ B.
यदुज्ज्वलत्वं बन्धस्य काव्ये सा कान्तिरुच्यते ।

८. वा० लं० (वाग्भट प्रथम) ३.५ B.
यदुज्ज्वलत्वं तस्यैव सा कान्तिरुदिता यथा ।

९. का० शा० (वाग्भट द्वितीय) अध्याय-२, पृ० ३० ।

१०. का० सू० वृ० (वामन) ३.१.२२ एवं उस पर वृत्ति अजरठत्वं सौकुमार्यम् ।
बन्धस्याजरठत्वमपारुष्यं यत्तत्सौकुमार्यम् ।

११. का० शा० (वाग्भट द्वितीय) अध्याय-२, पृ० ३० ।

१२. वा० लं० (वाग्भट प्रथम)-३.१२ A.

१३. वा० लं० (वाग्भट प्रथम) ३.१२ऐ उपर सिंहदेवगणि की टीका, पृ० ३६ ।

१४. का० सू० वृ० (वामन) ३.१.११ एवं उस पर वृत्ति मसृणत्वं श्लेषः ।
मसृणत्वं नाम यस्मिन्सति बहून्यपि पदान्येकवद् भासन्ते ।

१५. का० शा० (वाग्भट द्वितीय) अध्यायय-२, पृ० ३० ।

१६. ना० शा (भरतमुनि) १६१०८
सुप्रसिद्धाभिधाना तु लोककर्मव्यवस्थिता ।
या क्रिया क्रियते काव्ये सार्थव्यक्तिः प्रकीर्त्यते ॥

१७. का० द० (दण्डी)-१.७३ A-
अर्थव्यक्तिरनेयत्वमर्थस्य ....।

१८. का० सू० वृ० (वामन) ३.१.२४ एवं उस पर वृत्ति
अर्थव्यक्तिहेतुत्वमर्थव्यक्तिः ।
यत्र झटित्यर्थप्रतिपत्तिहेतुत्वं स गुणोऽर्थव्यक्तिरिति ।

१९. का० शा० (वाग्भट द्वितीय) अध्याय-२, पृ० ३० ।

२०. का० द० (दण्डी). १. ९३-
अन्यधर्मस्ततोऽन्यत्र लोकसीमानुरोधिना ।
सम्यगाधीयते यत्र स समाधिः स्मृतो यथा ॥

२१. का० द० (दण्डी) १.९३ उपर 'प्रभा' टीका, पृ० ९८ अयमर्थगुणः अर्थे अर्थान्तरारोपात् ।

२२. स० कं० (भोज)- १.७२ B-
समाधिः सोऽन्यधर्माणां यदन्यत्राधिरोपणम् ।

२३. वा० लं० (वाग्भट प्रथम) ३. ११ A
स समाधिर्यदन्यस्य गुणोऽन्यत्र निवेश्यते ।

२४. का० शा० (वाग्भट द्वितीय) अध्याय-२, पृ० ३० ।

२५. का० सू० वृ० (वामन) ३.१.१२ ।
मार्गाभेदः समता ।

२६. वा० लं० (वाग्भट प्रथम) ३.५. A
बन्धस्य यदवैषम्यं समता सोच्यते बुधैः ।

२७. का० शा० (वाग्भट द्वितीय) अध्याय-२, पृ० ३० ।

२८. का० सू० वृ० (वामन)- ३.१.२३ एवं उस पर वृत्ति—विकटत्वमुदारता ।
बन्धस्य विकटत्वं यदसावुदारता । यस्मिन्सति नृत्यन्तीव पदानीति जनस्य वर्णभावना भवति तद्विकटत्वम् । लीलायमानत्वमित्यर्थः ।

२९. स० कं० (भोज)-१.७० A
विकटाक्षरबन्धत्वमार्यैरौदार्यमुच्यते ।

३०. का० शा० (वाग्भट द्वितीय) अध्याय-२, पृ. ३० ।

३१. का० प्र० (मम्मट) ८.६९ A
करुणे विप्रलम्भे तच्छान्ते चातिशयान्वितम् ।

३२. का० शा० (हेमचन्द्र) ४. २. ३ ।-
द्रुतिहेतु माधुर्यं शृङ्गारे ।
शान्तकरुणविप्रलम्भेषु सातिशयम् ।

३३. का० शा० (वाग्भट द्वितीय)- अध्याय-२, पृ० ३० ।

३४. का० प्र० (मम्मट)-८.६९ B, ८.७० A-
दीप्त्यात्मविस्तृतेर्हेतुरोजो वीररसस्थिति ॥
बीभत्सरौद्ररसयोस्तस्याधिक्यं क्रमेण च ।

३५. का० शा० (हेमचन्द्र)- ८.५ ।
दीप्तिहेतुरोजो वीरभीभत्सरौद्रेषु क्रमेणाधिकम् ।

३६. का० शा० (वाग्भट द्वितीय) अध्याय-२, पृ० ३१ ।

३७. व० जी० (कुन्तक) १.३१ ।
अक्लेशव्यञ्जिताकूतं झगित्यर्थसमर्पणम् ।
रसवक्रोक्तिविषयं यत् प्रसादः स कथ्यते ॥

३८. ध्वन्या० (आनंदवर्धन)-२-१० ।
समर्पकत्वं काव्यस्य यत्तु सर्वरसान् प्रति ।
स प्रसादो गुणो ज्ञेयः सर्वसाधारणक्रियः ॥

३९. का० शा० (वाग्भट द्वितीय) अध्याय २, पृ० ३१ ।

४०. का० शा० पृ० ३१ उपर 'अलंकारतिलकवृत्ति'.

४१. का० शा० (वाग्भट द्वितीय) अध्याय-२, पृ० ३१ ।
माधुर्यगुणोपयुक्ता वैदर्भी रीतिः । अस्यां च प्रायेण कोमलो बन्धोऽसमासः, टवर्गरहिता निजपञ्चमाक्रान्ता वर्गाः, रणौ ह्रस्वान्तरतौ च प्रयोज्यौ ।

४२. का० शा० (वाग्भट द्वितीय) अध्याय-२, पृ० ३१ ।
ओजोगुणयुक्ता गौडीया रीतिः । अस्यां च बन्धौद्धत्यं समासदैर्घ्यं संयुक्तवर्णत्वं प्रथमतृतीयाक्रान्तौ द्वितीयचतुर्थौ युक्तौ रेफश्च कार्यः ।

४३. का० शा० (वाग्भट द्वितीय) अध्याय-२, पृ० ३१ ।
प्रसादगुणयुक्ता पाञ्चाली । अत्र सुश्लिष्टो बन्धः प्रसिद्धानि च पदानि ।

४४. का० शा० (हेमचन्द्र) ४.४ उपर 'विवेक', पृ० २९० ।
माधुर्यौजः प्रसादव्यञ्जकेषु च वर्णादिष्वभिहितेषु वृत्तयो रीतयश्चाभिहिता एव । तद्व्यतिरिक्तस्वरूपत्वात्तासाम् ।

४५. का० शा० (वाग्भट द्वितीय) अध्याय-२, पृ० ३२ ।

संदर्भसाहित्य :

१. नाट्यशास्त्र- (ना० शा०)-भरतमुनिविरचित,
संपा० डॉ० तपस्वी नान्दी,
प्रका० सरस्वती पुस्तक भंडार, अहमदाबाद, प्रथमावृत्ति, १९९५ ।

२. काव्यादर्श-(का० द०) दण्डीविरचित
संपा० श्री रंगाचार्य रेड्डी शास्त्री
प्रका० प्राच्यविद्यासंशोधनमंदिर, पूना, द्वितीय आवृत्ति, १९७० ।

३. काव्यालंकारसूत्रवृत्ति- (का० सू० वृ०) वामनविरचित
संपा० डॉ० बेचन झा
प्रका० चौखम्भा संस्कृत संस्थान, वाराणसी, द्वितीय संस्करण, १९७६ ।

४. ध्वन्यालोक-(ध्वन्या०) आनंदवर्धनरचित
संपा० डॉ० तपस्वी नान्दी
प्रका० सरस्वती पुस्तक भंडार, अहमदाबाद, प्रथम आवृत्ति, १९९७-९८ ।

५. वक्रोक्तिजीवित-(व० जी०) कुन्तकरचित
संपा० डॉ० नगेन्द्र
प्रका० आत्माराम एण्ड संस, दिल्ली, १९५५ ।

६. सरस्वतीकंठाभरण-(स० कं०) भोजविरचित
संपा० श्री केदारनाथ शर्मा एवं श्री वासुदेव लक्ष्मण पणशीकर
प्रका० काव्यमाला-९८, १९२४ ।

७. काव्यप्रकाश-(का० प्र०) मम्मटविरचित
संपा० श्री वामनाचार्य झळकीकर
प्रका० भांडारकर ओरिएण्टल रिसर्च इन्स्टिट्यूट, पूना, सप्तम आवृत्ति, १९६५ ।

८. काव्यानुशासन-(का० शा०) हेमचन्द्ररचित
संपा० श्री रसिकलाल परीख
प्रका० महावीर जैन विद्यालय, मुम्बई, प्रथमावृत्ति, १९३८ ।

९. वाग्भटालंकार-(वा० लं०) वाग्भट प्रथमरचित
संपा० डॉ० सत्यव्रतसिंह
प्रका० चौखम्बाविद्याभवन, वाराणसी, १९५७ ।

१०. काव्यानुशासन-(का० शा०) वाग्भट द्वितीयरचित
संपा० पंडित शिवदत्त एवं काशीनाथ पांडुरंग परब
प्रका० निर्णयसागर प्रेस, बोम्बे, द्वितीयावृत्ति १९९५ ।

□ □ □

श्री वादिराजसूरिकृत पार्श्वनाथ चरित का साहित्यिक मूल्यांकन

निरंजना वोरा

भगवान् पार्श्वनाथ स्वामी २३वें तीर्थंकर हैं । उनका समग्र जीवन ही समता और करुणा का मूर्तिमंत रूप था । अपने प्रति किये गये अत्याचार और निर्मम व्यवहार को विस्मृत कर अपने साथ वैमनस्य का तीव्र भाव रखने वालों के प्रति भी सहृदयता, सद्भावना और मंगल का भाव रखने के आदर्श का अनुपम चित्र भगवान् का चरित प्रस्तुत करता है ।

भगवान् पार्श्वनाथ के विषय में संस्कृत-प्राकृत भाषा में अनेक चरित्रकाव्य और अन्य साहित्य की रचना हुई है । संस्कृत भाषा में कवि वादिराजकृत सर्गबद्ध काव्य 'पार्श्वनाथ चरित' इस विषय में एक महत्त्वपूर्ण कृति है । वीतराग सर्वज्ञ धर्मचक्री श्री पार्श्वनाथ के अनुपम चरित्र का, उनके पूर्वगणों के साथ कवि ने आलंकारिक भाषा में चरित्र-चित्रण किया है ।

कवि और रचना समय :

'पार्श्वनाथचरित' काव्य के अंत में ग्रंथप्रशस्ति में कवि ने अपनी आचार्य परंपरा और रचना समय के बारे में उल्लेख किया है :

शकाब्दे नगवार्धिरंध्रगणने संवत्सरे क्रोधने
मासे कार्तिकनाम्नि बुद्धिमहिते शुद्धे तृतीयादिने ।
सिंहे पाति जयादिके वसुमती जैनीकथेयं मया
निष्पत्तिं गमिता सती भवतु वः कल्याणनिष्पत्तये ।।

शक संवत् १४७ क्रोधन संवत्सरकी कार्ति की सुदी तृतीया दिन जबकि जयसिंह नामका राजा पृथ्वी का शासन करता था उस समय उक्त वादिराजसूरि ने यह भगवान् जिनेन्द्र का चरित्र पूर्ण किया था । वह आप लोगों को कल्याण प्रदान करें ।।

इस काव्य के रचयिता वादिराजसूरि द्रविडसंघ के अन्तर्गत नन्दिसंघ (गच्छ) और असंगल अन्वय (शाखा) के आचार्य थे । इनकी उपाधियाँ षट्तर्कषण्मुख, स्याद्वादविद्यापति और जगदेकमल्लवादी थीं । ये श्रीपालदेव के प्रशिष्य, मतिसागर के शिष्य और रूपसिद्धि (शाकटायन व्याकरण की टीका) के कर्ता दयापाल मुनि के सतीर्थ या गुरुभाई थे । लगता है वादिराज इनकी एक तरह की पदवी या उपाधि थी, वास्तविक नाम कुछ और रहा होगा पर उपाधि के विशेष प्रचलन से वह नाम ही बन गया । श्रवणवेला से प्राप्त मल्लिषेण प्रशस्ति में वादिराज की बड़ी

ही प्रशंसा की गई है ।

वादिराज का युग जैन साहित्य के वैभव का युग था । उनके समय में सिद्धान्तचक्रवर्ती नेमिचन्द्र, इन्द्रनन्दि, कनकनन्दि, अभयनन्दि तथा चन्द्रप्रभचरित काव्य के रचयिता वीरनन्दि, कर्नाटकदेशीय कवि रन्न, अभिनवपम्प एवं नयसेन आदि हुए थे । गद्यचिन्तामणि और क्षत्रचूडामणि के रचयिता ओडयदेव वादीभसिंह और उनके गुरु पुष्पसेन, गंगराज राचमल्ल के गुरु विजयभट्टारक तथा मल्लिषेणप्रशस्ति के रचयिता महाकावि मल्लिषेण और रूपसिद्धि के कर्ता दयापाल मुनि इनके समकालीन थे ।

विषयवस्तु :

काव्य के आरंभ में कवि भगवान् पार्श्वनाथ को नमस्कार करते है :—

श्री वधूनवसंभोगभव्यानंदैकहेतवे ।
नमः श्रीपार्श्वनाथ दानवेंद्रार्चिताङ्घ्रये ।।

यज्ञेंद्र द्वारा पूजनीय चरम कमल वाले, और मोक्ष लक्ष्मीरूपी वधू के नवीन संभोग से उत्पन्न हुये अपूर्व आनंद को भव्यों के लिये प्रदान करने वाले जो श्री पार्श्वनाथ जिनेन्द्र हैं, उन्हें हमारा बार-बार नमस्कार है ।

बाद में कवि ने श्री पार्श्वनाथ के पूर्व भवों का क्रमशः आलंकारिक शैली में वर्णन किया है, और अंतिम सर्गों में भगवान् पार्श्वनाथ के जन्म-बोधि आदि कल्याणकों का भी विशद निरूपण किया है ।

इस काव्य में २३वें तीर्थंकर पार्श्वनाथ के जीवन का काव्यात्मक शैली में वर्णन किया गया है । काव्य १२ सर्गों में विभक्त है । प्रत्येक सर्ग का नाम वर्ण्यवस्तु के आधार पर दिया गया है । पहले सर्ग का नाम अरविन्दमहाराजसंग्रामविजय, दूसरे का नाम स्वयंप्रभागमन, तीसरे का नाम वज्रघोषस्वर्गगमन, चतुर्थ का नाम वज्रनाभचक्रवर्तिप्रादुर्भाव, पाँचवे सर्ग का नाम वज्रनाभचक्रवर्ती चक्रप्रादुर्भाव, छठें का वज्रनाभचक्रवर्तिप्रबोध, सातवें का वज्रनाभचक्रवर्तिदिग्विजय, आठवें का आनन्दराज्याभिनन्दन, नवम का दिग्देवीपरिचरण, दशम का कुमारचरित, ग्याहरवें का केवलज्ञानप्रादुर्भाव और बारहवें का भगवन्निर्वाणगमन है ।

सर्ग के नाम के अनुसार आरंभ के सर्गों में भगवान् पार्श्वनाथ के पूर्वभव का विशद निरूपण किया गया है । अंतिम तीन सर्गों में भगवान् पार्श्वनाथ की बाल्यावस्था और किशोरावस्था, केवलज्ञान की प्राप्ति और निर्वाणगमन का आलेखन है ।

कवि ने पार्श्वनाथ स्वामी के पूर्वभवों का विस्तार से परिचय काव्य के आरंभ में दिया है । सुरम्य देश के महाराजा, उनके मंत्री विश्वभूति का वैराग्य और पुत्र मरुभूति का मंत्री बनना-आदि घटनाओं का आलेखन है । पार्श्वनाथ स्वामी अपने पूर्वभव में मरुभूति थे । उसके पश्चात् क्रमशः वज्रघोष हस्ति रश्मिवेश, वज्रनाभि, और वज्रबाहु के पुत्र आनंद के रूप में उनका जन्म

होता है । आनंद के रूप में जन्म धारण करके तीव्र वैराग्य और तप से तीर्थंकर फल बांधकर अंत में विश्वसेन राजा की रानी ब्रह्मदत्ता के पुत्र के रूप में अवतार धारण करते हैं ।

कवि ने प्रथम, द्वितीय और तृतीय सर्ग में क्रमशः मरुभूमि और वज्रघोष हस्ति के पूर्वभवों की नानाविध घटनाओं का विस्तार से वर्णन किया है । यहाँ सुरम्य देश, पोदनपुरनगर, अरविंदराजा—मरुभूति और राजा का स्नेह और विश्वासमय संबंध, कमठ के अत्याचार, मरुभूति का बन्धुप्रेम, अरविंद राजा का स्वयंभूमुनि से दीक्षा लेना, मरुभूति का वज्रघोष हस्ति के रूप में जन्म और अरविंदमुनि से उपदेश प्राप्त कर व्रतों का पालन करना और कृकवाकु से काटने से स्वर्ग में जाना—स्वर्ग में उसकी स्थिति—आदि प्रसंगों का सुचारु ढंग से परिचय दिया गया है ।

चतुर्थ से नवम सर्ग तक श्री पार्श्वनाथ स्वामी के रश्मिवेग, वज्रनाभि और आनंद के रूप में व्यतीत किये गये पूर्वभवों का आकर्षक शैली में आलेखन है, चौथे सर्ग के आरंभ में ही सुमेरु पर्वत और जंबूद्वीप के विदेहक्षेत्र के विजयार्ध की मनोहर पार्श्व भूमि में विद्युद्वेग और विद्युन्माला के पुत्र रश्मिवेग का राग, क्रोध, मान, माया और लोभ से विमुक्त तथा ज्ञान से युक्त चरित्र का निरूपण किया गया है । रश्मिवेग मुनिव्रत धारण करते हैं और पूर्वभव के वेरी कमठ, जिसने अजगर का देह धारण किया था—वह उसे निगल जाता है । स्वर्गगमन के बाद वे अश्वपुर के राजा वज्रकीर्ति के पुत्र वज्रनाभि के रूप में उत्पन्न होते हैं । वज्रनाभि के लिये चक्ररत्न का प्रादुर्भाव, दिग्विजय करके चक्रवर्ती राजा बनना, चक्रवर्ती का ऐश्वर्य और बाद में वज्रनाभि का वैराग्य इन सब घटनाओं के साथ षड्ऋतुओं, युद्ध, नगर, वन-उपवन, जलाशय, स्त्री-पुरुषों का कामयोग आदि का आलंकारिक शैली में सुंदर वर्णन प्रस्तुत किया गया है ।

इसके बाद अयोध्या में वज्रबाहु के आनंद नामक पुत्र के रूप में उत्पन्न हो कर मरुभूति का जीव, जिनयज्ञ और तपस्या द्वारा तीर्थंकर के सर्व गुणों से युक्त बनता है । कवि ने यहाँ जैन धर्म जिनेन्द्र की बड़ी प्रशस्ति और स्तुति की है ।

दस-ग्यारह और बारहवें सर्ग में पार्श्वनाथ स्वामी का गर्भ में आना, उनका जन्मकल्याणक, इन्द्रादि देवों द्वारा मेरु पर्वत पर भगवान् का अभिषेक और पूजा, बाल्यकाल, भगवान् का पंचाग्नितप को कुत्तप सिद्ध करने के लिये जाना, लकड़ी में से जलते नाग युगल को बाहर निकालना और पंच नमस्कार मंत्र द्वारा उनको मुक्त करना—तपस्वी का असुर होना, विवाह के लिये पिता का आग्रह, पार्श्वनाथ स्वामी द्वारा वैराग्य के लिए इच्छा प्रगट करना, लौकांतिक देवों का प्रतिबोध देना, भगवान् का तपकल्याणक और पारणा, असुर के रूप में कामठ के जीव का भगवान् को उपसर्ग करना, पद्मावती के साथ धरणेन्द्र का आगमन और भगवान् की सेवा करना, भगवान् का ज्ञानकल्याणक, असुर का नम्र होना, समवसरण की रचना, भगवान् की स्तुति, भगवान् का धर्मोपदेश, भगवान् का विहार, मोक्षकल्याणक, इन्द्र द्वारा स्तुति और अंत में ग्रंथकर्ता की प्रशस्ति के साथ यह काव्यकृति समाप्त होती है ।

काव्य प्रकार :

श्री पार्श्वनाथ चरित कृति में महाकाव्य के अनेक लक्षण प्राप्त होते हैं। उसके नामाभिधान की दृष्टि से यह चरित्र काव्य ही है। जैन तीर्थंकर श्री पार्श्वनाथ का—पूर्वभवों के सहित—चरित्र अंकित होने से चरित्र—महाकाव्य है, ऐसा विद्वानों का भी अभिप्राय है। काव्य सर्गबद्ध है, और बारह सर्गों में विभक्त है। महाकाव्य के लक्षणों के अनुसार ग्रंथ का आरंभ भी भगवान् पार्श्वनाथ की स्तुति से होता है। वादिराजसूरि ने इस कृति को पार्श्वनाथ जिनेश्वर चरित महाकाव्य कहा है। अनेक अलंकारों से युक्त शैली में नगर, युद्ध, स्त्री, वन-उपवन, प्रकृति, शीतकाल, ग्रीष्मकाल, वर्षाकाल आदि के चित्रात्मक वर्णन यहाँ मिलते हैं। उपमा-उपमेय और उपमान अथवा विरोधी सादृश्यमूलक अलंकारों—दृष्टांतों के आयोजन में कवि की कुशलता निःशंक प्रशंसनीय है। काव्य के आरंभ के बाद २, ३ और ४ श्लोकों में श्री पार्श्वनाथ की प्रशस्ति करते हुए वे कहते हैं :

हिंसादोषक्षयातेत पुष्पवर्षश्रियं दधुः
अग्निवर्षो रुषा यस्य पूर्वदेवेन निर्मितः ।
तपसा सहसा निन्ये हृद्यकुंकुमपंकताम् ।
गुरवोऽपि त्रिलोकस्य गुरोर्द्रोहादिवाद्रयः
लाघवं तूलवद् यस्य दानवप्रेरिता ययुः ॥

कुपित हुये कमठ के जीव असुर ने पूर्व भव के वैर के कारण जो बाण छोड़े थे वे जिनके चरणों का आश्रय पाते ही मानो हिंसा से उत्पन्न हुये दोषों को नष्ट करने के लिये ही पुष्पमाला हो गये, जो अग्नि वर्षा की थी वह तप के प्रभाव से सहसा मनोहारी कुमकुम का लेप हो गया, बड़े भारी जो पत्थर फेंके थे वे तीन लोक के गुरु भगवान् के द्रोही हो जाने के भय से ही मानो रुई के समान हल के और कोमल हो गये। भावार्थ अपने वैरी द्वारा उपर छोड़े गये बाणों को जिन्होंने फूलों की माला के समान प्रिय समझा, आग की वर्षा को केसर का लेप मान स्वागत किया और वर्षाये गये पत्थरों रुई के समान कोमल एवं हलका मान कर कुछ भी परवाह नहीं की।

बाद में कवि ने गृद्धपिच्छ मुनिमहाराज रत्नकरण्डक के रचयिता स्वामी समंतभद्र, नैयायिकों के अधीश्वर अफलकदेव, अनेकांत का प्रतिपादन करनेवाले सिंह आचार्य, सन्मति प्रकरण के रचयिता सन्मति, मुनिराज, तिरसठ शलाका पुरुषों का चरित्र लिखने वाले श्री जिनसेनस्वामी, जीवसिद्धि के रचयिता अनंतकीर्ति मुनि, महातेजस्वी वैयाकरण श्री पालेयकीर्ति मुनि कवि धनंजय, तर्कशास्त्र के ज्ञाता अनंतवीर्य मुनि, श्लोकवार्तिकालंकार के रचयिता श्री विद्यानंद स्वामी चंद्रप्रभचरित के कर्ता वीरनंदिस्वामी आदि विद्वद्जनों का बड़े आदर से और अहोभाव से स्मरण किया है। इसके बाद अनेक अलंकारों से युक्त शैली में नगर, युद्ध, स्त्री, वन-उपवन-प्रकृति, शीतकाल, ग्रीष्मकाल, वर्षाकाल आदि के चित्रात्मक वर्णनों के साथ श्री पार्श्वनाथ स्वामी के चरित्र का निरूपण किया है।

महाकाव्योचित लक्षण :

कृति के प्रत्येक सर्ग के अंत में कवि ने "श्री पार्श्वनाथ जिनेश्वरचरिते महाकाव्ये... नाम...सर्ग..." इस तरह उल्लेख करके श्री पार्श्वनाथ चरित्र को महाकाव्य कहा है ।

भामह, दंडी, विश्वनाथ, रुद्रट, हेमचंद्राचार्य आदि विद्वानों ने अलग अलग तरीके से महाकाव्य की विभावना और स्वरूप प्रस्तुत किया है । अनेक कवियों के प्रयोगों और अनेक आचार्यों के मत-मतान्तरों तथा सिद्धान्त निरूपण के फलस्वरूप संस्कृत महाकाव्य का रूप उत्तरोत्तर विकसित होता गया और वह नये प्रभावों का ग्रहण करता गया । इस समय 'संस्कृत महाकाव्य' कहने से उसके वर्ण्य-विषय और प्रबन्धात्मक रूप-विधान का जो चित्र सामने आता है उसका वर्णन कुछ इस प्रकार किया जा सकता है । महाकाव्य सर्गबद्ध होना चाहिए और उसका कथानक न बहुत लम्बा और न बहुत छोटा होना चाहिए । कथानक नाटक की संधियों की योजना के अनुसार इस प्रकार संयमित हो कि वह समन्वित प्रभाव उत्पन्न कर सके । उसमें एक प्रधान घटना आद्योपान्त प्रवाहित होती रहे जिसके चारों ओर से अन्य उपप्रधान घटनाएँ आकर उसमें पर्यवसित होती रहें । कथानक उत्पाद्य-अनुत्पाद्य और मिश्र तीनों प्रकार का हो सकता है।

महाकाव्य का नायक धीरोदत्त सद्वंशोत्पन्न हो । यह क्षत्रिय या देवता हो तो अधिक अच्छा होगा । नायक का प्रतिनायक भी बल-गुण-सम्पन्न होना चाहिए; तभी तो उसे पराजय देने में नायक की महत्ता है । अन्य अनेक पात्रों का होना भी जरूरी है । नायिकाओं की चर्चा शास्त्रकारों ने महाकाव्य के लक्षण गिनाने में नहीं की है पर कोई महाकाव्य ऐसा नहीं है जिसमें नायिका की महत्त्वपूर्ण भूमिका न हो ।

महाकाव्य में कथानक के इर्द-गिर्द अनेकानेक वस्तु-व्यापारों का वर्णन नितान्त आवश्यक है । लक्षणाकारों ने इनकी पूरी सूचि गिना दी है । संस्कृत के अलंकृत महाकाव्य का प्रधान लक्षण है कि उसमें घटना-प्रवाह चाहे क्षीण हो पर अलंकृत वर्णनों की प्रधानता होगी ।

नाटक के समान संस्कृत के महाकाव्यों में भी भाव-व्यंजना प्रधान तत्त्व है । भावों को परिपक्व बनाकर रस की योजना अवश्य करनी होती है । रस की उत्पत्ति पात्रों और परिस्थितियों के सम्पर्क, संघर्ष और क्रिया-प्रतिक्रिया से दिखाई जाती है । श्रृंगार, वीर और शांत रसों में से कोई एक रस प्रधान होता है । अन्य सभी रस स्थान-स्थान पर गौण रूप में प्रकट होते रहते हैं ।

मानवीय घटनाओं और व्यापारों के अतिरिक्त महाकाव्य में अमानवीय और अलौकिक तत्त्वों का समावेश भी अवश्य कराया जाता है । अतिप्राकृत घटनाओं और क्रियाकलाप का प्रदर्शन कहीं देवताओं के द्वारा कराया जाता है तो कहीं दानवों के द्वारा और कहीं इन दोनों से भिन्न योनि के जीवों द्वारा, जैसे-किन्नर, गन्धर्व, यज्ञ, विद्याधर, अप्सरा आदि ।

महाकाव्य में विविध अलंकारों की योजना होती है, उसकी शैली गरिमापूर्ण और कलात्मक होती है । उसमें विविध छंदों के प्रयोग का विधान होता है और उसकी भाषा उसकी गरिमामयी

उदात्त शैली के अनुरूप तथा ग्राम्य शब्द-प्रयोग दोष से मुक्त होती है ।

संस्कृत महाकाव्य का उद्देश्य धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष इन चारों फलों की प्राप्ति है ।

श्री पार्श्वनाथ चरित में महाकाव्य के कई लक्षण विद्यमान हैं । वह सर्गबद्ध रचना है, कथावस्तु सर्वाधिक ख्यातिप्राप्त है; काव्यनायक भारतीय संस्कृति के मूलाधाररूप युग पुरुष है, भाषा साहित्यिक, ग्राम्यत्वदोषरहित, पांडित्यपूर्ण, प्रांजल और प्रौढ़ है; जीवन की विविध अवस्थाओं और अनुभूतियों का चित्रण यहाँ प्राप्त है; प्रकृति के अनेक दृश्यों और वस्तु वर्णनों से अलंकृत है; अलंकारों की विशद योजना है और जीवन के चरम उद्देश्य की महान् सिद्धि की उच्च भूमि पर शान्तरस में उसका पर्यवसान होता है । इस तरह महाकाव्य के लक्षणों से संपन्न होने के साथ 'श्री पार्श्वनाथ के अनेक पूर्वभवरूप अवान्तर कथाओं के सहित उनके चरित्र का वर्णन किया गया है ।'

अन्य महाकाव्यों में समानरूप से जो कुछ विशेषताएँ पायी जाती हैं, वे सब श्री पार्श्वनाथचरित में भी हैं । जैसे तीर्थंकरों की स्तुति से काव्य का प्रारंभ होना, पूर्व कवियों और विद्वानों का स्मरण, सज्जन-प्रशंसा, दुर्जन-निन्दा, काव्य-रचना में प्रेरणा और सहायता करनेवालों की स्तुति, विनम्रता-प्रदर्शन, काव्य-विषय के महत्त्व का वर्णन, चरित्र-नायक और उनसे सम्बन्धित व्यक्तियों के विभिन्न भवान्तरों का वर्णन, कथा के आवश्यक अंग के रूप में यहाँ भी प्राप्त होता है । भवान्तर वर्णन का मुख्य कारण जैनों की कर्म-फल प्राप्ति में अचल आस्था है । परिणाम स्वरूप यह काव्य रोमांचक शैली से युक्त होने पर भी वैराग्यमूलक और शान्तरस पर्यवसायी है ।

इन महाकाव्य का उद्देश जैन तीर्थंकर के चरित्र वर्णन से जैनधर्म का प्रचार करने का है तथापि उनमें प्रेम और युद्ध का वर्णन पर्याप्त से अधिक मात्रा में मिलता है । प्राकृतिक वस्तुओं —प्रभात, संध्या, रजनी, चन्द्रमा, नदी, सागर, पर्वत आदि से लेकर स्त्रियों के अंग-प्रत्यंग-मुख, केश, नाक, आँख, अधर, उरोज, बाहु, त्रिवली, उरु, पाद आदि के रसपूर्ण वर्णन में कवि की रुचि प्रगट होती है । अवसर मिलने पर रति क्रीडा वर्णन से भी मुख नहीं मोड़ा है । इसी तरह युद्ध-वर्णन में भी उन्होंने रण-प्रयाण से लेकर उसके समस्त कौशलों का वर्णन आयुधों के नाम गिनाते हुए किया है । अपने धर्म के प्रचार के प्रति अत्यधिक सजग होते हुए भी जैन कवियों ने जीवन की वास्तविकताओं की उपेक्षा नहीं की है । चरित्रनायक के जीवन के आलेखन में परिवर्तन करना संभव नहीं था, इसलिये शायद अपनी कल्पनाओं से प्रचुर वर्णन करके अपनी कवित्वशक्ति का परिचय दिया है । प्रेम और युद्ध के वर्णन में कल्पनाचित्र और अतिशयोक्तिपूर्ण आलेखन भी मिलते हैं ।

कवि ने धार्मिक और साहित्यिक आदर्शों की पृष्ठभूमि की सीमाओं में रहकर, अपने पात्रों और चरित्रनायक की परंपरागत विशेषताओं को चित्रित करने में काफ़ी सफलता पायी है । वाग्विदग्धता और मार्मिक आलेखन से पात्रों का निरूपण हृदयग्राही और प्रभावक बना है । जैसे एक चित्रकार दो-तीन बार के तुलिका-संचालन से एक सजीव चित्र प्रस्तुत करता है, इसी तरह

कवि के चरित्रांकन से चरित्र का एक हूबहू चित्र उभरता है। अपनी उर्वर कल्पना के सहारे कवि ऐसी उपमाओं या उत्प्रेक्षाओं की सहायता लेते हैं कि पात्र सजीव हो उठते हैं—मानों चक्षु-गोचर ही लगते हैं।

चरित्रों के ऐसे रूपांकन में कवि की प्रतिभा निखती है। कभी कभी विशिष्ट पात्रों के प्रचलित आदर्शों को पात्र में आरोपित करते हैं। जैसे अश्वपुर के राजा वज्रवीर्य का सर्वगुण संपन्नता इस तरह प्रगट की गई है -

प्रवर्तिते यत्र गुणोदयावहे यागसि मानवेहिता।
नवहिता क्रान्त मदो न वैभवा न वै भवार्ति प्रथयंति जंतवः॥

विशेष वादी विदुषां मनीषितो निरस्य दोषानषित् पुरोत्तमम्।
तदष यं संज्ञदि वज्रवीर्य इन्युदाहरंति श्रुतवर्त्मवदिनः॥ (सर्ग ४-६७, ६८)

...इस प्रकार नाना गुणों से शोभित उस अश्वपुर का स्वामी, विद्वानों में श्रेष्ठ राजा वज्रवीर्य था, जिसने अपने शासनबल से उस पुर के समस्त दोष दूर कर दिये थे। जिस समय गुणों का भंडार, दया का आगार, पुण्यशाली वह राजा राज्य कर रहा था उस समय लोगों की इच्छायें नवीन नवीन अभीष्ट पदार्थों के आ जाने से पूर्ण हो गईं थी। उनका वैभव-प्रवाह बढ़ गया था। इसलिए उसके राज्य में निवास करनेवाले लोगों ने वैभव की पीड़ा कभी भी न सही थी—'धन है और अभीष्ट पदार्थ नहीं मिलते' इस प्रकार का अवसर उन्होंने कभी न पाया था।

पात्र का चरित्र-विकास :

उसके पात्र जो वीर हैं, वे जन्म से ही वीर हैं, जो धार्मिक प्रकृति के हैं, वे जन्म से ही धार्मिक हैं। जो दुष्ट हैं, वे जन्म से ही दुष्ट हैं। उनके चरित्र की रूप रेखा पहले से निर्दिष्ट होती है, उनकी हर क्रियाओं से उनकी वही निश्चित विशेषता ही निखर कर सामने आती है। तब भी आरंभ में मरुभूति और कमठ के पात्रों का चरित्र-विकास अलबत्त निश्चित दिशा में ही प्रतीत होता है। कमठ के पात्र की दुष्टता जन्मांतर में भी उसी रूप से प्रतीत होती है, जब मरुभूति के पात्र में कई चढाव-उतार दीखते हैं। उसके पात्रालेखन में वीरत्व और धार्मिकता के विषय में ह्रास, विकास और वृद्धि के लिये अवकाश दिया गया है। कवि हर पात्र को व्यक्तिगत वैशिष्ट्य से समन्वित करने का प्रयत्न करते हैं। प्राप्त परिस्थिति और घटनाओं में पात्रों की विविध मनोदशाओं का चित्रण भी किया है। जैसे मरुभूमि हाथी का जन्म लेता है तब मुनिवचन के उपदेश सुनने के पहले का उसका रुद्र-रूप, प्रकृति की कठोरता और मुनिवचन सुनने के बाद परिवर्तित स्वभाव की कोमलता का हृदयस्पर्शी निरूपण हुआ है।

वर्णनकला :

कवि ने पात्र, परिस्थिति, प्रकृति आदि का कल्पनामंडित आलेखन किया है।

नारी-सौंदर्य का वर्णन :

प्राचीन महाकाव्यों की तरह यहाँ भी कवि ने नारी-सौंदर्य का वर्णन किया हैं। नारी-सौंदर्य पुरुष के प्रेमोद्रेक का कारण बनता है, जिससे अनेक घटनायें और कार्य-व्यापार प्रसूत होते हैं। प्राय: पारंपरिक उपमानों का ही सौंदर्यवर्णन में उपयोग होता है। प्रत्येक नारी चंद्रमुखी और पीन-पयोधरों वाली है। उसके नेत्र कमलदल जैसे और चाल मत्त गज की भाँति है, स्त्री-अंगों का फुटकर वर्णन करने के अतिरिक्त कवि ने नख-शिख वर्णन भी किया है। वह एक प्रकार से रूढिबद्ध सौंदर्य-वर्णन है। शरीर के अंग-प्रत्यंग का क्रमिक वर्णन परंपरायुक्त सादृश्यमूलक अप्रस्तुतों के माध्यम से किया जाता है। देवांगनाओं द्वारा तीर्थंकर को जन्म देनेवाली विश्वसेन राजा की रानी सगर्भा ब्रह्मदत्ता के सौंदर्य और अंग-प्रत्यंग का वर्णन इस तरह हुआ है-

यत्नमस्यति सतीमिमां वृषात् कियच्च सदृशं मृगीदृश: ।
संहति: स्वयमियं हि तावतामेकशस्तव पदं हि ये गुणा: ॥६८॥

नैशमेव नयनाभिरामया बध्यते नवसुधारुचे रुचा ।
विद्ययेव निरवद्यवृत्तया चेतसं च सुदृशा जगत्तम: ॥६९॥

सुभ्रुवो नु वदनेन बंधुना पद्मसारविजयी निशाकर: ।
संविभागविधिनेव यत्तयो: कांतिसंपदुभयो: प्रवर्तते ॥७०॥

मुख्यसौरभसमीरसंगतस्पंदिताधरसरागपल्लवा ।
निर्मलास्मितसुधानवोद्गमा स्पर्द्धते मधुवनश्रिया वधू: ॥७१॥

नयनों को मनोहर लगनेवाली चंद्रमा की चांदनी से तो केवल रात्रि का ही अंधकार नष्ट होता है परंतु इस महारानी के दर्शन तो जिस प्रकार निर्दोष चारित्र से भूषित विद्या से चित्त और संसार-सब जगह का अंधकार नष्ट हो जाता है उसी प्रकार सब अंधकार नष्ट हो गया ॥६८-६९॥

सुंदर भ्रुकुटीवाली महारानी के मुख के साथ साथ ही चंद्रमाने कमलवन को जीता था इसीलिये मानों इन (चंद्रमा और इस रानी के मुख) की कांतिरूपी सम्पत्ति बराबर है। भावार्थ जिस प्रकार चंद्रमा की कांति है उसी प्रकार इस महारानी के मुख की भी है ॥७०॥

इस रानी के लाल अधर पल्लव, मुख की सुगंधित पवन से काँप रहे हैं। निर्मल मुस्कराहट रूपी सुधा का प्रसव कर रहे हैं इसलिए मधुवन की लक्ष्मी के साथ यह स्पर्द्धा ही मानो कर रही है ऐसा मालूम पड़ता है ॥७१॥

इसके बाद रानी के स्तन, उरुयुगल, नख आदि का वर्णन क्रमश: मिलता है, जो परंपरागत है।

प्रकृति वर्णन :

महाकाव्य में प्रकृतिवर्णन के लिये भी ज़्यादा अवकाश रहता है।

महाकाव्य में प्राकृतिक दृश्यों और वस्तुओं का वर्णन प्रायः आलंबनरूप में, उद्दीपनरूप में, अलंकाररूप में, वस्तुगणना के रूप में और प्रतीक या संकेत के रूप में किया जाता है। इस महाकाव्य में प्रकृति का अधिकतर वर्णन आलंकारिक योजना के अंगरूप में या पूर्वस्थित भाव की उद्दीप्ति के सहायक के रूप में हुआ है।

प्रस्तुत के वर्णन में कवि ने जिन अप्रस्तुतों का सहारा लिया है, उनमें प्राकृतिक उपादानों की मात्रा बहुत अधिक है। मुख, अलक, नयन, नासिक, दंत, अधर, स्तन आदि का वर्णन करते समय कवि परंपरा अनुसार चन्द्रमा, कमल, सूर्य, भ्रमर, नाग, मृग, मीन, बिम्बाफल, पल्लव, वेल आदि से उपमित करते हैं।

कवि ने व्यक्ति या अंग-विशेष, घटनाविशेष या प्रसंग विशेष को प्रभाव-समन्वित बनाने के लिये प्रकृति के उपमानों से सहायता ली है। कहीं कहीं कवि ने इससे वर्ण्य विषय को चित्रात्मक या तादृश बनाने में सफलता भी मिली है।

प्रकृति-वर्णन में प्राकृतिक पदार्थों के नामों की लम्बी सूचि देने से कवि की बहुज्ञता प्रकट होती है, लेकिन यह कविकर्म की सफलता नहीं है।

कभी कभी प्रकृति-वर्णन उद्दीपन के रूप में और कभी घटनाओं की पृष्ठभूमि के रूप में भी किया है। वसंत और वर्षाऋतु में प्रकृति उद्दीपनविभाव किस तरह बनती है इसका वर्णन प्रायः मिलता है। कभी कभी प्रकृति में मानवीय भावों का आरोपण भी किया गया है, वहाँ प्रकृति सजीव सी हो उठती है।

ऋतु-परिवर्तन के संधिकाल को भी कवि ने चतुराई से आलेखित किया है। शिशिर की विदाइ और वसंत के आगमन के समय का वर्णन बड़ा ही मार्मिक और चतुराईपूर्ण है। (पृ० १७६ श्लोक २७ पृ० १७७ श्लोक ३०)

वसंत, ग्रीष्म आदि ऋतुओं का भी विस्तृत वर्णन यहाँ उपलब्ध है। यहाँ कवि उपमा, रूपक या उत्प्रेक्षा की सहायता से वर्ण्य विषय को प्रभावक बनाने की कोशिश करते हैं। पाँचवें सर्ग में सब ऋतुओं का आलंकारिक वर्णन है। कामदेव के लोकविजय के उत्सवरूप वसंत ऋतु का वर्णन करते हुए कवि कहते हैं—

भुवनैकजयोत्सवाय कंतोरिव भृंगीजनमंगलस्वनौघैः
मधुना विधिनार्पितांकुरश्रीरजनिष्ट द्रुमयष्टिपालिकासु ॥ (सर्ग-५, ४५)

वंसत ऋतु के प्रभाव से जो वृक्षरूपी यष्टिपालिकाओं (ध्वजा दंड को थामने वाली औरतों) पर नाना अंकुर रूपी लक्ष्मी दीखने लगी और भ्रमरीरूपी स्त्रियों के समूह अपने शब्दों से मंगल गीत गाने लगे तो उनसे महाराज कामदेव के लोकविजय का उत्सव सरीखा मालूम होने लगा।

ऋतुओं के अतिरिक्त कवि ने प्रकृति के अन्य स्वरूप जैसे सरोवर, नदी, पहाड़, वन, सागर, सूर्योदय, चंद्रोदय, संध्या, रात्रि आदि का भी वर्णन किया है।

इन सब में अधिकांश वर्णन परिपाटी के अनुसार है, तब भी कहीं कहीं कवि की सूक्ष्म निरीक्षणशक्ति और ऊर्वर कविकल्पना का भी परिचय मिलता है ।

प्रत्येक ऋतुकाल में प्रकृति में सृष्टि में होनेवाले परिवर्तन का वर्णन तो प्रायः मिलता है । लेकिन यहाँ कवि ने प्रकृति के उपरांत मनुष्य प्राणियों और वातावरण का भी अलग-अलग ऋतुओं के आगमन से प्रभावित होने का वर्णन किया है, जो कवि की सूक्ष्म दृष्टि का परिचायक है ।

जैसे शिशिर ऋतु का प्रभाव इस प्रकार वर्णित है -

मणिदीधितिदीपिकाप्रकाशे निशि कालागुरुपिंडधूपगर्भे ।
विनिवेशितहंसतूलशय्यापुलिने गर्भगृहे सहेमभित्तौ ॥४०॥

अवतंसितमालतीसुगंधिबिलसत्कुंकुमपंकादिग्धगात्रः ।
वनीताभुजपंजरोपगूढो युवराजशिशिरं स निर्विवेश ॥४१॥

ऐसे रमणीय समय में मालती की सुगंधि से सुगंधित, कुंकुम की पंक से लिप्त, युवराज वज्रनाभ अपनी प्यारी कंताओं के भुजपंजरों से बद्ध हुये मणिकिरणों के प्रकाश से प्रकाशित, कालागुरु के धूप से धूपित, हेम की भित्तियों से विशिष्ट भीतरे घर में हंस के समान श्वेत रूई की शय्या पर शिशिर ऋतु का आनंद लेने लगे ॥४०-४१॥

जैसे वर्षाऋतु का प्रभाव इस प्रकार वर्णित है —

अभिमानमुदस्य मस्तके कामदिशं न दधौ सवस्तुके का ।
वनितां मुमुचुर्निशम्य के काममपि मेघागमजां मयूरकेकाम् ॥९६॥

उस समय ऐसी कोई स्त्री न थी जो अपने अभिमान को तिलांजलि दे काम की आज्ञा का पालन न करने लगी हो और ऐसा कोई पुरुष न था जो वर्षाऋतु की सूचना देनेवाले मयूरों की हृदयहारिणी वाणी को श्रवण कर अपनी स्त्री के पास न आया हो ।

ऋतु परिवर्तन के संधिकाल को भी चातुरी से आलोकित किया है-

ऋतुना समयेन तेन तीव्रादिव पद्माधिपनंदनप्रभावात् ।
विजहे वलयं दिशामशेषं कृतपद्मालयवैभवक्षयेण ॥४२॥

शिशिरस्तरुषंडविप्लवानां स विधाता क्व नु वर्तते दुरात्मा ।
पटुकोकिलकूजितैर्वसंतो वनमित्याह्वयतीव संप्रविष्टः ॥४३॥

पद्मालयों (सरोवर) के वैभव को नष्ट करने वाले उस शिशिर ऋतु ने ज्योंही पद्माधिपनंदन (वसंत) को आते हुये देखा तो भय से शीघ्र ही समस्त दिशा विदिशाओं को छोड़कर वह भाग गया, और उसके बाद ही "अरे ! वृक्षखंडों को तोडनेवाला वह दुरात्मा हिंसक शिशिर कहाँ गया ?" इस प्रकार के वचनों को कोकिलों के शब्दों से कहते हुये के समान वसंत शीघ्र ही

वन में प्रविष्ट हो गया ।

नगर वर्णन :

इसके अतिरिक्त वस्तु-वर्णन-अर्थात् देश, नगर, क्रीडा, दुर्ग, सेना, युद्ध की तैयारी और युद्ध आदि का चित्रोपम और प्रभावशाली निरूपण कवि ने किया है । कृति के आरंभ में अरविंद राजा के पोदनपुरनगर का वर्णन इस तरह दिया है :—

वेदीरत्नप्रभोत्कीर्णाः प्रासादाः यत्र पांडुराः ।
सेंद्रचापशरमेधविभ्रमं साधु विभ्रते ॥

गृहाग्रोन्नतरत्नानां स्फुरंत्यो रश्मिसूचयः ।
दिवाऽपि यत्र कुर्वंति शंकामुल्कासु पश्यताम् ॥

आस्तीपर्णा विपर्णियत्र क्रय्यमाणिक्यरोचिषा ।
प्राप्ता बालातपेनेव व्योमपाथेयलिप्सया ॥

यत्रेंद्रनीलनिर्माणगृहभित्तीरुपास्थिताः ।
हेमवर्णाः स्त्रियो भांति कालाब्दानिव विद्युतः ॥

भवनोत्तंभिता यत्र पताकाः पीतभासुराः
भावयंत्यधने व्योम्नि क्षणदीधितिविभ्रमम् ॥

हरिंन्मणिमयारंभामुन्मयूखां जिघित्सया ।
दूर्वकरुधिया यत्र वत्सा धावंति देहलीम् ॥ (सर्ग-१, ५८ से ६३)

वेदि गृह के रत्नों की प्रभा से व्याप्त जहाँ के प्रासाद अपनी कांति से इन्द्रधनुष से सहित शरत्कालीन मेघ की शोभा को धारण करते हैं ।

घरों के उन्नत अग्रभाग में लगे हुये रत्नों की चमकती हुई किरणें दिन में भी देखनेवालों को अपने में बिजली की शंका कराती हैं ।

विक्री के लिये रक्खे हुये माणिक्यों की लाल लाल किरणों से व्याप्त वहाँ का जौहरी बाजार ऐसा मालूम पड़ता है मानों आकाश-मार्ग में गमन करने से पहिले पाथेय (रास्ते में खाने का सामान) को ग्रहण करने की इच्छा से लोहित नवीन सूरज ही वहाँ आया हो ।

सुवर्ण के समान पीत वर्णवाली स्त्रियाँ जब कभी वहाँ की इन्द्रनील मणियों से निर्मित गृहभित्तियों पर आकर उपस्थित होती हैं तो उनकी नीले मेघों के पास चमकनेवाली बिजलियों की सी शोभा होती है ।

उस नगर के घरों पर ध्वजायें जगमगाते हुये पीले वर्ण की सी हैं सो जिस समय वे पवन के प्रताप से इधर उधर फहराती हैं तो बिना मेघ के ही आकाश में बिजली के चमकनेका संदेह करा देती हैं अर्थात् बिजली का और उनका रंग एक समान होने से लोग मेघ रहित आकाश

में उन्हें बिजली समझ सशंक हो जाते हैं ।

उस नगर के घरों की देहलियाँ चम चमाते हुये मणियों की बनी हुई हैं इसलिये वहाँ के बछड़े (गायों के छोटे बच्चे) उन्हें हरे हरे दूर्वा के अंकुर समझ खाने के लिये दौड़ते हैं ।

युद्ध के वर्णन में कवि ने अमित उत्साह बताया है । अहिंसा-मूलक जैन धर्म के उन्नयन और प्रसार के उद्देश्यवाले और श्री पार्श्वनाथ तीर्थंकर के चरित्रचित्रण करते हुए काव्य में युद्ध का वर्णन क्वचित् अप्रस्तुत लगता है । लेकिन युद्ध की विभीषिका का प्रत्यक्ष परिचय देकर कवि ने अहिंसा का महत्त्व निर्देशित किया है, ऐसा हम मान सकते हैं । युद्ध के वर्णनों में एकरूपता और पुनरावृत्ति भी है ही । अस्त्र-शस्त्र के नाम, सेना का युद्ध के लिये प्रयाण, युद्ध के प्रसंग आदि में एकरूपता होने पर भी वीररस का उत्साहप्रेरक आलेखन हुआ है । कवि की शब्द योजना और वर्णानुप्रास का कौशल्य भी इसमें सहायक होता है । वज्रनाभ राजा की विजययात्रा का सुंदर वर्णन छठ्ठे सर्ग के आरंभ में मिलता है ।

धर्म-चिंतन :

नीति उपदेश और जैनधर्म के सिद्धांतों का माहात्म्य बतानेवाली कई सूक्तियाँ बीच बीच में बिखरी पडी हैं ।

हतवर्त्तिपधायि मानसं तिमिरं तत्परिमार्जनं वचः ।
गुरुबंधुजनोपदर्शितं कथमुल्लंघयमतो हितैषिणां ॥ (सर्ग-७, ८४)

मानसिक अंधकार-अज्ञान (मोह) बड़ा ही प्रबल होता है वह अच्छे बुरे का विचार नहीं करने देता । उसको दूर करने में तेल और बत्ती का दीपक काम नहीं देता । उसको दूर करने वाले तो गुरु और बंधुओं के हितकारी वचन ही होते हैं इसलिये जो अपने हित को चाहने वाले हैं-सुख से रहना चाहते हैं उन्हें अपने बड़े लोगों के वचन कभी न टालने चाहियें उनका कभी भी उल्लंघन करना उचित नहीं ।

जहि कोपमपायकारणं जहि प्रौढांगदमं मदोद्धतिम् ।
गजराज ! जहीहि मत्सरं त्वममैत्रीं च जहाहि देहिभिः ॥९१॥

इसके सिवाय तुम्हें यह भी उचित है कि जीव का सर्वथा नाश-अहित करने वाले कोप को छोड़ो, प्रौढ़ अंगों की दमन करने वाली मदोन्मत्तता को तिलांजलि दे दो, दूसरों से ईर्ष्या करना छोड़ दो और समस्त प्राणियों के साथ शत्रुता करने से भी बाज आ जाओ सब के साथ मित्रता का व्यवहार करना प्रारंभ कर दो ।

यदि प्रियासाद्यदि नाशि यद्यलं गुणच्छिदे यद्युपतापसंधये ।
अनात्मनीनं तत एव तर्हि तद् वृथैव धिग्धिग्् विषयोन्मुखं सुखम् ॥७६॥

विषयजन्य सुख पराधीन है, नष्ट हो जानेवाला है, गुणों का नाश कर देता है, पश्चाताप कराता है और अत एव आत्मा का वैरी है इसलिये उसे बार बार धिक्कार है ।

अविविच्य क्रिया नैव श्रेयसे बलिनामपि ।
गजोऽपि निपतेत् गर्ते वृत्तस्तमसि चर्यया ॥८४॥

बिना सोचे समझे काम करने से बलशाली पुरुषों का भी कल्याण नहीं होता, देखिये ! अंधकार में चलने से हाथी गड्ढे में गिर पड़ता है ।

अशक्यवस्तुविषयः प्रत्यवायकृदुद्यमः ।
अंघ्रिणा क्रमतोऽप्यग्निमंघ्रिस्फोटः स्फुटायते ॥८५॥

अशक्य पदार्थ के विषय में किया गया परिश्रम अवश्य मतिहत हो जाता है जैसे कि अग्नि को पैर से कुटने वाले पुरुष का पैर ही जलता है, अग्नि का कुछ नहीं बिगड़ता ।

स्वैरमन्यदतिक्रम्य प्रवर्तेताखिलं बली ।
कालक्रमोपपन्ना तु नियतिः केन लंघ्यते ॥८६॥

बलवान् पुरुष दूसरे पदार्थों पर इच्छानुसार विजय पा सकता है लेकिन कालक्रम से प्राप्त हुए भाग्य को कौन टाल सकता है ।

कवि की भाषा-शैली, अभिव्यक्ति-कौशल्य, अलंकारयोजना आदि उल्लेखनीय है । इससे भी कवि-कौशल्य का परिचय मिलता है । भाषा में सहज प्रवाह और भावानुरूप परिवर्तित होने की क्षमता है । ओज, प्रसाद और माधुर्य तीनों गुणों का निदर्शन उसमें मिलता है । काव्य रचना के उपक्रम में कुछ अलंकार तो अपने आप आ जाते हैं ।

रसनिरूपण :

शृंगार, वीर और शान्तरस का आलेखन यहाँ मुख्यतया हुआ है ।

छठे सर्ग में वीर और शृंगार का साथ साथ ही वर्णन है । युद्ध काल के वीरोचित प्रसंगों के आलेखन के बाद कवि ने योद्धाओं के साथ आयी हुई उनकी पत्नियों के साथ जो शृंगारक्रीडायें की थीं उनका मादक वर्णन यहाँ हुआ है । कवि ने प्रत्येक क्रीडाओं का और इस समय के स्त्रीयों के मनोभावों का सूक्ष्म और अलंकारों से तादृश निरूपण किया है और प्राकृतिक सादृश्यों की भी सहाय ली है । स्त्रियों के अंगोपांगों के चित्रण में भी शृंगार की झलक मिलती है । शांतरस का आलेखन अत्यधिक प्रसंगों में है । फिर भी दूसरे बारह सर्गों में पार्श्वनाथ भगवान् के चरित्र चित्रण के प्रसंग में सहज रीति से शांत रस का प्राकट्य होता है और तीर्थंकर भगवान् के प्रति भक्तिभावपत्र प्रकट करने में प्रेरणादायी बनता है ।

छन्द का आयोजन :

महाकाव्य की शैली के अनुरूप प्रत्येक सर्ग की रचना अलग-अलग छन्द में की है और सर्गान्त में विविध छन्दों की योजना की है । पहले, सातवें और ग्यारहवें सर्गों में अनुष्टुप् छन्द, शेष में दूसरे छन्दों का प्रयोग किया गया है । सप्तमसर्ग में व्यूहरचना के प्रसंग में मात्राच्युतक,

विन्दुच्युतक, गूढचतुर्थक, अक्षरच्युतक, अक्षरव्यत्यय, निरोष्ठ्य आदि का अनुष्टुप् छन्दों में ही प्रदर्शन किया गया है । छठे सर्ग में विविध शब्दों की छटा द्रष्टव्य है ।

इस काव्य की भाषा माधुर्यपूर्ण है । कवि का भाषा पर असाधारण अधिकार है । वह मनोरम कल्पनाओं को साकार करने में पूर्णतया समर्थ है । कवि ने भाव और भाषा को सजाने के लिये अलंकारों का प्रयोग किया है । शब्दालंकारों में अनुप्रास का प्रयोग अधिक हुआ है । अर्थालंकारों में उपमा, उत्प्रेक्षा, अर्थान्तरन्यासादि का प्रयोग स्वाभाविक रूप से किया गया है ।

अतः महाकाव्य के अनुरूप शैली में रचित यह कृति पार्श्वनाथ के जीवनचरित्र और काव्यकला की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है ।

□ □ □

भीमसेनराजर्षिकथा

सं. प्रीति पंचोली

प्रस्तावना

जैन कथानको में पाँच पाण्डवों के भीमसेन के अलावा बहुत से भीमसेनों के चारित्रों का वर्णन मिलता है। धनेश्वरसूरि कृत शत्रुंजयमाहात्म्य में भी भीमसेन का चरित्र आया है और यशोदेवकृत धर्मोपदेश प्रकरण (वि० सं० १३०५) में भी एक अन्य भीमसेन नृप के चरित्र का वर्णन है। यहाँ पर जिस भीमसेन राजर्षि कथा का उल्लेख है वह उपरोक्त भीमसेनचरित्र के होने की सम्भावना है। संस्कृत में स्वतन्त्र रचना के रूप में अज्ञात कर्ताओं की तीन कृतिओं का वर्णन मिलता है। जिनमें निम्न कथानक होने की सम्भावना है। महाभारत के भीमपात्र से यह पात्र भिन्न ही है। इस कथानक में भीम को एक चोर और साहसी दिखाया गया है।[१]

प्रतवर्णन :--

"भीमसेन राजर्षि कथानक" प्रत का समय १६वीं सदी है। पत्रांक ४ है। परिमाण २७ × ११.५ से. मी. है। १८२ श्लोक हैं। जिसमें प्रत्येक पृष्ठ पर २१ श्लोक दिए है। भाषा संस्कृत है। जहाँ पर अशुद्ध पाठ है वहाँ पास में शुद्ध पाठ कोष्ठक में दिया है। इस प्रत के अलावा अन्य प्रत नहीं मिलती है।

इस कथानक के कुछ श्लोकों में शब्द व्यत्यय भी मिलता है। जैसे कि- 'जाला' शब्द है वहाँ पर 'लाजा' होना चाहिए।

कुछ जगह अशुद्ध पाठ हैं—जैसे कि

१. 'शिष्यामदादिति' है वहाँ पर 'शिक्षामदादिति' पाठ हो तब ही अर्थसंगति होती है।

२. जाजेति के स्थान पर राजेति होना चाहिए।

३. तित्थं के स्थान पर तिष्ठन् होना चाहिए।

४. तावरुहय सुसत्वरं के स्थान पर नावमारुह्य सत्वरं होना चाहिए।

---

१. जैन साहित्य का बृहद् इतिहास भाग ६, डॉ० गुलाबचन्द चौधरी पृ० ३०९ इ० सन् १९७३—पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, वाराणसी।

५. सव्रकृन् के स्थान पर सकृत् होना चाहिए ।

जहाँ अशुद्ध पाठ है वहाँ पाठशुद्धि की है ।

कुछ स्थानों पर वर्णलोप भी मिलता है । 'आतिथ्य' शब्द में 'आ' का लोप है । वर्णलोपवाले शब्दों के वर्ण पास में कोष्ठक में दिए हैं ।

कर्त्ता :—

संस्कृत में स्वतन्त्र रचना के रूप में अज्ञातकर्त्ता की तीन कृतियों का उल्लेख है, जिसमें से एक इसके होने की संभावना है ।

कथासार :—

तीर्थों के माहात्म्य को आधार बनाकर अनेक कथाकोषों एवं स्वतंत्र काव्यों का निर्माण किया गया है । जिसमें सबसे प्राचीन धनेश्वरसूरि का शत्रुंजयमाहात्म्य है, इसको रैवताचल माहात्म्य भी कहते है ।

इसके दसवें अध्याय में भीमसेन के संबंध में, जिस कथा का उल्लेख है वह महाभारत के भीम से अलग ही है और वह इस प्रकार है :—

जम्बूद्वीप के भरतक्षेत्र में श्रावस्ती नाम की नगरी थी । जिसमें 'वज्रसेन' नाम का राजा राज्य करता था । वह परम जिनभक्त था । राजा के सभी गुणों की गणना में वह श्रेष्ठ था । उसके सुभद्रा नाम की पत्नी थी । सुभद्रा ने एक पुत्र को जन्म दिया जिसका नाम 'भीमसेन' रखा गया । भीमसेन माता-पिता एवं गुरु से द्वेष करता था । भीमसेन के युवान होने पर पिता ने उसको युवराज पद दे दिया । युवराज पद को प्राप्त कर वह राज्य की स्त्रियाँ एवं प्रजा को सताने लगा । भीमसेन से त्रस्त प्रजा ने राजा से शिकायत की । प्रजा की बात को सुन राजा ने भीमसेन को कारावास में डाल दिया । कुछ समय के बाद जब वह कारावास से निकला तो उसने अपने पिता और मित्रों को मार डाला और मद्यादि व्यसनों का सेवन करने लगा । जिसके कारण उसको देश से निष्कासित कर दिया गया ।

एक गाँव से दूसरे गाँव घूमता हुआ वह एक दिन मगधदेश के पृथ्वीपुर नाम के गाँव में पहुँचा । लोग उसको मारते और हैरान करते थे । पृथ्वीपुर में वह एक माली के घर में रहने लगा । माली के घर भी वह पत्र, पुष्प और फलों की चोरी करता और बेच देता था । माली को उसके चौर्यकर्म की जानकारी हुई तो उसको निकला दिया । वहाँ से निकलने के बाद वह एक श्रेष्ठि के घर में रहने लगा । श्रेष्ठि को भी उसके चौर्यकर्म की जानकारी हुई तो उसने भी निकाल दिया । उसके बाद वह ईश्वरदत्त के साथ नाव में बैठकर जलमार्ग की ओर चला ।

समुद्रमार्ग से जाते हुए उसकी नाव परवाल के खडक के साथ टकरी । प्रयत्न करने पर भी नाव थोडी सी भी बाहर नहीं निकली । जिससे भीमसेन ने पंच परमेष्ठि को नमस्कार किया । ऐसी अवस्था में एक तोते ने उसको बचने का उपाय बताया । उपाय में किसी एक

को मर ने के लिए तैयार रहना था । उपाय यह था कि पर्वत की ओर तैरकर जाना था और वहाँ रह रहे भारंड पक्षिओं को आश्चर्यचकित करना था । आश्चर्य में पडे पक्षियों के पंख के पवन से नाव हिलेगी और बाहर निकल आयेगी । भीमसेन ने इस कार्य की जिम्मेदारी ली और पर्वत पर जाकर भारंड पक्षी को आश्चर्य में डालकर वहाँ से उडाया जिससे भारंड पक्षियों के पंख के पवन से नाव पानी से बाहर आ गई । उसके पश्चात् भीमसेन ने तोते से किनारे पर पहुँचने का मार्ग, पूछा, तोते ने कहा–'तु जल में गिर जा मछली तुझ को निगल जाएगी और किनारे पर पहुँच कर मुख खोलेगी, अगर मुख न खोले तो इस औषधि को उसके मुख में रख देना जिससे वह मुख अवश्य खोलेगी और तू किनारे पर पहुँच जाएगा' भीमसेन ने तोते के कथनानुसार किया और सिंहल के किनारे पहुँच गया ।

उसके बाद भीमसेन किसी अन्य दिशा का आश्रय लेकर आगे चला । वहाँ उसको त्रिदंडधारी मुनि मिला । मुनि ने उसको इस गाढ जंगल में आने का कारण पूछा तो भीमसेन ने मुनि से आपबीती कही । मुनि ने उसको सांत्वना दी और कहा 'तुं सिंहल द्वीप तक मेरे साथ चल वहाँ रत्नों का खजाना है बहूत से रत्न मिलेंगे । यह सुन भीमसेन मुनि के साथ चल दिया । कृष्ण चतुर्दशी की शत को मुनि ने भीमसेन को रत्नों की खाई में जाकर रत्नों को निकालने को कहा–रत्नों को लेकर वह मुनि चल दिया और भीमसेन उस खाई में ही इधर उधर घूमने लगा । उसने अन्दर एक अत्यन्त कृश पुरुष को देखा और उससे बाहर निकलने का उपाय पूछा । उस पुरुष ने कहा 'सुबह सूर्योदय होगा, विविध प्रकार के उत्सव मनाये जाएंगे । तब तू रत्नों के अधिष्ठाता देव से छुपकर बाहर निकल जाना । इस तरह भीमसेन को आश्वासन देते हुए पुरुष ने अन्य बातें भी की । दूसरे दिन सुबह देवलोग गीत–नृत्य में मग्न थे तब भीमसेन छुपकर बाहर निकल आया । वहाँ से सिंहलनगर के मुख्यनगर क्षितिमंडन नगर में पहुँचा ।

क्षितिमंडननगर में वह एक पंसारी की दुकान में काम करने लगा । वहाँ पर भी उसकी चौर्यवृत्ति की जानकारी होने से सैनिकों ने उसको निकाल दिया ।

वहाँ से वह नाव में बैठकर पृथ्वीपुर नाम के नगर में आया । वहाँ भीमसेन ने एक परदेशी को अपनी व्यतीत व्यथा सुनाई । परदेशी ने उसकी व्यथा को सुन उसको आश्वासन दिया और वहाँ से दोनों लोग रोहण पर्वत की ओर चल दिए । रोहण पर्वत की ओर जाते हुए मार्ग में उन्होंने जटिल नाम के मुनि को देखा । जटिल मुनि ने भी वहाँ शिष्य जांगल को देख पूछा कि–'तू यहाँ क्यों आया है ? शिष्य ने कहा–"मैं शत्रुंजय और उज्जयंत में जिनपूजा करके आया हूँ । उसने शत्रुंजय तीर्थ की महिमा बतलाकर अशोकचंद्र की बात कही ।

चंपानगरी में अशोकचन्द्र नाम का दरिद्र क्षत्रिय रहता था । एक बार अशोकचंद्र रैवताचल की ओर चल दिया । वहाँ कुछ समय तक अंबादेवी की पूजा करके वापिस अपने नगर में आया । एकबार अशोकचंद्र को विचार आया कि, देवी अंबिका की कृपा से यह सब जो मुझ को प्राप्त हुआ है और मैं उसका स्मरण भी नहीं करता हूँ ऐसे मुझ पापी को धिक्कार हो । ऐसा विचार करके एक संघ तैयार किया और शत्रुंजय पर्वत की ओर चल दिया । वहाँ जाकर जिन

की विधिपूर्वक पूजा की और वापिस रैवताचल आया। यहाँ आकर नेमीश की विधिपूर्वक पूजा की। बाद में अंबिका की कृपा से तीन सो वर्ष राज्य किया है ऐसा सोचकर राज्य अपने पुत्र को सोंप दिया और दीक्षा ले ली। यह सब बातें जांगल नाम के शिष्य ने जटिल मुनि को बताकर कहा कि—यह सब मैंने प्रत्यक्ष देखा है और यह इसी तीर्थ की महिमा है। इस तीर्थ का सेवन करनेसे पापी भी अपने अपने कर्मों को पूर्ण करता है। यहाँ भ्रमण करते हुए पक्षी इस तीर्थ की परछाइं का स्पर्श होने से दुर्गति को प्राप्त नहीं होते तो फिर इस तीर्थ के सहवास की तो बात ही क्या? इस प्रकार जांगल शिष्य और जटिल मुनि के बीच हुए वार्तालाप को सुनकर सभी तापस आनन्दित हुए। भीमसेन और परदेशी भी इस संवाद को सुन रैवत की ओर चल दिए। रैवताचल से दो रत्नों को लेकर भीमसेन निकल गया। एक रत्न राजकुल में दिया और एक रत्न अपने पास रखा। नाव में बैठकर जब जा रहे थे तब परदेशी के रत्न के साथ अपने रत्न की तुलना करने लगा, जिससे भीमसेन का रत्न पानी में गिर गया। रत्न के गिर जाने से भीमसेन मूर्छित हो गया और हे देव! यह क्या किया? इस तरह चिल्लाकर विलाप करने लगा। उस समय परदेशी ने कहा—धैर्य रखो और शोक मत करो, मेरे साथ में रहने से आप को बहूत से रत्न मिलेंगे। अभी यह मेरा रत्न लेलो। मित्र के इस वचन से उसको सान्त्वना मिली। दोनों लोग किनारे पर पहुँचे। वहाँ से आगे दोनों रास्ते से गुजर रहे थे तब चोरों ने उन्हें लूंट लिया और आगे चलते उनको एक मुनि मिले। दोनों ने मुनि को नमस्कार किया। मुनि ने भीमसेन को विषाद न करने को कहा। भीमसेन उससे पूर्व अठ्ठारह दिन मुनि को पीडित कर चुका था जिसका यह फल भोग रहा है। अशुभ समय गुजर जाएगा और तेरा कल्याण होगा, तू विषाद मत कर। इस वचन को सुन भीमसेन परदेशी के साथ मुनि को नमस्कार कर रैवताचल की ओर चल दिया। रैवत पर्वत पर पहुँचकर भीमसेन ने अमात्यों के साथ आए हुए संघ को देखा। भीमसेन को अमात्यों ने पहचान लिया। और राजा को सूचित किया। राजा ने भी भीमसेन को देख सहर्ष आलिंगन किया। अपने भाई के आग्रह करने पर भीमसेन ने राज्य शासन स्वीकार किया। घर पर जाकर कुलदेवता को नमस्कार किया। भाइयों के साथ भोजन किया और बाद में सभा में गया। वहाँ अपने छोटे भाइयों को राज्य शासन सौंपकर अपने छोटे से परिवार को साथ में लेकर रैवत की ओर चल दिया। शत्रुंजय जाकर जिन की पूजा की, वहाँ से रैवताचल आया—कपूर, केसर, चंदन पुष्पादि से नेमीश की पूजा की। बाद में दीक्षा लेकर भीमसेन ने अत्यन्त तपश्चर्या की। आठ मद से युक्त होकर मुक्ति को प्राप्त हुआ। ज्ञानचंद्र मुनि के मुख से इस पर्वत के माहात्म्य को सुनकर विद्वान् लोग भी मोक्ष को प्राप्त हुए। महापापी और महारोग से पीडित भी इस पर्वत का सेवन-पूजन करने से सुखी होते हैं।

जंबूद्वीपेऽत्र भरते श्रावस्त्यस्ति पुरीवरा।
तत्रोऽभूद्वज्रसेनाख्यो भूपतिर्भूरिभाग्यभृत् ॥१॥

जिनार्चनपरो नित्यं जनतारंजनव्रतः।
सर्वै गुणैरतिश्रेष्ठो ज्येष्ठोऽभूत् सव(र्व) राजसु ॥२॥

सुभद्राकुक्षिजस्तस्याऽभवदेष तनूरुहः ।
(भी) भूमसेनाभिधोभूमो(मा) द्यूतादिव्यसनी रादा ॥३॥

आ(अ)न्यायैकगृहं शस्वलोकसंतापकारकः ।
गुरुदेवांश्च पितरौ द्विषन् सोऽभूत् कुलक्षणः ॥४॥

प्रादात्पिता क्रमेणाऽथ भीमसेनस्य तादृशः ।
यौवराज्यपदं राज्यपदादपि मनोहरं ॥५॥

सलब्धयौवराज्य श्रीरन्यायैकनिकेतनं ।
परस्त्रियं परद्रव्यं हरन् पीडयति प्रजां ॥६॥

अन्यदा सकलैलोकैर्व्वज्रसेनो महीपतिः ।
समेत्य भीमदुर्नीतिर्दूनै विज्ञप्त इत्यपि ॥७॥

राजसूनो न चैतस्य विज्ञप्तिर्युज्यते विभो ! ।
तथापि चेतसि कियत् दुखं स्थापयितुं क्षमाः ॥८॥

आकंठमस्य दुर्न्यायैः संभृताः स्मो महीपते ।
तद्विमृश्य प्रजापाल ! यथोचितमुपाचर ॥९॥

श्रुत्वा जा(रा)जेति तं लोकं सांतयित्वाऽतिरामणीः ।
दत्त्वा किंचित् प्रसादं च पुनः प्रैषन्निजालयात् ॥१०॥

कुमारं तं समाहूय राजा शिष्या (क्षा) मदादिति ।
लोकाराधनवान् वत्स ! यशोऽर्जय सुदुर्लभं ॥११॥

न परस्त्रीपरद्रव्यापहारः क्रियते नृपैः ।
पित्रोर्गुरो जिनभक्तिः सचिवोक्तिश्च चिंत्यते ॥१२॥

स्वीकार्यः सर्वथान्यायोऽन्यायो नेयोऽतिदूरतः ।
वाक्प्रतिष्ठा धृतिधर्म्मा सप्तव्यसन्–मुद्रणा ॥१३॥

अयमेव परो धर्मः प्रायः पृथ्वीभृतामपि ।
समाश्रितः श्रियं कीर्ति-यशः स्वर्गं प्रयच्छति ॥१४॥

राज्ञाऽनुवेलमित्येष शिक्षितोऽपि न सो त्यजन् ।
दुवृत्तं वा विषं सर्पोऽमृतपानं भजन्नपि ॥१५॥

अशक्याऽविनयत्राणं तं परिज्ञाय भूपतिः ।
चिक्षेप निगडे सूनुं प्रसूततनुमार्द्दवं ॥१६॥

नगडस्थः कियत्काले विलोका(क्या)ऽवसरं कुधीः ।
जधान पितरौ मंत्रान् मित्राणां समशीलिनाम् ॥१७॥

भीमसेनोऽथ राज्यस्थः कुमित्रपरिवारितः ।
मद्यादिव्यसनी लोकान् पीडयामास नित्यशः ॥१८॥

इत्यतश्च सचिवैसर्वैः सामंतैः सपरिग्रहैः ।
आलोच्य धृत्वा पापी स देशाभिष्कासितः क्षणात् ॥१९॥

राज्ये तस्याऽनुजं सर्वशास्त्रज्ञाय(न)–विशारदं ।
सुमुहूर्तेऽभ्यषिचंस्ते सचिवा जनवल्लभं ॥२०॥

भीमसेनोऽन्यदेशेषु देशान् निष्कासितः व्रजन् ।
र्य(यः) चौर्यंकर सर्वत्र व्यसनं खलु दुस्त्यंजम् ॥२१॥

जघान पथि पाथेयकृते सो पथिक(का)न पि ।
वेश्यादि–व्यसनी नित्यं कलुषं स्वनो (स्वेन) व्यधात् ॥२२॥

अन्यायान् सवहु(न्) कुर्वन् तित्थं (तिस्ठन्) प्रतिदिनं सः ।
ततो विमुक्तो विचरन्ननुग्रामं स भूप्रभुः ॥२३॥

क्रमान्मगधेदेशेषु प्रापत् पृथ्वीपुरं पुरं ।
ताड्यते पीड्यते लोकैः न पुनर्हन्यते क्वचित् ॥२४॥

मालाकारगृहे तत्र तस्थौ कर्मकारश्च सः ।
विक्रीणात्यपि चौर्येण पत्र-पुष्प-फलादिकम् ॥२५॥

निर्वासितः सः तेनाऽपि हट्टेऽस्थात् श्रेष्ठिनः क्वचित् ।
कर्मकृन्नाम मुक्ति तु व्यसनं स्वस्त्य वृद्धिमत् ॥२६॥

तत्रापि निखिलं वस्तु हट्टानिःकास्य सर्वदा ।
विक्रीणाति स चौर्येण स्वभावो दुस्त्यजो हि यत् ॥२७॥

परिज्ञातचौर्यवृत्तिश्रेष्ठिनिर्वासितः ततः ।
अभूदीश्वरदत्तस्य कर्मकृद् वि(व्य) वहारिणः ॥२८॥

सोऽन्यदेश्वरदत्तेन संमं द्रविणलोलुपः ।
चचाल जलमार्गेण तावरुह्य सुसत्वरं ॥२८॥
(नावमारुह्य सत्वरं)

सा नौः समुद्रे गच्छंती मासेनैकेन चैकदा ।
अस्खलत् सहसा रात्रौ प्रवालांकुरकोटिषु ॥३०॥

कृतोपायैरतिघनं नायकै नौस्वनोमकान् । (ततः मकत्)
नाऽपक्रामद पक्षणमन्नंमुंबुचं कालतः ॥३१॥

चतुः शरणमुच्चार्याऽष्टादशांऽहः पदं त्य×(ज)न् ।
मिथ्यादुष्कृतमाधाय जंतुजातिषु चत्रिधा (चं त्रिधा) ॥३२॥

स्मरन् पंचपरमेष्ठिनमस्कारं सुभावतः ।
यावन्मुमूर्षुः पातेन व्यवहार्यस्तु सोऽबुंधेः ॥३३॥युग्मं॥

तावत् कुतोऽपि पा(प)लाश कुसुमाभमुखः श्रुकः ।
तमालनीलः सहसा भव्य-मानुष-वान् जगौ ॥३४॥

अपंडित ! मर्मु (मंतु) मृत्युं व्यवहारं स्त्यजत्यज ।
जीवितोपायमेतेषां श्रृणु मद्वचनादरी (रे) ॥३५॥

मा मां श्रुकं । तु जानातु शकुंतं कोमलत्विषं ।
अहमत्रा (त्र) नगस्याऽस्याऽधिष्ठाता देवताग्रही ॥३६॥

दिगंतु जी (वि)तोपायं निषेद्धुं मरणात् च वाम् ।
समायातोऽस्मि तस्मादुपायं श्रृणुताखिलम् ॥३७॥

युस्मास्वेको निजं मृत्युमंगीकृत्य प्रया(न्त्विह)त्विह ।
तीर्त्वाऽब्धिं पर्वते प्रोच्चैः साहसी कृपयाऽन्वितः ॥३८॥

तत्र गत्वा च भारंडानुड्डाप्य खलु पक्षिणः ।
तद्वातेन च सर्वेषा जीवितं प्रददातु सः ॥३९॥

एवमीश्वरदत्तोऽथ श्रुत्वा तद्वाक्यमादरात् ।
प्रपच्छ सकलान् स्वीयान् तत्र यानार्थमुत्सुकः ॥४०॥

प्रदर्श्यमानलो(भो)ऽथ भीमसेनो गतत्रपः ।
दीनारशतमर्थित्वात् तीर्त्वाऽब्धिं पर्वतं ययौ ॥४१॥

तेनोड्डापितभारंडपक्षप्रोद्भूतवायुना ।
प्रवालावर्त्तसंमुक्ता क्षणात् सा नौरथाऽचलत् ॥४२॥

अथ तत्र गिरौ भीमसेनो मनसि चिंतयन् ।
जीवितोपायमैक्षीष्ट पतीष्टवचनं शुकम् ॥४३॥

दृष्ट्वा तं शुकं प्रोचे महापुण्याममाप्यहो ।
इतो निर्गमनोपायं वद त्वं तरणेरिव ॥४४॥

श्रुत्वेति सः शुकः प्राह भीमसेन ! जले पत ।
मत्स्यास्त्वां तु गिलिष्यंति व्रजिष्यंति तटोन्मुखम् ॥४५॥

फूत्कारं न यदा कुर्युस्तदेमामौषधीद्रुतम् ।
प्रक्षिपार्गलिके तेषां यथास्याद्विवरं महत् ॥४६॥

तथाभूतेऽथ मकरे निःसृत्य त्वं तटे भवेः ।
एवं ते जीवितोपायो नान्यथा च कदाचन ॥४७॥

शुकेनेति तदा प्रोक्ते भीमसेनोऽतिसाहसी ।
तत् कृत्वा प्राप सपदि सैहलं तत्र मद्भटः ॥४८॥

भूत्वा स्वस्थो नु वेलायां सलिलाशयान् ।
वृक्षांश्च वीक्ष्य सलिलं पपौ विश्राममाप्तवान् ॥४९॥

भीमसेनस्ततः काञ्चिदिशमाश्रित्य निःसृतः ।
गव्यूतीः कियतीः क्रांत्वा पुरोऽपश्यत्रिदण्डिनम् ॥५०॥

तस्मै मुनिवरायैष नमस्कारं चकार च ।
आसीः पुरस्सरं भीममुवाच च मुनिर्मुदा ॥५१॥

कस्त्वं भोः किं नु गहने विपिनेऽस्मिन् व्रजन्नसि ।
दृश्यसे दुःखित इव स्वस्थो भव वदस्व तत् ॥५२॥

प्रीतस्तद्वचसा भीमसेनोऽवददिदं वचः ।
मुने ! किं कथयाम्यद्य मंदभाग्योऽस्मि सर्वथा ॥५३॥

वर्तंते जे(ये)ऽत्र संसारे महादुःख-पा(प)रा नराः ।
अभाग्यागतसौभाग्यास्तेषामाद्योऽस्मि चिंत्यताम् ॥५४॥

यत्र यामि यदर्थं तु तत्र तन्नैव सिध्यति ।
समुद्रेऽपि न पानीयं गते मयि पिपासिते ॥५५॥

न फलानि तरौऽलक्षि न पानीयं न शते ।
न रत्नं रोहणाऽद्रौ च मंदभाग्ये गते मयि ॥५६॥

न मे भ्राता न मे माता न कांता न पिता मम ।
परस्मिन्न शक्नोमि कर्तुं तूदरपूरणम् ॥५७॥

समाकर्ण्येति मुनिराट् तस्योक्तं दैन्यभाजिनः ।
मायाऽऽगारः सुधासारः प्रतिमं प्रतीतं वचः ॥५८॥

अहो त्वं मा विषादाय भव त्यज पराभवान् ।
मयि लब्धे मुनित्वेऽथ द्रारिद्र्यं ते गतं द्रुतम् ॥५९॥

परोपकारं सततं कर्तुं वयमितस्ततः ।
विचरामो न च स्वार्थं किमर्थं दुःखितोऽसि ॥६०॥

यत्तपते तपनो दद्यात् यद् जलदो जलम् ।
यथा द्रुमाः फलवंतश्च सुधावर्षी च यच्छशी ॥६१॥

यच्चंदनतरुत्पत्तिर्यद्वाति मलयानिलः ।
यद्रमंतेऽत्र सुजनास्तत्परोपकृतेः कृते ॥६२॥युग्मं॥

द्वीपेऽत्र संहले श्रेष्ठे समेहि त्वं मया सह ।
रत्नसानैर्यथा तत्राऽददे (देहि) रत्नानीति सुखात् ॥६३॥

इति श्रुत्वा भीमसेनस्तेन सार्धं चचाल च ।
प्रायेण मुनिवेषो हि विश्वासाय शरीरिणाम् ॥६४॥

दीनारशतपाथेयं पथि कृत्वा कियद्दिनैः ।
प्रापतू रत्नखानिं तौ प्रमोदकलिताशयौ ॥६५॥

अथ कृष्णचतुर्दश्यां भीमसेनं स तापसः ।
प्रक्षिप्य खानिमध्ये तं रत्नान्याकर्षयद्द्रुतम् ॥६६॥

नीत्वा तस्माद् रत्नानि छित्वा रज्जुं च तापसः ।
अधिष्ठातृसुरायैवं खानि मध्येऽक्षिपत् क्षणात् ॥६७॥

तं दत्त्वा भीमसेनाख्यं पूजापुरुषमुत्सुकः ।
प्रचचालाऽथ स मुनिस्त्रिदंडी पुनरन्यतः ॥६८॥

ततः स भीमसेनोऽपि भ्रमन् खानावितस्ततः ।
ददर्श पुरुषं किंचित्कृशमत्यंतपीडितम् ॥६९॥

स नृपः सोऽपि तं भीममालोक्याऽवददित्यथ ।
किमायातोऽसि वत्स ! त्वमत्रांतकमुखोपमे ॥७०॥

त्वमप्यहमिव प्रायः पापिना किं तपस्विना ।
रत्नानां लोभ-मुद्दिश्य नियतं प्रतारितः ॥७१॥

एवमेवैतदित्याह भीमसेनः ततश्च तम् ।
इतो निर्गमनोपायं वदस्वेति प्रपच्छ च ॥७२॥

ततो जगादसोऽपीमं श्रृणूपायंस्वजीविते ।
स्वर्गात्सुरीः समेष्यंति श्वर त्र विहितोत्सवाः ॥७३॥

रत्नं चंद्रमधिष्ठातृदेवं खानेः सुभावनाः ।
पूजयिष्यंति विविधैर्गीतनृत्योपचारकैः ॥७४॥

तद्गीतदत्तचित्तेऽस्मिन्न सुरे तत्किंकरान्वितः ।
निःसारेस्त्वं बहिर्यातो दैवतस्यापि दुर्गमः ॥७५॥

इत्याश्वास्य भीमसेनं स नरोऽतिविचित्रवाक् ।
तेनैव सार्धं तदह र्हनिनाय बहुवार्त्तया ॥७६॥

इतः प्रातः मृगादिध्वानबंधपुरस्सरं ।
देव्यः सर्वा विमानस्थास्तत्राभीयुर्महोत्सवैः ॥७७॥

तद्गीतमग्नमनसि तस्मिनरवान्यधिपे सुरे ।
स किंकरयुतः शीघ्रं खार्नेबहिरुपाययौ ॥७८॥

मंदं मंदं ततो मार्गमश्रामं कियद्दिनैः ।
सिंहलेमुख्यनगरं क्षितिमंडनमासवान् ॥७९॥

तत्र कस्यापि सोऽतिष्ठत् कर्मकृद् व्यवहारिणः ।
भांडशालासु सुलभसंपूर्णाऽखिलवस्तुषु ॥८०॥

चक्रे चौर्यमनाचारंश्चतुरः परवंचने ।
तस्य गेहे भीमसेनो भूरिशो भीमदर्शनः ॥८१॥

अथैकदा परिज्ञाय तं चौरं तलरक्षकाः ।
प्रतिशुलीमलीकाढयं समंतात्स सवम (सम) चालयत् ॥८२॥

इतश्चेश्वरदत्तस्तं वीक्ष्य स्वस्योपकारिणं ।
उपलक्ष्य च राजानं विज्ञप्याऽमोचयद्द्रुतम् ॥८३॥

नावं चाऽऽरोह्य तं शीघ्रं कियमिर्द्दिदसैर्निजम् ।
आगात् पृथ्वीपुरंनाम पुरं परपराक्रमः ॥८४॥

भीमसेनः समुत्तीर्य वाहाद्वीक्ष्य कंचनम् ।
देशांतरिणमाहस्मस्ववृत्तं तत् पुरः स्तदा ॥८५॥

सोऽपि तवृत्तमाकर्ण्य मा विषीदेति चक्रवत् ।
नीत्वा सहैव तं चेले प्रति रोहणपर्वतम् ॥८६॥

गच्छंतौ पथि तौ तूर्णमीक्षतुस्तापसाश्रमम् ।
मुनिवृद्धं च जटिलनामानं नेमतुर्मुदा ॥८७॥

अस्मिन् क्षणे जांगलः सादागाज्जटिल संनिधौ ।
शिष्यः कुर्वन् नमस्कारं गुरौ विनयवामनः ॥८८॥

प्रपछ जांगलं शिष्यं जटिलो कुटिलाशयः ।
वत्स त्वमधुनायातः कुतः कथय तन्मम ॥८९॥

अथाऽऽह जांगलः स्वामिन् सुराष्ट्रायामहं महं ।
शत्रुंजयोजयंताद्रौ कृत्वैतो जिनपूजनैः ॥९०॥

तीर्थयोः कथ्यते कीदृक् मद्विधैर्महिमैतयोः ।
यं न जानाति जनता केवलं वेत्ति केवली ॥९१॥

भवद्वयसुखं सर्वं नृणां स्याद्यदुपासनात् ।
विशेषादुज्जयंताद्रेर्महिमानममुं श्रृणु ॥८२॥

कान्तीः कलाश्च कमलां, प्रभूतां चक्रिवज्रिणोः ।
यदाराधनतो जंतुर्लभेताऽशोकचंद्रवत् ॥९३॥

तथाहि पुर्यां चंपायां क्षत्रियपरजीवकः ।
अशोकचंद्रनामा भूद्दरिद्रो विरतो गृहात् ॥९४॥

उद्विग्नो विचरन् सोऽथ वीक्ष्य जैनतपोधनान् ।
नत्वाऽपृछच्च दौर्भाग्यभंगोपायं दयामयान् ॥९५॥

ऊचुस्तं मुनयो वत्स प्रमादकलितो भवे ।
जंतुर्भ्राम्यति सर्वत्र कर्मणा सबलोऽबलः ॥९६॥

तत्कर्म त्वन्यथाकर्तुं शक्यते केनचिन्नहि ।
बाध्यते केवलं स्वात्मा विकल्पैरेव निर्भरम् ॥९७॥

विना भोगं न मुच्यते जीवः स्वकर्मपंजरात् ।
सेवया रेवताद्रेर्वा कृतया शुद्धभावतः ॥९८॥

इत्युक्त्वा विरतेष्वेषु स ययौ रेवताचलम् ।
वित्ताभिलाषी सद्भक्तिं प्रातनोत् स्थिरः स तपः ॥९९॥

कियद्भिर्दिवसैरंबादेवी प्रीतिपरेत्य च ।
अदात् स्पर्शोपलं तस्मै स्पर्शाल्लोहस्य हेमकृत् ॥१००॥

गत्वाऽथ स्वपुरं भृत्यान् स्थापयित्वा च भूरिशः ।
राज्यमर्थबलानीत्वा सर्वसौख्याएयभुंक्त सः ॥१०१॥

अथैकदा चकाराऽसौ चिंतां चेतसि चारुधीः ।
धिग्मे जीवितमर्थं च राज्यं च निखिलाःस्त्रियः ॥१०२

अंबिकायाः प्रसादेन सर्वमेतदुपार्जितम् ।
तामेव न स्मराम्यहं न नमामि च पापवान् ॥१०३॥ युग्मं

अथ संघस्य सामग्रीं कृत्वा अन्येद्युः संयुतः ।
स्वजनेरचलच्चेते स इति प्रीतिपेशलः ॥१०४॥

दिनैः कियद्भिर्गत्वा स शत्रुंजयगिरिं जिनम् ।
पूजयित्वा च विधिना पुनारैवतमागमत् । ॥१०५॥

गजेंद्रपदकुंडादिपेयोभिः स्नानमाचरन् ।
तज्जलैः स्नाप्य नेमीशं पुपूज कुसुमैर्घनैः ॥१०६॥

अथांऽबां जगतामंबां भक्त्या संपूज्य चादरात् ।
विरक्तोऽचिंतयच्चित्ते इति प्रीतिपेशलः ॥१०७॥

शतानि त्रीणि वर्षाणि राज्यं कृतममुष्य च ।
दैवस्यचांबिकायाश्च प्रसादान् महतो मया ॥१०८॥

ततोऽतः परमेतस्य श्रीनेमेरेव पादुकौ ।
शरणं मम भूयास्त्वं सुतो राज्यं करोतु च ॥१०९॥

निवेश्य राज्ये तनयं प्रे(क्ष्य) देशान् प्रतिहृतं ।
नीत्वा दीक्षां शुभध्यानात् प्रांते प्रायच्छिवं च सः ॥११०॥

प्रत्यक्षं भगवन्नेतत् समग्रं वीक्षितं मया ।
तज्जानेऽहं महातीर्थमिदमेव न वा परम् ॥१११॥

प्राप्यते पुरुषैर्नूनं ! यस्य तीर्थस्यसेवनात् ।
इह सर्वस्य संपत्तिः परत्र च परं पदम् ॥११२॥

लभंते सेवनाद्यस्य प्राणिन पापिनोऽप्यलम् ।
सर्वकर्माणि संक्षिप्य शिवमद्यक्रूमक्षयं ॥११३॥

भ्रमतां पक्षिणांखेऽपि छायायेषां स्पृशत्यमुं ।
लभंते कुगतिं नैते किं पुनः सहवासिनः ॥११४॥

इति जांगलतः श्रुत्वा महिमानं महागिरेः ।
रैवतस्य मुदं प्रापुः सर्वे तत्र तपोधनाः ॥११५॥

वैदेशिकोपि भीमस्तन्महिमानं निशम्य तौ ।
रोहणे प्रथमं यानं चिरान्निश्चित्य चक्रतुः ॥११६॥

मार्गमुल्लंघ्य तरसा रोहणं प्राप्य तौ ततः ।
जया परतु रचित्वा देवं पर्वतनायकम् ॥११७॥

प्रातः खानिं प्रपद्यऽथ हा दैवमितिवादिनौ ।
ददतुस्तौ उपहारं द्राक् खानौ रत्नेद्विधीर्षया ॥११८॥

लब्ध्वा रत्नद्वयं भीमसेनोन्यर्थं महाप्रभं ।
एकं राजकुले दत्त्वा नीत्वा चैकमथाचलन् ॥११९॥

स गच्छन् जलधौ पोत संस्थौ निशि निशाकरम् ।
वीक्ष्य रत्नं करे कृत्वा साम्यमालोकयद् द्वयोः ॥१२०॥

भीमसेनस्य कृच्छ्रेण संप्राप्तं महती गरुत् ।
अभाग्ययोगाज्जलधौ तद्रत्नमपतत् करात् ॥१२१॥

मूर्छंते पूच्छ करोद्य (पृ) (त्युरोधं) हा दैव ! किमिदं कृतम् ।
त्वया मे हरता रत्नं जीवितं न कथं हृतं ॥१२२॥

धिग् जीवितं मे धिग् जन्म धिङ्मानुष्यमवैभवम् ।
धिग् दैवं चेति विलपन् मूर्छितः पतितः पुनः ॥१२३॥

तुमुलाऽऽरावतस्तस्य ! मिलिता नाविका नराः ।
वायुना वीजयित्वा मूर्छाभंगं व्यधुः क्षणात् ॥१२४॥

अथाऽसौ लब्धचैतन्यस्तानाथोच्चैः स हा द्रुतम् ।
मद्रत्नं पतितं वाद्धौ मृग्यते स्थाप्यतां च नौः ॥१२५॥

मित्रेण देशांतरिणा ततः स प्रतिबोधितः ।
किमिदं मित्र ते जातं क्व रत्नं क्व जलं क्व नौः ॥१२६॥

शुचं त्यज महाबंधो भज धैर्यं विषीद मा ।
भूरीणि तव रत्नानि भविष्यंति मयि स्थिते ॥१२७॥

इदं मदीयं रत्नं वा गृहाण गुणवत् परम् ।
अद्यापि रैवतो भूभृदस्ति किं विलपपन्नसि ॥१२८॥

इति मित्रस्य वचसा धैर्यमालंब्य चेतसा ।
समुद्रं च समुल्लंघ्य क्रमात् प्रापत्तटावनीम् ॥१२९॥

चलितौ तु ततस्तौ द्वौ प्रति रैवतपर्वतम् ।
पथि रत्नसुपाथेयौ चौरे मुष्टौ कुदैवतः ॥१३०॥

असंबलौ विवसनौ निराहारौ श्रितक्षमौ ।
तौ निरीक्ष्य मुनिं कंचिन्मुमुदाते भृशं पथि ॥१३१॥

नत्वा तौ मुनये भक्त्या शांतस्वांताय हर्षितौ ।
शशंसतुः स्वच्छचित्तौ स्ववृत्तांतमथार्तितौ ॥१३२॥

मुने ! दरिद्राऽभाग्यानामावं जानीहि भूपती ।
अतः पर्वतपातेन मरणायऽभिलाषुकौ ॥१३३॥

धाराधरो विना वारि विना जीवं कलेवरम् ।
विना गंधं च सुमनो विना पद्मं लु(ज)लाशयः ॥१३४॥

विना तेजस्य शशभृद्विना वाणीं च संस्कृतं ।
विना कुलीनताऽऽचारं विना विद्यां तपस्विता ॥१३५॥

विना गृहं च गृहिणीं नयश्च विनयं विना ।
विना दोषाकरं दोषा प्रासादः प्रतिमां विना ॥१३६॥

विना वयश्च शृंगारो विना सेना च नायकम् ।
विना कुलं सुपुत्रं च विना दानं यथा धनम् ॥१३७॥

विना दयां महाधर्मो विना सत्यं च वक्तृता ।
यथा विनाक्षिणी वक्त्रं तथा द्रव्यं विना नरः ॥१३८॥ कुलकं

इति तद्वचनं श्रुत्वा सविषादं मुनीश्वरः ।
अनल्प-कृत(प)योपेतो जजल्प प्रतितो वचः ॥१३९॥

धर्मोऽभवत् भीम ! सन्नकृन् (सकृत्) कुतः पूर्वजन्मनि ।
ततो निद्रव्यता ह्येषा मा प्राणेषु विषीद तां ॥१४०॥

कुले जन्माऽपरोगत्वं सौभाग्यं सौख्यमद्भुतम् ।

मातंगा जन्मलक्षैस्तु परिचर्याऽऽर्यता तथा ।
चक्रि शक्रेश्वरत्वं च धर्मादेव हि देहिनाम् ॥१४१॥ युग्मं ।

तमो (तो) माऽत्र गिरौ प्राणत्यागं हि कुरुतां युवाम् ।
रैवतं पर्वतं यातं सर्व चिंतितदायकम् ॥१४२॥

भीमसेन ! त्वया पूर्वे जन्मन्यन्यातो मुनिः ।
अष्टादश (घ) टीयावत् पीडितसत्फलं ह्यतः ॥१४३॥

आराध्या न विराध्यंते विबुधैर्दुर्विधा अपि ।
तद्विराधनतः कष्टं मिष्टंतत्सेवनात्विह ॥१४४॥

अतः परं च ते भद्रं भविष्यति न संशयः ।
व्यतीतो ह्यशुभः कालः मा विषादं मनाक् कुरु ॥१४५॥

त्वयैव भाविनी भूमिर्निखिलाजिन मंडिता ।
न त्वत्सदृग्नरः कश्चित् महापुण्यो भविष्यति ॥१४६॥

मुनेरित्युपदेशेन स देशांतरिणा समम् ।
मुनिं नत्वाऽचलच्चारु चिंतयन् प्रति रैवतम् ॥१४७॥

क्रमादऽथ गिरिं प्राप्य गंतुं भीमोऽर्हदालये ।
गृहीत्वाऽऽरात्रिकं संघाऽऽमात्यसंयुक्तमैक्षत ॥१४८॥

विधायाऽऽरात्रिकं सोऽपि भीमं च उपलक्ष्य च ।
अमात्यानवदन्नेवमितः किंचिद्विलोक्यताम् ॥१४९॥

(आ) × तिथ्यमं विलोक्याऽथ प्रोचू राजन् भवेदऽसौ ।
भीमसेनः श्चरेर्यः सन् प्रतिदेशं विलोकितः ॥१५०॥

इतश्च सर्वैरुत्थाय राजा संजातहर्षतः ।
भीमसेनं समाश्लिष्य हर्षात् किंचिन्नमामस ॥१५१॥

भीमसेनोऽपि तं श्लिष्टमाश्लिष्याऽऽश्लिष्य हर्षभाक् ।
चुचुंब मूर्ध्नि सन् प्रीतिवल्लीवदृर्धनबाष्पमुक् ॥१५२॥

इति प्रोचेऽनु(ज) भक्त्या भीमसेन ! मया विभो ।
न तत्किंचिदिहस्थानं यत्र त्वं ना वि (व्य) लोक्यत ॥१५३॥

क्व भ्रातर भवोभूरि वत्सराणि मया विना ।
न्यासवद्रक्षितं राज्यं स्वीकरोतु भवान् स्वकम् ॥१५४॥

इत्यस्य विनयोक्तेन प्रमोदपरमानसः ।
सचिवै राज्यभारं सोऽंगीचकार सुसारधीः ॥१५५॥

जलैः स्नात्वाऽथ विमलैः भीमसेनः सुवासनः ।
जिनं स्नाप्याऽर्चयित्वा चाऽरात्रिकं विधिना व्यधात् ॥१५६॥

अष्टाह्निकां प्रतिदिनं नवैस्तत्र महोत्सवैः ।
जिनं सो पूजन्नेमिं सह भ्रान्त्वा (त्रा)ऽनुजेन च ॥१५७॥

ततो नत्वा जिनाधीशं स्वदेशं प्रति सोऽचलत् ।
संपूजितः पथि नृपैः स्वां पुरीं प्रापदुत्सवैः ॥१५८॥

अथ पौराः कृतोत्साहास्तं निरीक्ष्य सुलक्षणम् ।
उत्सवैर्विविधै र्नृत्यादिभिः प्रावेशयत् पुरीं ॥१५९॥

गृह्णन् जालाः (लाजा) पुरस्त्रीणां करैः मुक्ता गवाक्षतः ।
आशीः पुरस्सरं प्रापदुन्मना निजमंदिरम् ॥१६०॥

वस्तुद्रविणतांबूलवाजिवाऽवीक्षणादिभिः ।
सन्मान्यापेक्ष्य लोकं तं स सद्मांतस्ततोऽविशत् ॥१६१॥

कुलदेवान् स नत्वाऽथ भुक्त्वा सार्धं स्वबंधुना ।
विश्रम्य च क्षणं प्रापत् सभां सभ्यैः सभाजितम् ॥१६२॥

ररक्ष स्वं न तत्रसु चक्रे धर्मं गतामयः ।
जग्राहार्थान् न लोभार्थी समभुंक्त न शक्तितः ॥१६३॥

चौराणां समभूद्वार्ता नाऽऽर्ताः पौराः कदाचन ।
न स्व कर्मच्युतिर्लोके यस्मिन् राज्यं प्रकुर्वते ॥१६४॥

स्मरन् पित्रोः सदा स्वेन हत्ययोः शोकतत्परः ।
तावुद्दिश्य महीमेनामादधे जिनमंडिताम् ॥१६५॥

दुःस्थानां दलयन् दैन्यं गुरुदेवेषु भक्तिभाक् ।
राज्यं चकार संसारविकारत्रासकारकः ॥१६६॥

अलंघ्यो वैरिणां दत्तयौवराज्यो निर्जानुजौ ।
मित्राय देशांतरिणे कोशव्यापारमादिशत् ॥१६७॥

सोऽन्यदा बहिरुद्याने जिनपूजनसोद्यमम् ।
गतो विद्याधरं वीक्ष्य प्रपच्छेत्ति कुतो भवत् ॥१६८॥

सोऽपि तं प्राह भूपाल ! नमस्कृत्य जिनानहम् ।
शत्रुंजयोज्जयंताद्रयोरिहाऽऽगां श्रीजिनांतिकम् ॥१६९॥

अथ राज्येऽपि तद्वाक्यात् जिनं सस्मार रैवते ।
चिंतयन्निति धिग् जन्म मम यो न नमामि तम् ॥१७०॥

राज्यं दत्त्वाऽनुजायाऽथ जयसेनाय तत्क्षणात् ।
चचालाऽल्पपरीवार रुद्धियुक् रेवतं प्रति ॥१७१॥

क्रमाच्छत्रुञ्जयं गत्वा पूजयित्वाऽऽदिमं जिनम् ।
अष्टाह्निकामहं कृत्वा ततोऽगाद्रैवतं गिरिम् ॥१७२॥

कर्पूरकेसरैश्च स चंदनै ननन्द नोद्रवैः ।
तत्राऽर्च्य नेमीशं विधिना विविधैः सुमैः ॥१७३॥

दानशीलतपोभावभेदैरब्दचतुष्टयम् ।
सोऽतिचक्राम सर्वेषां पूरयन्नर्थमर्थिनाम् ॥१७४॥

ज्ञानं चंद्रादथाचंदो दीक्षामादायमुक्तिदाम् ।
तपत्येतपोऽत्यंतं भीमसेनो महामुनिः ॥१७५॥

पूर्वमीदृग् महापापकरोऽयं यत्र पर्वते ।
अतोऽष्टमदेन भूत्वा केवली मुक्ति मे क्षिति (मेष्यति) ॥१७६॥

इतमेतस्य माहात्म्यं पर्वताधिपते सुराः ।
ज्ञानचंद्रमुनीद्राऽऽस्यात् श्रृणुमोऽर्बुद गत्वेयं ॥१७७॥

महापापप्रकर्तारो महाकुष्ठादिरोगिणः ।
भवंति सर्वसौख्याऽऽद्या नरा रैवतसेवनात् ॥१७८॥

अल्पमप्यत्र भावेन प्रदत्तं बहुधा भवेत् ।
सूक्तिसीमंतिनीप्राप्तिकरं च बहु वृद्धिमत् ॥१७९॥

द्रव्याऽभिलाषिणो द्रव्यं शर्म सौख्याऽभिलाषिणः ।
राज्यार्थिनोऽत्र राज्यं च प्राप्नुवंति द्रतामपि ॥१८०॥

स्वयं श्रीनेमिनाथोऽपि यत्तीर्थंश्रितवानतः ।
कैरन्यैः सेव्यते नैतत् सर्वपापाऽपहारकम् ॥१८१॥

माहेंद्रेंद्रादिति श्रुत्वा देवास्ते भक्तितत्पराः ।
विधिना जिनमर्चित्वा ययुः कल्पं निजं निजम् ॥१८२॥

इति श्री तीर्थराजश्री शत्रुंजय श्री गिरनारमाहात्म्यगर्भा
श्री भीमसेनराजर्षिकथा ॥ माहेंद्रेण सुराग्रे कथिता ॥श्री॥

□ □ □

अश्रुवीणा में उपचारवक्रता

दीनानाथ शर्मा

'अश्रुवीणा' आचार्य महाप्रज्ञजी का एक अप्रतिम गीतिकाव्य हैं। इसमें अनेकविध साहित्यिक सामग्री भरी पड़ी है। अलंकार, रस, ध्वनि, संवाद, गुण आदि तत्त्व इसमें कूट-कूट कर भरे हैं। डॉ० हरिशंकर पाण्डेय ने इस काव्य की व्याख्या करते समय इन सभी तत्त्वों की विशद चर्चा यथास्थान की है। वैसे तो इस काव्य का मुख्य रस भक्ति है लेकिन कहीं कहीं करुण आदि अन्य रसों का भी परिपाक हुआ दीखता है। इस काव्य में लक्षणा व्यञ्जना आदि शब्दशक्तियाँ भी परिलक्षित होती हैं। प्रस्तुत लेख में लक्षणा निरूपण पर विचार किया गया है।

अश्रुवीणा में उपचारवक्रता पर विचार करने से पूर्व लक्षणा के स्वरूप पर विचार कर लेना आवश्यक प्रतीत होता है। काव्यशास्त्र के लिए प्रकाश स्तम्भ रूप काव्यप्रकाश के प्रणेता आचार्य मम्मट ने लक्षणा की व्यापक परिभाषा दी है। वैसे तो वेदार्थ निर्वचन के प्रसंग में सर्वप्रथम यास्क ने निरूक्त के दैवतकाण्ड में बहुभक्तिवादीनि ब्राह्मणवचनानि[1] कहकर भक्ति या लक्षणा की ओर स्पष्ट संकेत किया है। आगे चलकर मीमांसा सूत्र और भाष्य में अनेकशः लक्षणाविषयक संकेत प्राप्त होने लगे। मम्मट ने लक्षणा की जो परिभाषा दी है वह इस प्रकार है :

मुख्यार्थबाधे तद्योगे रूढितोऽथ प्रयोजनात्।
अन्योऽर्थो लक्ष्यते यत्सा लक्षणा आरोपिता क्रिया॥ का० प्र० २.९

जब किसी वाक्य का प्रयोग किया जाता है तो सर्व प्रथम मुख्यार्थ की उपस्थिति होती है फिर जब उनके परस्पर अन्वय पर विचार किया जाता है तब देखा जाता है कि वाक्यगत शब्दों में परस्पर मिलने की शक्ति है या नहीं यथा गङ्गायां घोषः में गङ्गा और घोष में परस्पर मिलने की शक्ति नहीं हैं क्योंकि गङ्गा अर्थात् गङ्गा की धारा और उसमें फिर घर—ये दोनों एक साथ प्रयुक्त नहीं हो सकते क्योंकि गङ्गा की धारा घर का आधार नहीं बन सकती। इसलिए यहाँ अन्वय की अनुपपत्ति होती है। बहुतेरे उदाहरण ऐसे भी हैं जिनमें अन्वय की उपपत्ति तो हो जोती है लेकिन फिर भी लक्षणा वहाँ प्रवृत्त होती है जैसे—काकेभ्यो दधि रक्ष्यताम्। इसमें कौओं से दही को बचाना सम्भव है। साथ ही कौओं जैसे अन्य जीव या बालक आदि से

---

१. तिसु एव देवता इत्युक्तं पुरस्तात्। तासां भक्तिसाहचर्य व्याख्यास्यामः। अथौतानि अग्निभक्तीनि। निरुक्त -दैवतकाण्डम् पृ. २१२.

भी दही को बचाना चाहिए—यह अर्थ लक्षणा से प्राप्त होता है। यहाँ अन्वय की उपपत्ति होने के बावजूद तात्पर्य की उपपत्ति नहीं होती इसलिए यही अर्थ समीचीन प्रतीत होता है लक्षणा की पहली शर्त मुख्यार्थबाध का। दूसरी शर्त है तद्योगे। मुख्यार्थ से भिन्न किसी ऐसे अर्थ का लिया जाना जो मुख्यार्थ से सम्बद्ध हो और उसको लेने से मुख्यार्थ सम्बन्धी बाधा दूर हो सके। जैसे गङ्गायां घोषः से गङ्गा शब्द, अपने मुख्यार्थ गङ्गाप्रवाह को छोड़कर गङ्गातट कर लेता है जिससे उत्पन्न हुई बाधा दूर हो जाती है क्योंकि गङ्गातट पर घर होना सम्भव है। लक्षणा की तीसरी शर्त रूढि अथवा प्रयोजन है। कुशल शब्द का प्रयोग कार्य करने में जो चतुर हो उसके लिए होता है लेकिन यह अर्थ कुशल शब्द का मुख्यार्थ नहीं है। कुशल उसे कहते हैं जो कुश नाम की घास लावे क्योंकि कुश घास लाना आसान नहीं होता। उसे उखाड़ते समय हाथ के कटने का या चिर जाने का भय होता है इसलिए इसे उखाड़ते समय बहुत सावधानी रखनी पड़ती है। जो एक चतुर व्यक्ति ही कर सकता हैं। उसी अर्थ को व्यापक बनाकर किसी भी भाग में चतुर व्यक्ति को कुशल कहा जाने लगा। कुशल शब्द-चतुर अर्थ में रूढ हो गया। इस प्रकार इसमें रूढि से लक्ष्यार्थ का ज्ञान किया गया। गङ्गायां घोषः वाले उदाहरण में गङ्गा की धारा का लक्ष्यार्थ गङ्गातट एक विशेष प्रयोजन से लिया गया। वह प्रयोजन है गङ्गा की शीतलता और पवित्रता उसकी धारा के अतिरिक्त उसके किनारे पर भी व्याप्त है तो गङ्गा की शीतलता और पवित्रता की व्यापकता जो किनारे तक है बताना प्रयोजन है।

इस प्रकार लक्षणा के ये तीन घटक हैं। ध्यान रहे कि लक्षणा एक शब्द की शक्ति है जो लक्ष्यार्थ प्राप्त कराने में सहायक होती है। अब हम लक्षणा के इन तीन घटकों की सहायता से अश्रुवीणा में घटित लक्षणा का अवलोकन करेंगे।

इसमें सर्वप्रथम तो पहला श्लोक ही लक्षणामय है जिसमें श्रद्धा को सम्बोधित कर उसके स्वभाव का वर्णन किया जा रहा है। दुधमुँहे बच्चे से प्रेम करना, तर्क से खिन्न विद्वानों से प्रेम करना और तर्क से विमुख रहना किसी सचेतन और विवेकी जीव का कार्य हो सकता है श्रद्धा ऐसी कोई जीव नहीं है वह तो मानव मात्र के मन की एक प्रक्रिया है जो सर्वथा अमूर्त है इसलिए श्रद्धे ! मुग्धान् शिशून् प्रणयसि आदि वाक्य में अन्वयानुपपत्ति के कारण मुख्यार्थ बाधित है। तब-श्रद्धा की निर्दोषता और सरलता बताने के उद्देश्य से दूसरा अर्थ लिया जाता है कि श्रद्धा मुग्ध, भद्र, सरल-स्वभावी बच्चों को होती है साथ ही उन विद्वानों को भी होती है जो तर्क करके खिन्न हो गये हैं। पर उन्हें नहीं होती जो तर्क करते हैं। यहाँ प्रयोजनवती लक्षण लक्षणा है।

दूसरे श्लोक में भी श्रद्धा को सम्बोधित कर उसमें मानव सहज क्रियाओं का आरोप किया गया है जो लक्षणाजन्य है। तीसरा श्लोक इस प्रकार है :—

तत्रानन्दः स्फुरति सुमहान् यत्र वाणीं श्रिताऽसि,
दुःखं तत्रोच्छलति विपुलं यत्र मौनावलम्बा ।
किं वाऽऽनन्दः किमसुखमिदं भाषसे सप्रयोगं
त्वामाश्लिष्य स्वमतिजटिलास्तार्किका अत्र मूढा ॥३॥

इस श्लोक में श्रद्धा को सम्बोधित कर कहा गया है कि
—हे श्रद्धे ! तुम जब बोलती हो तो आनन्द स्फुरित होता है ।
—जब चुप रहती हो तो दु:ख उछलता है ।
—तुम सुख या दु:ख को प्रयोग द्वारा परिभाषित करती हो ।
—तुम्हें छोड़कर अपनी मति में उलझे हुए तार्किक लोग इस विषय में मूढ हो जाते हैं ।

प्रथम वाक्य में श्रद्धा का बोलना और आनन्द का स्फुरित होना सम्भव नहीं है क्योंकि यह काम तो सचेतन जीव का है और श्रद्धा और आनन्द एक अमूर्त मानसिक स्थितियाँ है । तब यह वाक्य अपनी सिद्धि के लिए अपने नज़दीक के दूसरे अर्थ को आरोपित कर लेता है और अर्थ होता है - श्रद्धावान् व्यक्ति का कार्य सफल होता है और इस सफलता में श्रद्धा स्पष्ट परिलक्षित होती है । इस वाक्य में प्रयोजन है—श्रद्धा की अतिशयित उत्कृष्टता जो व्यङ्ग्य है ।

दूसरे वाक्य में श्रद्धा के अभाव में दु:ख ही दु:ख होता है—यह अर्थ लक्षणाजन्य है, जिसमें श्रद्धा की अपरिहार्यता द्योतित करना प्रयोजन व्यङ्ग्य है । तीसरे और चौथे वाक्य में श्रद्धावान् व्यक्ति सुखी और श्रद्धाहीन व्यक्ति दु:खी और मूढ़ होता है । यह अर्थ लक्षणा द्वारा सूचित है प्रयोजन वही श्रद्धा की अपरिहार्यता ।

चित्रं चित्रं तव सुमृदवः प्राणकोशास्तथापि
कष्टोन्मेषे दृढतमगतौ मानवे चानुरागः ।
श्रद्धाभाजौ जगति गणिताः सन्दिहाना असंख्याः
श्रद्धापात्रं भवति विरलस्तेन कश्चित्तपस्वी ॥५॥

—हे श्रद्धे ! तुम्हारे प्राणकोष अत्यन्त कोमल हैं फिर भी विपत्ति के बवण्डर में कठोर मति वाले मनुष्य में अनुराग रखती हो यह आश्चर्य की बात है । संसार में श्रद्धावान् बहुत कम लोग है जबकि सन्देहशील अधिक । इसलिए कोई विरल तपस्वी ही श्रद्धा का पात्र होता है।

इस श्लोक की प्रथम दो पंक्तियाँ देखें तो श्रद्धा से उसके निवास की बात कही जा रही है । यहाँ भी पहले की तरह मुख्यार्थ बाधित हो रहा है क्योंकि श्रद्धा का किसी चेतनशील विवेकी पुरुष की तरह निवास करना सम्भव नहीं है । इसलिए यह वाक्य अपनी सिद्धि के लिए अपने निकट के दूसरे अर्थ को आरोपित कर लेता है । वह अर्थ है—श्रद्धा दृढ मति वाले व्यक्ति में ही रहती है । इसका प्रयोजन यह बताना है कि श्रद्धा एक ऐसी मानसिक प्रक्रिया है जो अत्यन्त कोमल है और इसका बदला जाना नितान्त सम्भव है । ऐसी श्रद्धा का किसी दृढ बुद्धि वाले व्यक्ति में रहना ही सम्भव है । यह बात व्यंग्य है ।

'आशास्थानं त्वमसि भगवन्' स्त्रीजनानामपूर्वं,
त्वत्तो बुद्ध्वा स्वपदमुचितं स्त्रीजगद् भावि धन्यम् ।
जिह्वां कृष्ट्वाऽसहनरथिकः काममत्तोऽम्बयामे,
दृष्टिं नीतोऽस्तमितनयनस्तत्र दीपस्त्वमेव ॥४॥

अर्थ :— भगवन् ! तुम स्त्रियों के लिए अपूर्व आशास्थान हो । स्त्रीजगत् अपने उचित स्थान को जानकर धन्य होगा । मेरी माता ने अपनी जिह्वा खींचकर कामोन्मत्त, अस्तमित नयन और क्रूर रथिक की आँखे खोल दी थी । उस समय आप ही दीप थे ।

इस श्लोक में "तत्र दीपस्त्वमेव" वाक्य का मुख्यार्थ है "वहाँ तुम ही दीपक थे" । अब महावीरस्वामी या किसी भी ऐसे व्यक्ति का दीपक होना सम्भव नहीं क्योंकि व्यक्ति एक चेतन जीव है जो अपना काम स्वयं कर लेता है जब दीपक एक निर्जीव पदार्थ है जो स्वयं कुछ नहीं कर सकता । इसलिए महावीर स्वामी और दीपक एक नहीं हो सकते । इसलिए मुख्यार्थ बाधित हुआ । अब मुख्यार्थ अपनी सिद्धि के लिए दूसरे अर्थ को आरोपित कर लेता है वह अर्थ है–हे भगवन् ! तुम मुझे दीपक की तरह ज्ञान का प्रकाश देने वाले थे । यही अर्थ कवि को विवक्षित है । इसमें गौणी लक्षणा है क्योंकि गुणों के आधार पर महावीर स्वामी पर दीपक का आरोप किया गया है । महावीर स्वामी लोगों को ज्ञान देकर अज्ञान दूर करते हैं तो दीपक अपना प्रकाश फैलाकर अन्धकार दूर करता है । यहाँ पर गौणी लक्षणा सिद्ध हो रही है । इसमें प्रयोजन है वह ज्ञान जो महावीर स्वामी ने धारिणी को दिया था वह दीप प्रकाश की तरह शीघ्र ही अज्ञान के अन्धकार को हटाने वाला था । यह व्यञ्जना से प्राप्त है ।

चित्राशक्तिः सकलविदिता हन्त युष्मासु भाति,
रोद्धुं यन्नाक्षमत पृतना नापि कुन्ताग्रमुग्रम् ।
खातं गर्ता गहन गहनं पर्वताश्चापगापि,
मग्नाः सद्यो वहति विरलं तेऽपि युष्मत्प्रवाहे ।१२४।

हे आँसुओं । आश्यर्य की बात है कि तुम्हारे अन्दर अद्भुत शक्ति सुशोभित है, जो सब जानते हैं । जिन्हें न तो सेना न उग्र नोक वाले भाले, न गहरी खाई, न गुफा, पर्वत व नदियाँ रोकने में समर्थ हैं उन्हें भी तुम्हारे विरल प्रवाह बहा देते हैं । इस श्लोक में मग्नाः सद्यो वहति विरल तेऽपि युष्मत्प्रवाहे । इस पंक्ति का मुख्यार्थ है वे भी तुम्हारे (आँसुओं के) विरल प्रवाह में बह जाते हैं । यह वाक्यार्थ उपपन्न नहीं होता क्योंकि एक तो अश्रुप्रवाह हो वह भी विरल और उसमें अनेक लोग बह जाय यह सम्भव नहीं है इसलिए यह वाक्य अपनी सिद्धि के लिए दूसरे अर्थ को आरोपित कर लेता है और तब उसका अर्थ होता है—आँसू देखकर लोगों को अधिक संवेदना होती है । यह हुआ लक्ष्यार्थ । इसका प्रयोजन यही है कि अश्रु के कारण लोग इतने संवेदनशील हो जाते हैं कि वे अपना कार्य छोड़कर उस दुःखी व्यक्ति के सहायतार्थ पहुँच जाते हैं यही आशय है–यात्राक्षमत रोद्धुं पृतना आदि वाक्य का । ये सारे अर्थ व्यंग्य हैं ।

आरक्तापि क्षणमथ न सा बाष्पसङ्गं मुमोच,
प्लुष्टो लोक पिबति पयसा फूत्कृतैश्चापि तक्रम् ।
सम्प्रेक्षायामधृतितरलाचक्षुणां कातराणा-
मासन् भावाः किमिव दधतो मज्जनोन्मज्जनानि ।।५२।।

अर्थ :— भगवान् के रूकने पर वह आश्वस्त होती हुई भी क्षण भर आँसुओं को नहीं छोड़ा क्योंकि दूध का जला छाछ को भी फूँक कर पीता है। उस समय चन्दना की आँखों में अस्थिर और चञ्चल भाव डूब उतरा रहे थे।

३. इस श्लोक की अन्तिम दो पंक्ति में चन्दना की आँखो में चंचलभावों का डूबना उतराना कहा गया है। डूबना और उतराना क्रिया पानी में सम्भव है आँखों में नहीं। इसलिए यह मुख्यार्थ बाधित हुआ और अपनी सिद्धि के लिए अन्य अर्थ का आरोप कर लिया वह अर्थ है चन्दना की आँखे इतनी चंचल थीं कि उनसे अनेक भाव कभी प्रतीत होते थे तो कभी प्रतीत नहीं होते थे यह अर्थ लक्षणाजन्य है। इसका प्रयोजन है : महावीर स्वामी जब उसकी भिक्षा लेने वापस लौट रहे थे तब उसके नयन इतने चंचल थे कि यह कह पाना कठिन था कि कौन-सा भाव प्रतीत हुआ और कौन सा भाव तिरोहित हुआ। अर्थात् भगवान् महावीर आ रहे है इससे प्रसन्नता का भाव उत्पन्न हुआ। वे कहीं चले न जाँय इसलिए विषाद का भाव उत्पन्न हुआ। इस प्रकार उसकी दृष्टि में ये सब भाव एक एक करके प्रतीत और तिरोहित हो रहे थे।

इसके अतिरिक्त अश्रुवीणा में अनेक श्लोक ऐसे हैं जिनमें लक्षणा (उपचार वक्रता) स्पष्ट प्रतीत होती है। जैसे श्लोक संख्या ६४ में कहा गया है :—

बोद्धुं नालं स्वमतिरचिते जीवनस्याध्वनीह,
गर्ताः शैलाः कति च कति वा मोटनानि भ्रमा वा।
अन्यं कञ्चित् व्रजति तनुमानेकमुल्लङ्घ्य पूर्व-
मावर्तं तद्भवति सहसा विस्मृतिः प्राक्तनस्य ॥६४॥

इस श्लोक में जीवन का मार्ग, उसमें फिर गड्ढे, पर्वत मोड़ और आवर्त का होना सर्वथा बाधित है क्योंकि ये सब तो पार्थिव मार्ग पर देखे जाते हैं जीवन में नहीं। हाँ, इनके समान दुःखकारी परिस्थितियाँ अवश्य आ जाती हैं जो जीवन की सुचारुता में बाधक होती हैं। यहीं अर्थ कवि को अभिप्रेत है जो लक्षणाजन्य है। इसका प्रयोजन है जीवन के दुःखों की भयंकरता प्रतिपादित करना।

इसी प्रकार श्लोक श्लोक संख्या ६५, ६८, ७३, ७४ में लक्षणा के लक्षण देखें जा सकते हैं।

सन्दर्भग्रन्थ :

१. अश्रुवीणा—आचार्य महाप्रज्ञ, सम्पादक : डॉ० हरिशंकर पाण्डेय : प्रकाशक जैनविश्व भारती, लाडनूँ।

२. काव्यप्रकाश : आचार्य मम्मट, व्याख्या : डॉ० रामसागर त्रिपाठी, प्रका० मोतीलाल बनारसीदास दिल्ली १९८५।

३. निघण्टु तथा निरुक्त संपादक लक्ष्मणस्वरूप मोतीलालबनारसीदास, दिल्ली, १९८५

□ □ □

बीसवीं शताब्दी की जैन संस्कृत रचनाएँ, उनका वैशिष्ट्य और प्रदेय

भागचन्द्र जैन 'भागेन्दु'

जैन वाङ्मय अखिलभारतीय वाङ्मय का एक समृद्ध और सुसंस्कृत भाण्डागार है। एक तो आधुनिक युगीन संस्कृत साहित्य पर ही अध्ययन-अनुशीलन नगण्य जैसा है फिर जैन काव्य-साहित्य के अध्ययन-अनुशीलन की स्थिति तो और भी अधिक चिन्तनीय कही जायगी।

मैंने अपने इस आलेख में संस्कृत के बीसवीं शताब्दी में प्रादुर्भूत, जैन रचनाकारों और उनकी रचनाओं का अनुशीलीन करने का विनम्र प्रयास किया है।

वस्तुतः इस शताब्दी के जैन रचनाकारों और उनकी रचनाओं के आभामंडल से सम्पूर्ण संस्कृत वाङ्मय सुवासित हो उठा है।

इस शताब्दी के जैन रचनाकारों में केवल जन्मना जैन ही नहीं हैं प्रत्युत जैनेतर वर्गों में उत्पन्न होकर जैन विषय पर रचना करने वाले बहुत से मनीषी भी सम्मिलित हैं। इस कालखण्ड में जैन काव्य की समृद्धि में केवल गृहस्थ मनीषियों का ही योगदान नहीं है प्रत्युत निर्ग्रन्थ आचार्यों, मुनियों और साध्वियों का प्रशस्त योगदान भी उल्लेखनीय है।

अन्तर्विभाजन :-

जीवन के बदलते सन्दर्भों और आवश्यकताओं के अनुरूप बीसवीं शताब्दी में संस्कृत-भाषा में जैन विषयों पर बहु आयामी चिन्तन परम्परा से समृद्ध काव्यसाहित्य का सृजन हुआ है। इस शताब्दी के साहित्य को तीन भागों में विभक्त कर सकते हैं।

१. मौलिक रचनाएँ

२. टीका ग्रन्थ।

३. अन्य ग्रन्थ।

मौलिक रचनाओं के अंतर्गत इस काल खंड में विरचित महाकाव्य, खण्डकाव्य-दूतकाव्य, स्तोत्रकाव्य और शतक ग्रन्थ सम्मिलित है। इनके अन्तर्गत चम्पूकाव्य, श्रावकाचार तथा नीति विषयक रचनाओं के साथ स्फुट रचनाओं का भी समावेश किया गया है। टीका ग्रन्थों के

अंतर्गत ऐसी रचनाएँ सम्मिलित हैं, जो इस शताब्दी में टीका-ग्रन्थ के रूप में प्रणीत हैं। इस शताब्दी में कुछ ऐसी भी रचनाएँ प्राप्त होती हैं, जो उपर्युक्त विश्लेषण क्रम में स्थान नहीं पा सकीं। उनका अन्य ग्रन्थों के रूप में उल्लेख किया गया है।

बीसवीं शताब्दी में विरचित जैन संस्कृत महाकाव्यों / काव्यों की सूची निम्न प्रकार है :-

जयोदय महाकाव्यम्	– आचार्य ज्ञानसागर
वीरोदय महाकाव्यम्	– आचार्य ज्ञानसागर
श्री भिक्षु महाकाव्यम्	– मुनि नथमल
पुण्य श्री चरित महाकाव्यम्	– पं० नित्यानन्द शास्त्री
क्षमा कल्याण चरितम् महाकाव्यम्	– पं० नित्यानन्द शास्त्री
शांति सिन्धु महाकाव्यम्	– आचार्य घासीलाल
लोंकाशाह महाकाव्यम्	– आचार्य घासीलाल
श्री तुलसी महाकाव्यम्	– पं० रघुनन्दन शर्मा
स्वर्णाचल माहात्म्य	– श्री बालचन्द्र जैन
बाहुबली महाकाव्यं प्राकृत	– डॉ० उदयचन्द्र जैन
लोंकाशाह महाकाव्यम्	– पं० मूलचन्द्र शास्त्री
सुदर्शनोदय	– आचार्य ज्ञानसागर
भद्रोदय	– आचार्य ज्ञानसागर
शांतिसुधा सिंधु	– आचार्य कुन्थसागर
प्रभव प्रबोध काव्यम्	– चन्दनमुनि
पंचतीर्थी	– चन्दनमुनि
अर्जुनमालाकारम्	– चन्दनमुनि
संवरसुधा	– चन्दनमुनि
अश्रुवीणा (दूतकाव्य)	– मुनि नथमल
रत्नपाल चरितम्	– मुनि नथमल
माथेरान सुषमा	– मुनि नगराज
धर्म कुसुमोद्यानम्	– पं० पन्नालाल साहित्याचार्य
पाण्डव विजय	– मुनि डुंगरमल
गीतिसंदोह:	– मुनि दुलीचन्द 'दिनकर'
संस्कृत गीतिमाला	– साध्वी संघमित्रा
भाव-भास्कर काव्यम्	– धनराज द्वितीय

बुन्देलखण्ड गौरवकाव्यम्	-	पं० गोविन्दराम शास्त्री
भुजबली चरितम्	-	पं० के० भुजबली शास्त्री
जय-पराजयम्	-	डॉ० उदयचन्द्र जैन

दूतकाव्यम्

वचनदूतम्	-	पं० मूलचन्द्र शास्त्री

स्तोत्र/स्तुति :-

श्री गुरोः शिवसागरस्य स्तवः	-	आचार्य ज्ञानसागर
शारदास्तुतिरियम्	-	आचार्य विद्यासागर
महावीरस्तवनम्	-	डॉ० पन्नालाल साहित्याचार्य
महावीर स्तोत्रम्	-	डॉ० पन्नालाल साहित्याचार्य
सामायिक पाठः	-	डॉ० पन्नालाल साहित्याचार्य
बहुबल्यष्टकम्	-	डॉ० पन्नालाल साहित्याचार्य
विद्यासागराष्टिकम्	-	डॉ० पन्नालाल साहित्याचार्य
आचार्य शान्तिसागर वंदना	-	डॉ० पन्नालाल साहित्याचार्य
संघमसिन्धु प्रणमामि नित्यम्	-	डॉ० पन्नालाल साहित्याचार्य
आचार्य धर्मसागरमहाराजं प्रति	-	डॉ० पन्नालाल साहित्याचार्य
तंद देशभूषणमर्षिमहं समीडे	-	डॉ० पन्नालाल साहित्याचार्य
साधुवन्दना	-	डॉ० पन्नालाल साहित्याचार्य
विनयांजलयः	-	डॉ० पन्नालाल साहित्याचार्य
वृत्तहारः	-	डॉ० पन्नालाल साहित्याचार्य
श्री शान्तिसागर स्तुतिः	-	आर्यिका श्री ज्ञानमती माताजी
श्री शिवसागर स्तुतिः	-	आर्यिका श्री ज्ञानमती माताजी
श्री महावीर कीर्तिस्तुतिः	-	आर्यिका श्री ज्ञानमती माताजी
श्री धर्मसागराष्टकम्	-	आर्यिका श्री ज्ञानमती माताजी
देवगुरु स्तोत्रम्	-	मुनि सोहनलाल
भगवत् स्तुतिः	-	मुनि सोहनलाल
आचार्य शिवसागरस्तोत्रम्	-	आर्यिका सुपार्श्वमती माताजी
अष्टोत्तरशातनामस्तोत्रम्	-	आर्यिका विशुद्धमती माताजी
जम्बूजिनाष्टकम्	-	डॉ० दरबारीलाल कोठिया
वीराष्टकम्	-	पं० वंशीधर व्याकरणाचार्य

श्री तुलसी स्तोत्रम्	–	मुनि पूनमचन्द्र
वीतराग स्तुतिः	–	चन्द्रन मुनि
तेरापंथी स्तोत्रम्	–	मुनि नथमल
तुलसी स्तोत्रम्	–	मुनि नथमल
जिनचतुर्विंशतिका	–	मुनि नथमल
चतुर्विंशति स्तवनम्	–	आचाय तुलसी
श्रीतुलसी स्तोत्रम्	–	मुनि बुद्धमल
शिवाष्टकस्तोत्रम्	–	आर्यिका जिनमती माताजी
गुरुगौरवम्	–	मुनि डूंगरमल
पद्मप्रभस्तवनम्	–	पं० जवाहरलाल शास्त्री
आचार्य ज्ञानसागर संस्तुतिः	–	पं० मूलचन्द्र शास्त्री
अभिनव स्तोत्रम्	–	पं० मूलचन्द्र शास्त्री
गणेश स्तुतिः	–	पं० मूलचन्द्र शास्त्री
आचार्य शिवसागरस्तुतिः	–	पं० मूलचन्द्र शास्त्री
श्रीमद् वर्णि गणेशाष्टकम्	–	पं० ठाकुरदास शास्त्री
पपौराष्टकम्	–	पं० मूलचन्द्र शास्त्री
वर्णीसूर्यः	–	पं० अमृतालाल दर्शनाचार्य
तं नम्यते मुनिवरप्रमुखाय तस्मै	–	डॉ० दामोदर शास्त्री
पूज्यार्यिकां रत्नमतीं नमामि	–	डॉ० दामोदर शास्त्री
अहारतीर्थस्तोत्रम्	–	पं० गोविन्ददास कोठिया
गणेशाष्टकम्	–	आचार्य गोपीलाल 'अमर'
चन्द्राष्टकम्	–	रंजनदेव सूरी
विद्यासागर स्तवम्	–	पं० भुवनेन्द्रकुमार शास्त्री
सरस्वतीवन्दनाष्टकम्	–	डॉ० दयाचन्द्र साहित्याचार्य
अहारतीर्थ स्तवनम्	–	पं० बारेलाल राजवैद्य
विद्याष्टकम्	–	डॉ० भागचन्द्र जैन 'भागेन्दु'
ज्ञानमती पंचकम्	–	डॉ० भागचन्द्र जैन 'भागेन्दु'
क्षमासागरवन्दना	–	डॉ० भागचन्द्र जैन 'भागेन्दु'

शतककाव्य :

मुनिमनोरंजनशतकम्	–	आचार्य ज्ञानसागर

सम्यक्त्वसार शतकम्	-	आचार्य ज्ञानसागर
निजानुभवशतकम्	-	आचार्य विद्यासागर
श्रमणशतकम्	-	आचार्य विद्यासागर
निरंजनशतकम्	-	भावनाशतकम्
भावना शतकम्	-	भावनाशतकम्
सुनीति शतकम्	-	भावनाशतकम्
परीषटजयशतकम्	-	भावनाशतकम्
मुत्तक शतकम्	-	भावनाशतकम्
तीर्थ शतकम्	-	मुनि नगराज
भिक्षु शतकम्	-	मुनि नगराज
भिक्षुशतकम्	-	मुनि नगराज
भिक्षुशतकम्	-	मुनि नथमल
तुलसी शतकम्	-	मुनि दुलीचन्द्र "दिनकर"
अनुभूतिशतकम्	-	चन्दन मुनि
अणुव्रत शतकम्	-	मुनि चम्पालाल
कृष्णाजातकम्	-	मुनि छत्रपाल
जिनोपदेशशतकम्	-	पं० जवाहरलाल शास्त्री

चम्पूकाव्य :-

दयोदय चम्पू	-	आचार्य ज्ञानसागर
वर्धमान चम्पू	-	पं० मूलचन्द्र शास्त्री

श्रावकाचार एवं नीति विषयक :-

श्रावक धर्म प्रदीप	-	आचार्य कुन्थसागर
सुवर्ण सूत्रम्	-	आचार्य कुन्थसागर
पंचसूत्रम्	-	आचार्य तुलसी
शिक्षा षण्णवति	-	आचार्य तुलसी
कर्तव्यषट्त्रिंशिका	-	आचार्य तुलसी

दार्शनिक रचनाएँ :-

सम्यक्त्व चिन्तामणि	-	पं० पन्नालाल साहित्याचार्य
सज्ज्ञान चन्द्रिका	-	पं० पन्नालाल साहित्याचार्य
सम्यक्त्व चारित्रचिन्तामणि	-	पं० पन्नालाल साहित्याचार्य

कषायजय भावना - डॉ० नेमीचन्द्र जैन

बीसवीं शताब्दी में रचित जैन संस्कृत काव्यों की विविध विद्याएँ पर्याप्त संख्या में समृद्ध हुई हैं। उक्त अनुच्छेदों में कतिपय प्रमुख कृतियों के नामों का उल्लेख मात्र किया गया है। यदि संख्या की दृष्टि से विचार करें तो- मौलिक रचनाओं की ही संख्या निम्न प्रकार प्राप्त होती है-

१.	महाकाव्यम्	-	१५
२.	काव्यग्रन्थ	-	३०
३.	दूतकाव्य	-	०२
४.	स्तोत्र / स्तुति	-	१००
५.	शतककाव्य	-	४०
६.	चम्पूकाव्य	-	०२
७.	श्रावकाचार	-	०१
८.	नीतिविषयक काव्य	-	१२
९.	पूजा व्रतोद्यापन	-	३०
१०.	दार्शनिक रचनाएँ	-	२०
११.	स्फुट रचनाएँ	-	५०

इनके अतिरिक्त लगभग सो टीकाग्रन्थ और अनेक अन्य कृतियाँ इस शताब्दी में संस्कृत में लिखी गई।

इस शताब्दी में विरचित जैन संस्कृत काव्यों में साहित्य शास्त्रीय और शैलीगत विशेषताएँ समृद्ध रूप में अभिव्यंजित हुई हैं। इनमें रस, छन्द, अलंकार, गुण, ध्वनि आदि तत्त्व यथास्थान व्यवस्थित रूप से प्रयुक्त दृष्टिगोचर होते हैं। उदाहरणार्थ-आचार्य ज्ञानसागर के महाकाव्यों में मुख्य रस शांत है किन्तु सहयोगी रस के रूप में श्रृंगार, वीर, हास्य, वात्सल्य आदि का भी यथास्थान प्रयोग हुआ है। आचार्य ज्ञानसागर के महाकाव्यों में छन्दोंवैविध्य देखते ही बनता है। उन्होंने १७ प्रचलित एवं २९ अप्रचलित इस प्रकार कुल ४६ प्रकार के छन्दों का प्रयोग किया है। उपजाति छन्द कवि का सर्वाधिक प्रिय छन्द है। इनके काव्यों में आचार्य श्री की संगीतप्रियता और आलंकारिकच्छटा का परिपूर्ण निदर्शन हुआ है। ज्ञानसागर जी को अनुप्रास, यमक, उपमा, उत्प्रेक्षा और अपह्नुति अलंकार से विशेष लगाव प्रतीत होता है। इनके काव्यों में ६ प्रकार के चित्रबन्धों का भी प्रयोग हुआ है :

१. चक्रबन्ध

२. गोमूत्रिकाबंध

३. यानबन्ध

४. पद्मबंध

५. तालवृन्तबन्ध

६. कलशबन्ध

भाषाशैली :-

बीसवीं सदी के जैन संस्कृत काव्यों में कोमलकांतपदावली युक्त साहित्यिक-प्रांजल भाषा प्रयुक्त हुई है। भाषा में आलंकारिकता भी है। संस्कृत के साथ उर्दू, फारसी और हिन्दी के शब्द रूपों का भी कहीं-कहीं रचनाकारों ने प्रयोग किया है। शैली की दृष्टि से वैदर्भी रीति का प्रमुख रूप से प्रयोग हुआ है। ओज, प्रसाद और माधुर्य गुणों का रचनाकारों ने प्रयोग किया है। कोई-कोई रचनाकार की तुकान्त रचना करने की वृत्ति भी सामने आई है। आचार्य विद्यासागर जी की रचनाएँ सभी प्रकार के काव्य गुणों से समलंकृत हैं। इस शताब्दी की रचनाओं पर कालिदास, भारवि, माघ, भवभूति, श्रीहर्ष की प्रवृत्तियों का कहीं-कहीं निदर्शन होता है।

शैली विज्ञान की दृष्टि से इनमें दृष्टांत, संवाद, व्याख्यात्मक, विवेचनात्मक और समास शैली यथा-प्रसंग प्राप्त होती है।

बीसवीं शताब्दी के संस्कृत जैन काव्यों का वैशिष्ट्य, प्रदेय

अ. बीसवीं शताब्दी के संस्कृत जैन काव्यों का वैशिष्ट्य

विवेच्य शोध विषय का समग्रतया अनुशीलन करने पर शोधकर्त्ता को बीसवीं शताब्दी में रचित जैन काव्यों में रचनातंत्र, कथानक, नायक चयन, कवि कल्पना में अवतरित तत्त्वों, भावपक्ष, कलापक्ष आदि के आधार पर निम्नलिखित विशेषताएँ प्राप्त हुई है :-

१. संस्कृत जैन काव्यों की आधारशिला द्वादशांग वाणी है। इस वाणी में आत्मविकास द्वारा प्रत्येक व्यक्ति को मोक्ष प्राप्त करने का पूर्ण अधिकार प्राप्त है। रत्नत्रय-सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र की साधना द्वारा मानव मात्र चरम सुख को प्राप्त कर सकता है। संस्कृत भाषा में रचित प्रत्येक जैन काव्य उक्त संदेश को ही पुष्पों की सुगन्ध की भाँति विकीर्ण करता है।

२. जैन संस्कृत काव्य स्मृति अनुमोदित वर्णाश्रम धर्म के पोषक नहीं है। इनमें जातिवाद के प्रति क्रांति निदर्शित है। इनमें आश्रम व्यवस्था भी मान्य नहीं है। समाज-श्रावक और मुनि इन दो वर्गों में विभक्त है चतुर्विध संघ-मुनि, आर्यिका, श्रावक, श्राविका को ही समाज माना गया है। इस समाज का विकास श्रावक और मुनि के पारस्परिक सहयोग से होता है।

तप, त्याग, संयम एवं अहिंसा की साधना के द्वारा मानव मात्र समान रूप से आत्मोत्थान करने का अधिकारी है। आत्मोत्थान के लिए किसी परोक्ष शक्ति की सहायता अपेक्षित नहीं है। अपने पुरुषार्थ के द्वारा कोई भी व्यक्ति अपना सर्वाङ्गीण विकास कर सकता है।

३. इनके नायक देव, ऋषि, मुनि नहीं है, अपितु राजाओं के साथ सेठ, सार्थवाह, धर्मात्मा व्यक्ति, तीथङ्कर शूरवीर या सामान्य जन आदि हैं ।

नायक अपने चरित्र का विकास इन्द्रिय दमन और संयम पालन द्वारा स्वयं करता है । आरंभ से ही नायक त्यागी नहीं होता, वह अर्थ और काम दोनों पुरूषार्थी का पूर्णतया उपयोग करता हुआ किसी निमित्त विशेष को प्राप्त कर विरक्त होता है, और आत्मसाधना में लग जाता है । जिन काव्यों के नायक तीर्थंकर या अन्य पौराणिक महापुरुष हैं उन काव्यों में तीर्थंकर आदि पुण्य पुरुषों की सेवा के लिए स्वर्ग से देवी-देवता आते हैं । पर वे महापुरुष भी अपने चरित्र का उत्थान स्वयं अपने पुरूषार्थ द्वारा ही करते हैं ।

४. जैन संस्कृत काव्यों के कथा-स्तोत्र वैदिक पुराणों या अन्य ग्रन्थों से ग्रहण नहीं किये गये हैं, प्रत्युत उनका लोक प्रचलित प्राचीन कथाओं एवं जैन परंपरा के पुराणों से संग्रह किया गया हैं । कवियों ने कथावस्तु को जैन धर्म के अनुकूल बनाने के लिए उसे पूर्णतया जैन धर्म के साँचें में ढालने का प्रयास किया है । रामायण या महाभारत के कथांश जिन काव्यों के आधार हैं उनमें भी उक्त कथाएँ जैन परंपरा के अनुसार अनुमोदित ही हैं । इनमें बुद्धि-संगत यथार्थवाद द्वारा विकारों का निराकरण करके मानवता की प्रतिष्ठा की गई है ।

५. संस्कृत जैन काव्यों के नायक जीवन-मूल्यों, धार्मिक निर्देशों और जीवन तत्त्वों की व्यवस्था तथा प्रसार के लिए "मीडियम" का कार्य करते हैं । वे संसार के दुःखों एवं जन्म-मरण के कष्टों से मुक्त होने के लिए रत्नत्रय का अवलम्बन करते हैं । संस्कृत काव्यों के "दुष्ट-निग्रह" और "शिष्ट-अनुग्रह" आदर्श के स्थान पर दुःख-निवृत्ति ही नायक का लक्ष्य होता है । स्वयं की दुःख-निवृत्ति के आदर्श से समाज को दुःख-निवृत्ति का संकेत कराया जाता है । व्यक्ति हित और समाजहित का इतना एकीकरण होता है कि वैयक्तिक जीवनमूल्य ही सामाजिक जीवन मूल्य के रूप में प्रकट होते हैं । संस्कृत जैन काव्यों के इस आन्तरिक रचना तंत्र को रत्नत्रय के त्रिपार्श्व समत्रिभुज द्वारा प्रकट होना माना जा सकता है । इन जीवन त्रिभुज की तीनों भुजाएँ समान होती हैं और कोण भी त्याग, संयम, एवं तप के अनुपात से निर्मित होते हैं ।

६. जैन संस्कृत काव्यों के रचना तंत्र में चरित्र का विकास प्रायः लम्बवत् (वरटीकल) नहीं होता जबकि अन्य संस्कृत काव्यों में ऐसा ही होता है ।

७. संस्कृत के जैन काव्यों में चरित्र का विकास प्रायः अनेक जन्मों के बीच में हुआ है । जैन कवियों ने एक ही व्यक्ति के चरित्र को रचना क्रम से विकसित रूप में प्रदर्शित करते हुए वर्तमान जन्म में मोक्ष / निर्वाण तक पहुँचाया है । प्रायः प्रत्येक काव्य के आधे से अधिक सर्गों में कई जन्मों की परिस्थितियों और वातावरणों के बीच जीवन की विभिन्न घटनाएं अंकित होती हैं । काव्यों के उत्तरार्द्ध में घटनाएँ इतनी जल्दी आगे बढ़ती हैं—जिससे आख्यान में क्रमशः क्षीणता आती-जाती है । पूर्वार्ध में पाठक को काव्यानन्द प्राप्त होता है जबकि उत्तरार्द्ध में आध्यात्मिकता और सदाचार ही उसे प्राप्त होते हैं । इसका कारण यह भी हो सकता है कि शान्तरस प्रधान काव्यों में निर्वेद की स्थिति का उत्तरोत्तर विकास होने से अंतिम उपलब्धि अध्यात्म तत्त्व

के रूप में ही संभव होती है। चूँकि संस्कृत जैन काव्यों की कथावस्तु अनेक जन्मों से संबंधित होती है अतः चरित्र का विकास अनुप्रस्थ (हारी-जेन्टल) रूप में ही घटित हुआ है। जीवन के विभिन्न पक्ष, विभिन्न जन्मों की विविध घटनाओं में समाहित हैं।

८. संस्कृत जैन काव्यों में आत्मा की अमरता और जन्म-जन्मान्तरों के संस्कारों की अनिवार्यता दिखलाने के लिए पूर्व जन्म के आख्यानों का संयोजन किया गया है। प्रसंगवश चार्वाक आदि नास्तिक वादों का निरसन कर इनमें आत्मा की अमरता और कर्म संस्कार की विशेषता का विवेचन किया गया है। पूर्व जन्म के सभी आख्यान नायकों के जीवन में कलात्मक शैली में गुम्फित हुए हैं। दार्शनिक सिद्धातों के प्रतिपादन से यत्र-तत्र काव्य रस में न्यूनता आ गई है, पर कवियों ने आख्यानों को सरस बनाकर इस न्यूनता को संभाल भी लिया है।

९. संस्कृत के जैन कवियों की रचनाएँ श्रमण संस्कृति के प्रमुख्य आदर्श-स्याद्वाद-विचार समन्वय और अहिंसा के पाथेय को अपना सम्बल बनाते हैं। इन काव्यों का अंतिम लक्ष्य प्रायः मोक्ष-प्राप्ति है। इसलिए आत्मा के उत्थान और चरित्र-विकास की विभिन्न कार्य-भूमिकाएँ स्पष्ट होती हैं।

१०. व्यक्तियों की पूर्ण-समानता का आदर्श निरूपित करने और मनुष्य-मनुष्य के बीच जातिगत भेद को दूर करने के लिए काव्य के रस-भाव मिश्रित परिप्रेक्ष्य में कर्मकाण्ड, पुरोहितवाद एवं कर्तृत्ववाद का निरसन किया गया है। वैभव के मद में निमग्न अशान्त संसार को वास्तविक शान्ति प्राप्त करने का उपचार परिग्रह-त्याग एवं इच्छा नियंत्रण को निरूपित करके मनोहर काव्य शैली में प्रतिपादन किया गया है।

११. मानव सन्मार्ग से भटक न जाये, इसलिए मिथ्यात्व का विश्लेषण करके सदाचार परक तत्त्वों का वर्णन करना भी संस्कृत जैन कवियों का अभीष्ट है। यह सब उन्होंने काव्य की मधुर शैली में ही प्रस्तुत किया है।

१२. जैन संस्कृत कवियों की एक प्रमुख विशेषता यह भी है कि वे किसी भी नगर का वर्णन करते समय उनके द्वीप, क्षेत्र एवं देश आदि का निर्देश अवश्य करते हैं।

१३. कलापक्ष और भावपक्ष में जैन काव्य और अन्य संस्कृत काव्यों के रचना तंत्र में कोई विशेष अंतर नहीं है पर कुछ ऐसी बातें भी हैं जिनके कारण अन्तर माना जा सकता है। काव्य का लक्ष्य केवल मनोरंजन कराना ही नहीं है, प्रत्युत किसी आदर्श को प्राप्त कराना है। जीवन का यह आदर्श ही काव्य का अंतिम लक्ष्य होता है। इस अंतिम लक्ष्य की प्राप्ति काव्य में जिस प्रक्रिया द्वारा संपन्न होती है। वह प्रक्रिया ही काव्य की "टेकनीक" है। श्री कालिदास, भारवि, माघ आदि संस्कृत के कवियों की रचनाओं में चारों ओर से घटना, चरित्र और संवेदन संगठित होते हैं तथा यह संगठन वृत्ताकार पुष्प की तरह पूर्ण विकसित होकर प्रस्फुटित होता है और सम्प्रेषणीयता केन्द्रीयप्रभाव को विकीर्ण कर देती है। इस प्रकार अनुभूति द्वारा रस का संचार होने से काव्यानन्द प्राप्त होता है और अंतिम साध्य रूप जीवन आदर्श तक पाठक पहुँचने

का प्रयास करता है। इसलिए कालिदास आदि का रचना-तंत्र वृत्ताकार है। पर जैन संस्कृत कवियों का रचनातंत्र हाथीदांत के नुकीले शंकु के समान समसृण और ठोस होता है। चरित्र, संवेदन और घटनाएँ वृत्त के रूप में संगठित होकर भी सूची रूप को धारण कर लेती हैं तथा रसानुभूति कराती हुई तीर की तरह पाठक को अंतिम लक्ष्य पर पहुँचा देती हैं।

१४. जैन काव्यों में इन्द्रियों के विषयों की सत्ता रहने पर भी आध्यात्मिक अनुभव की संभावनाएँ अधिकाधिक रूप में वर्तमान रहती हैं। इन्द्रियों के माध्यम से सांसारिक रूपों की अभिज्ञता के साथ काव्य प्रक्रिया द्वारा मोक्ष तत्त्व की अनुभूति भी विश्लेषित की जाती है। भौतिक ऐश्वर्य, सौन्दर्य परक अभिरूचियाँ शिष्ट एवं परिष्कृत संस्कृति के विश्लेषण के साथ आत्मोत्थान की भूमिकाएँ भी वर्णित रहती हैं।

ब. बीसवीं शताब्दी के संस्कृत जैन काव्यों का प्रदेय :

बीसवीं शताब्दी में संस्कृत साहित्य की श्रीवृद्धि करने में जैन-विषयों पर प्रणीत साहित्य का भी विशिष्ट योगदान है। जैन विषयों पर संस्कृत में काव्य रचनाएँ करने वाले बीसवीं शताब्दी के रचनाकारों ने काव्य की प्रायः सभी विद्याओं को अपनी लेखनी से समृद्ध बनाया है। संस्कृत जैन काव्यों के अन्तर्गत-महाकाव्य, खण्डकाव्य, गीतिकाव्य, शतककाव्य, दूतकाव्य, चम्पूकाव्य, स्तोत्रकाव्य, श्रावकाचार तथा नीतिविषयक काव्य ग्रन्थों के साथ ही साथ पूजाव्रतोद्यापन काव्य और दार्शनिक काव्य रचनाएँ भी प्राप्त होती हैं। इन सुविधाओं के अतिरिक्त स्फुट रचनाओं के माध्यम से भी मनीषियों ने अपनी प्रतिभा का प्रकाशन मुक्तक शैली में किया है। इस शती के रचनाकारों की लेखनी पर बीसवीं शताब्दी की हीयमान प्रवृत्तियों का कोई भी प्रभाव परिलक्षित नहीं होता है—सम-सामयिक समस्याओं के दुष्चक्र में साहित्यकार की लेखनी नहीं उलझी है, प्रत्युत कवियों की रचनाधर्मिता, जीवन के उच्चादर्शों और मूल्यों पर आधारित है। जैन-परम्परा और जैनेतर परम्परा में जन्मे रचनाकारों ने समान रूप से जैन काव्य रचना के प्रमुख आधार द्वादशांग वाणी को आत्मसात् करके संस्कृत में काव्यों का प्रणयन किया है। विवेच्य शताब्दी के जैन काव्यों की रचनाधर्मिता और रचनाकारों के आश्रम-पार्थक्य को रेखांकित करते हुए विवेचन किया है। परन्तु प्रस्तुतशताब्दी में जैन साधु-साध्वियों और जैन गृहस्थ मनीषियों के साहित्य पर समान रूप से अध्यात्म, भारतीय संस्कृति, दार्शनिक चिंतन, न्याय, सदाचार, विश्वशांति, नैतिकता और कैवल्य (मोक्ष) का प्रभाव अंकित है।

बीसवीं शताब्दी के अग्रगण्य महात्मा आचार्य श्री ज्ञानसागर जी मुनि-महाराज के काव्यों में मानवता, वर्णव्यवस्था, स्वावलम्बन, पुनर्जन्म आदि भारतीय संस्कृति के विविध पक्षों का समग्रतया उद्घाटन हुआ है। सामाजिक बुराइयों को दूर करने के लिए आत्मचिंतन का आश्रय लेना उचित है। "श्री समुद्रदत्त" का नायक सत्यप्रियता के कारण प्रख्यात हुआ। "दयोदय-चम्पू" में एक हिंसक के हृदय परिवर्तन की कहानी है। "जयोदय" का एक नायक राजा होकर भी अंत में ब्रह्मचर्य व्रत धारण करता है। "पीरोदय" और "सुदर्शनोदय" आदि ग्रन्थ रत्नत्रय की सिद्धि का मार्ग प्रशस्त करते हैं।

आचार्य विद्यासागर महाराज का रचना संसार आध्यात्मिकता, दार्शनिक चिंतन परब्रह्म परमात्म पर आधारित है । लाक्षणिक प्रयोगों में गूढार्थ है । जहाँ एक ओर साधारण मनुष्य की बुद्धि से परे "भावना शतकम्" ग्रन्थों को "कोशं पश्यन् पदे-पदे" की सहायता से ही प्रबुद्ध व्यक्ति समझ सकता है वहीं दूसरी ओर "सुनीतिशतकम्" जैसे ग्रन्थों की प्रतिपाद्य शैली सरल है । "मुक्ति मार्ग" की सार्थकता समझायी गई है । चित्रालंकारों में मुरजबंध को अपनाया है । चरित्रशुद्धि, आत्मोत्थान का सम्यक् निदर्शन पदे-पदे किया गया है ।

आचार्य कुन्थुसागर की रचनाओं में नैतिक उत्थान, जन जागृति और बौद्धिक-विकास के साथ ही सामाचार की विकरालता से मानव मात्र को अवगत कराते हुए इससे दूर रहने का उपदेश दिया गया है । इनके ग्रन्थों में जीवन के आदर्श सिद्धान्तों एवं मोक्ष के रहस्य को समझाया गया है । शांति सुधा-सिन्धु, श्रावकधर्मप्रदीप, सुवर्णसूत्रम् आदि ग्रन्थों में विश्व शांति की व्याख्या की गई है और स्पष्ट किया गया है कि 'विश्वशांति ही अतीत, वर्तमान एवं भविष्य विषयक सभी समस्याओं का समाधान खोजने में सूक्ष्म है । आचार्य श्री के काव्यों में कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य, सत्संगति, समाजसुधार, जैनसंस्कृति और जैनधर्म का बीसवीं शताब्दी में महत्त्व आदि का सम्यक् निदर्शन है ।

समस्या प्रधान विश्व संस्कृति के उत्थान में आचार्य कुन्थुसागर जी के ग्रन्थों का अध्ययन मानव मूल्यों के रक्षार्थ उपयोगी है ।

पूज्य आर्यिका सुपार्श्वमती माता जी, आर्यिका ज्ञानमती माता जी, आर्यिका विशुद्धमती माता जी, आर्यिका जिनमती माता जी प्रभृति साध्वियों की रचनाओं में भी उपयोगी सिद्धांतों की गई समीक्षा हैं ।

डॉ० पन्नालाल साहित्याचार्य जी की रचनाओं का प्रतिपाद्य विषय सम्यक्-रत्नत्रय है । जैनदर्शन के आधारभूत एवं मोक्षमार्ग की प्रतिपादक इनकी रचनाएँ दार्शनिक चिंतन की प्रतिनिधि हैं । इनमें भावपक्ष के साथ-साथ कलापक्ष की प्रधानता समान रूप से निदर्शित हैं । इनके ग्रन्थों की रचना शैली जहाँ एक ओर वाल्मीकि, कालिदास, और अश्वघोष का अनुसरण करती है वहीं दूसरी ओर श्री हर्ष, माघ, भारवि से भी प्रभावित प्रतीत होती है । संस्कृत साहित्य की श्री वृद्धि करने के साथ ही जैन-दर्शन के प्रचार प्रसार की दिशा में पं० जी का योगदान स्मरणीय है धर्म-कर्म, आचार-विचार, राष्ट्रप्रेम आदि की शिक्षाओं से ओत-प्रोत पंडित जी की रचनाएँ आचार-संहिताएँ ही हैं ।

मानवीय भावों की सुकुमार अभिव्यक्ति करने के लिए विख्यात पं० मूलचन्द्र जी शास्त्री का साहित्य प्राचीन भारतीय संस्कृति की भव्यता को प्रतिबिम्बित करता है—मेघदूत की शैली पर आधारित "वचनदूतम्" काव्य में नायिका की प्रणय-भावना एवं निराशा को आध्यात्मिकता की ज्योति किरण से आलोकित किया है । शास्त्री जी के ग्रन्थों में जीवनादर्शों की सजीव अभिव्यक्ति हुई है ।

इसी प्रकार पं० दयाचंद्र साहित्याचार्य जी की कृतियों में आत्मोत्थान, चिंतन, त्याग, संयम आदि तत्त्वों की विशद व्याख्या है ।

पं० जवाहर लाल शास्त्री जी ने भी जैनदर्शन के गूढ विषयों को जिनोपदेश, पद्मप्रभ स्तवनम्, आदि ग्रन्थों में प्रतिबिम्बित किया है । आपकी रचानाएँ "ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या" को चरितार्थ करती प्रतीत होती हैं । राग-द्वेष, पाप त्याग पर बल दिया गया है ।

इसी प्रकार बीसवीं शताब्दी के अनेक रचनाकारों—जिनमें पं० गोविन्द राय शास्त्री, पं० जुगल किशोर मुख्तार, पं० बारेलाल जी राजवैद्य, प्रो० राजकुमार साहित्याचार्य, डॉ० भागचन्द्र जैन 'भागेन्दु' डॉ० नेमिचन्द्र शास्त्री, पं० भुवनेन्द्र कुमार शास्त्री, डॉ० दामोदर शास्त्री प्रभृति रचनाकार प्रमुख हैं इन की तथा ऐसे सभी कवियों की रचनाओं में मानवीय गुणों, आदर्शों और उदात्त जीवन मूल्यों की सफल अभिव्यंजना हुई है । इन रचनाकारों ने उत्कृष्ट जीवन दर्शन की प्रतिष्ठा के लिये सत्य, अहिंसा, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह आदि का पालन करने और सामाजिक बुराइयों को दूर करने के लिए सम्यक्-रत्नत्रय का आश्रय लेने पर बल दिया गया है । इनके ग्रन्थों में मानव का एकमात्र लक्ष्य मोक्ष प्राप्ति निरूपित किया गया है । स्वस्थ समाज की रचना हेतु इन्होंने क्षमा, विनयशीलता, सरलता, पवित्रता, सत्य, संयम, तप, त्याग और परोपकारिता के गुणों को प्राणिमात्र के लिए आवश्यक निरूपित किया है ।

वर्तमान समय में जब मानवता पर संकट के बादल मंडरा रहे हैं, निरन्तर आणविक अस्त्र-शस्त्रों की प्रतिस्पर्धा बढ़ रही है, केवल भारत राष्ट्र ही नहीं प्रत्युत सम्पूर्णविश्व में परस्पर ईर्ष्या भाव एवं अविश्वास विद्यमान है, वैज्ञानिक विकास की उपलब्धियों ने मानवीय भावनाओं एवं आत्मचिंतन की प्रवृत्ति को आघात पहुँचाया है, विश्व पर्यावरण प्रदूषित हो चुका है और विश्व विनाशोन्मुख है ऐसे वातावरण में आत्मशांति, अहिंसा, सदाचार, प्रेम, परोपकार, ममता, करुणा, दया आदि मानवीय गुणों के साथ-साथ नैतिक उत्थान की विशेष आवश्यकता है । अत: उक्त मानवीय गुणों और आदर्शों की प्राप्ति के लिए बीसवीं शताब्दी के जैन-काव्यों का अध्ययन-अनुशीलन अनिवार्य है, क्योंकि विवेच्यग्रन्थों में "वसुधैव कुटुम्बकम्", "सत्यमेव जयते," "अहिंसा परमो धर्म:," "क्षमा वीरस्य भूषण्" आदि प्राचीन सिद्धांत पुष्पित, पल्लवित और फलीभूत भी हुए हैं । मानव मन का कालुष्य दूर करके उसे आदर्श नागरिक बनाने की अभूतपूर्व क्षमता संस्कृत जैन काव्यों में सन्निविष्ट है ।

संस्कृत जैन काव्य स्वान्त:सुखाय होकर भी लोकानुरंजन तथा लोकहितैषिता के उदात्त मूल्यों से सम्वेष्टित हैं । इनका प्रतिपाद्य अभिधेय नित नूतन, नव-नवोन्मेष-शालिनी कला वीथियों से नितरां भव्य और अभिराम है । ये समस्त काव्य अपने उद्देश्य की प्राप्ति में पूर्णत: सक्षम हैं । सदाचार-प्रवण व्यक्ति की इकाई से प्रारंभ होकर स्वस्थ समाज की दहाई के सृजन में अपनी महनीय भूमिका का निर्वाह करना ही जैन संस्कृत काव्यों का सर्वोपरि प्रदेय है और वस्तुत: यही साहित्य की इष्टापूर्ति स्वीकार की गयी है ।

अहिंसा, पर्यावरण एवं इरियावहियासुत्तं

जितेन्द्र बी. शाह

आज समग्र विश्व में पर्यावरण के असंतुलन ने न केवल मानव जीवन के लिए अपितु समग्र जीवसृष्टि के लिए बहुत बड़ा प्रश्नचिह्न खड़ा कर दिया है। औद्योगिक प्रगति, उपभोगतावाद और अतिविलासितता आदि के कारण प्राकृतिक संपदा का तेज गति से नाश हो रहा है। वन-संपदा, पशु-संपदा खनिज-संपदा, जल-संपदा का द्रुत गति से विनाश हो रहा है। इसके फल स्वरूप पर्यावरण का भी विनाश हो रहा है और कई तत्त्व तो आज शब्दकोषों और संग्रहालय के विषय मात्र ही बन कर रह गये है। मानव ने विकास के नाम पर विनाश का ही कार्य किया है। जब हम विकास के नतिजे पर दृष्टिपात करते हैं तब केवल विनाश ही विनाश नजर आता है। जल के प्रदूषण ने जलीय जीव सृष्टि और मानवजीवन को नष्ट करना प्रारंभ कर दिया है। औद्योगिक मशीनों के इंधन एवं वाहनों के इंधन से उत्पन्न वायु इतनी प्रदूषित हो चूकी है कि साँस लेना भी दूर्भर हो रहा है। औद्योगिक कचड़ों ने धरती को भी प्रदूषित कर दी है। उसके कारण धरती की उर्वरक शक्ति नष्ट हो रही है। पाँच हजार साल से जो धरती सतत फलती रही थी वह आज बंजर बन रही है। कीट नाशक दवाओं ने अन्न को प्रदूषित कर दिया है। जिस के कारण मानव एवं पशुओं के शरीर पर विकृत असर पड रहा है। कुछ हद तक स्वभाव भी परिवर्तित होने लगा है। उद्योगों के धुएँ ने आकाश को मलिन और जल में जहर घोल दिया है। इस प्रकार हवा, पानी, जमीन, अन्न प्रदूषित हो चूके है। अत: पर्यावरण की सुरक्षा एक बहुत ही विकट समस्या बन चूकी हैं। इसका समाधान पाने के लिए सभी देश प्रयासरत है।

मानव जीवन के चारों और रहने वाला प्राकृतिक वातावरण ही पर्यावरण है। जिस में भूमि, हवा, पानी और वनस्पति जगत सम्मिलित होता है। इसका विनाश मानव के असंयमित जीवन शैली के कारण हो रहा है। आज प्रकृति और मानव के सम्बन्ध का ह्रास हो रहा है उसका कारण भी असंयम, तृष्णा, अविवेकपूर्ण जीवन शैली है। भारतीय संस्कृति में प्राचीन काल से ही प्राकृतिक तत्त्वों एवं मानव जीवन के साथ सम्बन्ध स्थापित करने का उपदेश दिया गया है। प्रत्येक तत्त्वों का विवेकपूर्वक उपयोग करने का सभी धर्म शास्त्रों में विधान मिलता है। किन्तु मानव जीवन में जैसे जैसे विवेक का नाश होता है। वैसे-वैसे अशुभ तत्त्वों का उदय होता है। प्राकृतिक तत्त्वों के उपयोग में कोई सर्वमान्य नियम न रहे और यथासंभव

दुरुपयोग होने लगा। जिस के कारण दुरुपयोग होता था उसको धर्मशास्त्रों में पाप के नाम से पुकारा गया है। ऐसे पापों का आचरण निंदनीय और धृष्णास्पद माना गया है। जैन धर्म में हिंसा, असत्य, चौरी, मैथुन, परिग्रह, राग, द्वेष, क्रोध, मान, माया, लोभ, रति, अरति, भय, शोक, जुगुप्सा, माया, मृषावाद जैसे भावों का त्याग करने का विधान है। इस प्रकार के आचरण से मानव मन कलुषित होता है और दूसरों को पीड़ा होती है। अन्ततोगत्वा पर्यावरण की सुरक्षा नष्ट होती है। विश्व के महापापों की चर्चा करते हुए कोनार्ड लारेन ने कहा है कि–

१. आवश्यकता से अधिक जन संख्या में वृद्धि।
२. प्रकृति के सभी क्षेत्रों में प्रदूषण का विस्तार।
३. जीवन के हर क्षेत्र में अति प्रतियोगिता।
४. अतिभोग के प्रति तीव्र लालसा।
५. जीवन कोशिकाओं का ह्रास।
६. परंपरा से प्राप्त संस्कृति की अवहेलना।
७. एकान्तवाद एवं दुराग्रह का प्रचार।
८. अणुशास्त्रों का अन्धा निर्माण।

उक्त सभी क्रियाओं का उदय असत् प्रवृत्तिओं के आचरण एवं सत् प्रवृत्तिओं के अनाचरण से होता है। जिसको जैन धर्म में पाप स्थानक के रूप में कहा है। जिस के कारण अनेक जीवों को पीड़ा होती है। सूक्ष्म या स्थूल जीवों की हत्या होती हो वे सभी क्रियाए त्याज्य है। पर्यावरण की रक्षा के लिए अहिंसा ही एक मात्र श्रेष्ठ मार्ग हो सकता है।

सभी भारतीय धर्मों में अहिंसा को सर्वोत्कृष्ट स्थान दिया गया है। महाभारत में कहा है कि अहिंसा परमो धर्मः अर्थात् अहिंसा ही श्रेष्ठ धर्म है। किसी भी जीव की हत्या न हो, किसी भी जीव को पीड़ा न हो उसे अहिंसा कहा गया है। ऐसी अहिंसा का उद्भव क्षमापना और मैत्री भाव के द्वारा ही संभव है। इसीलिए जैन धर्म के श्रावक प्रतिक्रमण वंदित्तु सूत्र में कहा है कि–

"खामेमि सव्व जीवे सव्वे जीवा खमन्तु मे।
मित्ति मे सव्व भूएसु वेरं मज्झं न केणइ॥ वंदित्तु सूत्र-गा० ४९

मैं सभी जीवों को क्षमा करता हूँ, सब जीवों मुझे क्षमा करें। मेरी सभी से मैत्री है। मेरा किसी के साथ वैर नहीं है, ऐसी उत्तम भावना से ही अहिंसा के बीज पनपते है। तत्त्वार्थाधिगम सूत्र में उमास्वाति ने जीवों के लक्षण की व्याख्या करते हुए कहा है कि– परस्परोपग्रहों जीवानाम्। अर्थात् एक दूसरों पर उपकार करना ही जीवों का लक्षण है। आज उसके विपरीत आचरण के कारण अनेक समस्याएँ उत्पन्न हुई है। जीवन में मत्स्यगलगलान्याय का ही प्रभाव दिखाई पड़ता है। अर्थात् जैसे बड़ी मछली छोटी मछली को खा जाती है ठीक

उसी प्रकार बलवान निर्बल को अधिक पीड़ा दे रहा है। मानव अपने को सर्वश्रेष्ठ मानकर अन्य सभी जीव संपदा का नाश करने लगा है उसके कारण अनेक जीवों का विनाश हो रहा है। और पर्यावरण की तुला असंतुलित हो गई है। उसकी समतुला बनाए रखने के लिए ही जैनधर्म का प्रधान सूत्र "जीओ और जीने दो" को ही जीवनमन्त्र बनाना चाहिए।

यह बात सही है कि संसार में रहते हुए और अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए मानव को दूसरे सूक्ष्म या स्थूल जीवों का घात प्रतिघात का अवसर आता ही है ऐसी स्थिति में जीवन की क्रियाएँ यतनापूर्वक अर्थात् सजगतापूर्वक, विवेकपूर्वक करनी चाहिए जिस से दूसरें जीवों का कम से कम घात हो। साधक की जीवन शैली की चर्चा करते हुए दशवैकालिक सूत्र में कहा है कि

जयं चरे जयं चिट्ठे, जयं आसे जयं सये।
जयं भुञ्जन्तो जयं भासंतो पाव कम्मं न बंधई॥ दश० वै० अ० ४ गा० ३१

यतनापूर्वक चलना चाहिए, यतना पूर्वक बैठना चाहिए, यतनापूर्वक बोलना चाहिए, यतनापूर्वक सोना चाहिए, यतनापूर्वक खाना चाहिए और कार्य करना चाहिए जिस से पापकर्म का बन्ध नहीं होता है। चलने, बैठने, उठने, सोने आदि क्रियाएँ विवेकपूर्ण ढ़ंग से करने से हिंसा पर विजय प्राप्त कर सकते है। प्रस्तुत सूत्र यही घोषणा करता है कि जीवन में विवेकपूर्ण व्यवहार होना चाहिए। यद्यपि मानव जीवन सर्वथा हिंसा रहित संभव कहना उद्घोष नहीं है। किन्तु अल्प हिंसा और विवेकपूर्ण जीवन अनेक जीवों को अभयदान दे सकता है। जीवन में विवेक का महत्त्व देखते हुए अहिंसा की व्याख्या में भी विकास पाया गया है। इसीलिए तत्त्वार्थाधिगम सूत्र में हिंसा की व्याख्या करते हुए कहा गया है कि "पमत्तयोगत् कायव्यपरोपणं हिंसा।" प्रमाद के कारण किसी जीव की हत्या हो वह हिंसा है। यहाँ प्रमाद का अर्थ अविवेक पूर्ण या असजगता में की हुई क्रिया है। लोभ, क्रोध, मोह, माया जैसे भावों के कारण सजगता नष्ट हो जाती है और कोई एक जीव अन्य जीवों के घात का निमित्त बन जाता है। उसको रोकने के लिए उपभोगवाद नहीं किन्तु उपयोगवाद का ही प्रचार होना चाहिए। सभी क्रिया उपयोगपूर्वक करनी के स्थान पर चाहिए यही जैनधर्म का मूलसिद्धान्त है। उसके लिए जैन दर्शन में ईरियावहियं अर्थात् ईर्यापथिकी क्रिया का विधान किया है।

जैन धर्म में सभी धार्मिक क्रियाओं के आदि में ईर्यापथिकी क्रिया अवश्य करनी पड़ती है। ईर्यावहियं सूत्र में सूक्ष्म से सूक्ष्म जीवों की विराधना को दुष्कृत समझा है। और उस प्रकार के आचारण के लिए क्षमा याचना करना ही प्रस्तुत इरियावहिया सूत्र का सार है। ईर्यापथ सूत्र प्रतिक्रमण का सार है। श्री हरिभद्रसूरि ने आवश्यक टीका में इस सूत्र को गमनातिचार प्रतिक्रमण कहा है। दशवैकालिकसूत्र वृत्ति में उसकी इर्यापथ प्रतिक्रमण नाम से विवेचना की है। श्री आचार्य हेमचन्द्र ने योगशास्त्र की स्वोपज्ञवृत्ति में इसी नाम का उपयोग किया है।

उसको आलोचन प्रतिक्रमण के नाम से प्रायश्चित्त प्रतिरूप बनाया गया है। प्रस्तुत सूत्र का उपयोग सामायिक, प्रतिक्रमण, चैत्यवंदन, देववंदन आदि सभी क्रियाओं की आदि में होता है। अत: धार्मिक विधि में विशिष्ट स्थान प्राप्त किया है।

इच्छाकारेण संदिसह भगवन् !
इरियावहियं पडिक्कमामि ?
इच्छं, इच्छामि पडिक्कमिउं ॥१॥
इरियावहियाए विराहणाए ॥२॥
गमणागमणे ॥३॥
पाणक्कमणे, बीयक्कमणे, हरियक्कमणे,
ओसा-उत्तिंग-पणग-दगमट्टी-
मक्कडा-संताणा संकमणे ॥४॥
जे मे जीवा विराहिया ॥५॥
एगिंदिया, बेइंदिया, तेइंदिया,
चउरिंदिया, पंचिंदिया ॥६॥
अभिहया, वत्तिया, लेसिया, संघाइया,
संघट्टिया, परियाविया, किलामिया,
उद्दविया, ठाणाओ ठाणं संकामिया,
जीवियाओ ववरोविया,
तस्स मिच्छा मि दुक्कडं ॥७॥

अर्थ :—

हे भगवन् ! स्वेच्छा से ईर्यापथिकी—प्रतिक्रमण करने की मुझे आज्ञा दीजिए। गुरु इस के प्रत्युत्तर में—पडिक्कमेह—प्रतिक्रमण करो। ऐसा कहे तब—

शिष्य कहें कि—मैं चाहता हूँ—आपकी यह आज्ञा स्वीकृत करता हूँ। अब मैं मार्ग में चलते समय हुई जीवविराधना का प्रतिक्रमण अन्त:करण की भावनापूर्वक प्रारम्भ करता हूँ।

जाते-आते मुझ से प्राणी, बीज, हरि वनस्पति, ओस की बूंदे, चींटियों के बिल, पांचवर्ण की काई, कच्चा पानी, कीचड़, तथा मकड़ी का जाला आदि दबाने से,

जाते-आते मुझसे जो कोई एकेन्द्रिय, दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चार इन्द्रिय, अथवा पाँच इन्द्रियवाले जीव दु:खित हुए हो।

जाते-आते मेरे द्वारा कोई जीव ठोकर से मरे हो, धूल से ढ़के हो, भूमि के साथ कुचले

गए हो, परस्पर शरीर द्वारा टकरा गए हो, अल्प-स्पर्श हुआ हो, कष्ट पहुँचाया हो, खेद पहुँचाया हो, भयभीत किए गए हो, एक स्थान से दूसरे स्थान स्थानान्तरित किए हो, प्राण रहित किए हो और इस के द्वारा जीव विराधना हुई हो तत्सम्बन्धी मेरे सब दुष्कृत्य मिथ्या हो।

साधक को चलने की क्रिया नीचे देखकर, पूर्ण सावधानी से विवेकपूर्वक करनी चाहिए और कोई भी जीव कुचल न जाय उसका पूरा ध्यान रखना चाहिए। तथापि उपयोग की न्यूनता से या भूल से जीव-हत्या या जीव-विराधना हो जाय तो इस सूत्र के द्वारा प्रतिक्रमण करना चाहिए। छोटी-से-छोटी जीवविराधना को भी दुष्कृत समझना और तदर्थ अप्रसन्न होना यह इस सूत्र का प्रधान स्वर है।

प्रस्तुत सूत्र को हम तीन विभाग में विभाजित कर सकते हैं।

१. गमनागमन की क्रिया करते समय हुई जीव हिंसा की क्षमापना।

२. एकेन्द्रिय से पंचेन्द्रिय पर्यन्त जीवों की रक्षा की भावना।

३. सामान्य तौर पर जो क्रियाएँ अहिंसक दिखाई देती हो किन्तु अंतगोगत्वा उससे जीवहिंसा या जीवों की पीड़ा होती हो वैसी १० क्रियाओं का त्याग करना। और अपने दुष्कृत की क्षमापना। इसके द्वारा जीवरक्षा के प्रति जागरुकता बढती है।

टीका ग्रन्थों में तो इरियावहिया सूत्र की विवेचना करते हुए जीवहिंसा की सम्भावना के १८२४१२० प्रकार किए है। जो इस प्रकार है। जीवों के ५६३ भेद जीवविचार आदि ग्रन्थों में बताए है। उनकी विराधना उक्त दस प्रकार से होती है। उसका कारण राग और द्वेष द्वारा तीन करण से करना, कराना, अनुमोदन करना, तीन योग के द्वारा (मन, वचन, काया के द्वारा) तीनों काल में (भूत, वर्तमान और भविष्य में) अरिहन्त, सिद्ध, साधु, देव, गुरु, और आत्मा ये छह की साक्षी से गुणन करने पर क्रमशः ५६३×१०×२×३×३×३×६=१८२४१२० भेद होते है। इस प्रकार अहिंसा के भाव को प्रगट करने हेतु और हिंसा के भावों का ह्रास करने के लिए सूक्ष्मातिसूक्ष्म वर्णन किया गया है।

आवश्यक सूत्र के अन्तर्गत प्रस्तुत सूत्र नमस्कार महामन्त्र के बाद सर्वाधिक प्रचलित सूत्र है। कोई भी धार्मिक क्रिया करने से पूर्व प्रस्तुत सूत्र का पाठ आवश्यक माना गया है। आज श्वेताम्बर परम्परा में नमस्कार मन्त्र के बाद प्रस्तुत सूत्र रटाया जाता है और उसके अर्थ का विवेचन समझाया जाता है। जिससे प्रत्येक आत्मार्थी साधक एवं गृहस्थ के मन में अहिंसा के संस्कार पनपने लगते हैं।

जैन दर्शन में जीवहिंसा के विषय में विस्तृत विवेचन प्राप्त होता है। शास्त्रीय ग्रन्थों में द्रव्यहिंसा और भावहिंसा का विधान है। उसी द्रव्यहिंसा का स्पष्ट स्वरूप हमें प्रस्तुत सूत्र में प्राप्त होता है। केवल प्राण व्ययरोपण हि हिंसा नहीं है किन्तु पीड़ा पहुँचाना, दुःख पहुँचाना भी हिंसा है। ऐसी क्रिया के द्वारा जीवों का वध होता है। प्रस्तुत सूत्र में विशेष रूप से १० क्रियाओं का

विधान किया है। जो क्रियाएँ आज प्रदूषण और पर्यावरण के असंतुलन में निमित्त मानी जाती है उसीका निषेध किया गया है। जैसे कुए के जल को तालाब के जल में डालना, शुद्ध जल में प्रदूषित जल का संमिश्रण करना, एक जीव को एक प्रदेश से उठाकर दूसरे प्रदेश में छोड़ देना, ठंडे प्रदेश के जीवों को गरम प्रदेश में या गरम प्रदेश के जीवों को ठंडे प्रदेश में छोड़ना, किसी जीव को डराना, भयभीत कर देना आदि आदि। ऐसी क्रियाएँ त्याज्य मानी गई है।

प्रस्तुत सूत्र के प्रभाव से जैन धर्म में विलक्षण अहिंसक प्रवृत्तिओं का प्रचार हुआ है जो अन्यत्र अनुपलब्ध है। उसके कुछ दृष्टान्त रोचक एवं ज्ञातव्य होने से यहाँ प्रस्तुत कर रहा हूँ।

१. कोई भी धार्मिक अनुष्ठान में जीवदया की अलग से टीप होती है अर्थात् धनराशि एकत्र की जाती है। जिसका उपयोग जीवों की सुरक्षा हेतु किया जाता है।

२. गुजरात, राजस्थान, महाराष्ट्र एवं मध्यप्रदेश में कुछ प्रदेश के प्रायः सभी गाँवों में पांजरापोल अर्थात् पशुसुरक्षा केन्द्र है जिसमें वृद्ध, अशक्त, बीमार एवं अनाथ पशुओं की सुरक्षा की जाती है। जिसमें खाना, पीना, दवा आदि का समावेश होता है। उस में सभी जीवों का सम्पूर्ण भाव से पालन-पोषण किया जाता है। जिस की सारी व्यवस्था जैनीओं के द्वारा की जाती है।

३. गेहूं, चावल, दाल आदि धान्यों की शुद्धि करते हुए उस में से निकले हुए कीड़ों, जीवों को एकत्रित करके जीवातघर अर्थात् जन्तुघर में छोड़ देते थे वहाँ उसको उचित आहार दिया जाता था ऐसा जीवात घर पाटन में आज भी मौजूद है। पूर्वकाल में अहमदाबाद आदि शहरों में ऐसे स्थल होते थे। यह प्रवृत्ति वर्तमान काल में मन्द हो चूकी है।

४. जिनमंदिर और उपाश्रय-स्थानक आदि के निर्माण में सम्पूर्ण सावधानी बर्ती जाती है। न केवल पीने में ही लाए हुए पानी का प्रयोग होता है किन्तु भवन निर्माण में भी छाने हुए पानी का प्रयोग होता है।

५. वर्तमान में भी बच्चे पटाके न फोड़ने और पतंग न उड़ाने के नियम लेते है। प्रस्तुत क्रियाओं से जीवों को पीड़ा होती है और भयभीत हो जाते है। अतः ऐसी कियाएँ त्याज्य मानी गई है।

६. पर्युषण आदि पर्व के दिनों में कत्लखाने सम्पूर्ण बन्द रखवाते हैं।

७. सामान्यतः सभी जैन घरों में पूजनी (छोटा मुलायम झाडु) रखी जाती है। सुबह गैस-चूल्हा जलाने से पूर्व इससे साफ किया जाता है जिस से छोटे जीवों की रक्षा हो सके।

८. पंखीओं को दाना डालना। पानी की व्यवस्था करना आदि-आदि।

इस प्रकार सामाजिक अहिंसा के दृष्टान्त देखे जाते हैं। इस में प्रस्तुत इरियावहिया सूत्र का सर्वाधिक प्रभाव है। ऐसा मेरा मंतव्य है। वर्तमान में पर्यावरण की सुरक्षा के लिए प्रस्तुत सूत्र सर्वाधिक उपयुक्त सूत्र है।

Shreshthi Kasturbhai Lalbhai Smarak Nidhi
C/o. Sharadaben Chimanbhai Educational Research Centre,
303, Balleshwar Square,
Opp. Iscone Mandir, Sarkhej-Gandhinagar Highway,
Ahmedabad-380 015 (Gujarat State) INDIA